ADITI 1950 G.K.V.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079467

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

अदिति

२६५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्ष ८ अंक १ फरवरी १९५०

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

079467

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १।)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३।। शिलिंग वार्षिक १२।। शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

उनतीसवीं कला

श्री माताजी के जन्म-दिन के अवसर पर

२१ फरवरी १९५० के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष्य में

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* सूचना *

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें, विचारें और अपने अंदर रमने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखायी देने लगते हैं। यह चमत्कारक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
40—50—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अदिति, फरवरी १९५०

ठीक जांच . . . .
आवाहन . . . . श्री सुमित्रानंदन पंत . . . ५
मातृवचनामृत– . . . .
नए वर्ष की प्रार्थना ७
प्रार्थना व ध्यान ८
भविष्य की ओर ९
श्रीअरविन्द-वाणी– . . . .
विशेष वचन–अतिमानस का अवतरण निश्चित २१
कुछ एक विशेष पत्र २२
अतिमानस और दिव्य जीवन २५
विविध– . . . .
आलोक के पथ पर . . . . श्री नलिनीकांत गुप्त . . ३३
तब और अब . . . . श्री लीलावती . . . ३५
सहिष्णुता तुम्हारा आदर्शमंत्र हो . . . . श्री माताजी का एक प्रवचन ३६
एक अमेरिकन प्रोफेसर की श्रद्धांजलि ४०
सद्हृदयता . . . . श्री माताजी . . . ४१
नौका-गान . . . . श्री लीलावती . . . ४२
यह योग मेरे पति बेशक करें . . . . . डा. इन्द्रसेन . . . ४३
श्रीअरविंद निकेतन, देहली में विश्वशांतिवादियों . श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर . . ४६
का स्वागत . . . .
समन्वयात्मक विचारधारा . . . . . श्री विद्याधर शास्त्री . . ४९
कविता-कुंज– . . . .
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा . श्री कुंजविहारी . . . ५०
हे ज्योतिर्मय ! . . . . श्री राजबहादुर "विकल" . ५
यात्रारंभ . . . . श्री रघुवीरशरण . . . १२
एक गीत . . . . श्री "विनोद" . . . ५
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)– . . . . डा. इन्द्रसेन . . . .
सक्रिय नीरवता अथवा नीरव सक्रियता ५३
भारतीय प्रजातंत्र ५५
श्रीअरविन्द-साहित्य ५९
नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं ६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

सच्चा प्रेम और आत्मदान, किसी कष्टसाध्य तपस्या की अपेक्षा बहुत अधिक शीघ्रता से भगवान् तक ले जाते हैं।

*

चैत्य केंद्र की चेतना में निवास करो; ऐसा करने पर तुम्हारी इच्छा एकमात्र भगवान् की इच्छा को ही प्रकट करेगी और तुम्हारी रूपांतरित सत्ता भगवत्प्रेम को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने में समर्थ होगी।

*

अचंचलता और शांति के अंदर ही कोई यह जान सकता है कि उसके लिये करणीय सबसे अच्छी बात क्या है।

*

एकमात्र बाहरी परिस्थितियां ही ऐसी चीजों से अस्तव्यस्त हो सकती हैं। तुम अपनी इन परिस्थितियों से पीछे हटने की कोशिश करो और अपने भीतर की शांति को प्राप्त करो। वह शांति बराबर ही इन सब चीजों से अलग–अछूती रहती है ।

*

भागवत चेतना तुम्हें रूपांतरित करने के लिये कार्य कर रही है; तुम्हें उसकी ओर अपने आपको खोलना होगा जिससे वह खुले तौर पर तुम्हारे अंदर कार्य कर सके।

*

अपने शरीर में एक महत्तर शांति और स्थिरता को स्थापित करो; ऐसा करने से तुम्हें बीमारी के आक्रमणों का सामना करने के लिये शक्ति प्राप्त होगी।

*

अपनी अभीप्सा पर दृढ़ बने रहो और वह पूरी होकर ही रहेगी।

*

भय मत करो, तुम्हारी सच्चाई तुम्हारी रक्षिका है।

*

सच्चे भाव के साथ किया हुआ कर्म ध्यान ही है।

*

कर्म के विषय में बहुत परेशान मत होओ; तुम जितनी ही अधिक अचंचलता और शांति के साथ इसे करोगे उतना ही अधिक वह फलदायक होगा।

*

तुमसे मेरा कहना है: तुम संताप में रस लेना बंद करो, संताप तुम्हें बिल्कुल छोड़ देगा। संताप उन्नति के लिये कभी भी अनिवार्य नहीं। स्थिर तथा प्रसन्नतापूर्ण समता द्वारा ही अधिकतम विकास साधित किया जा सकता है।

*

यदि स्थिति अप्रिय भी हो तो भी चिंता करने से वह सुधर नहीं जाती। धीर विश्वास ही से शक्ति उपलब्ध होती है।

—श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक जांच

खेल-प्रतियोगिताओं की एक बहुत बड़ी समस्या है पंच-फैसले की न्यायपरता।

विरोध और विवाद को दूर रखने के उद्देश्य से, जो कि नहीं तो अनिवार्य होते, यह सभी के लिये एकबारगी तै कर दिया गया है कि प्रतियोगियों को बिना बहस किये पंचों के फैसले स्वीकार करने होंगे। इससे खिलाड़ियों की तरफ की समस्या तो हल हो जाती है, परंतु पंचों की तरफ की नहीं। क्योंकि पंच जितने अधिक सच्चे होंगे, जितना उनपर अधिक भरोसा किया जायगा, उतनी ही अधिक उन्हें अपने फैसलों को पूर्णतया ठीक बनाने की चिंता होनी चाहिये। प्रत्यक्ष ही, मैं यहां उन अवस्थाओं को बिल्कुल भी विचार में नहीं ले रही जिनके विषय में निर्णय, क्या पता राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से, पहले से ही बना लिये जाते हैं। यह दुर्भाग्य से होता बहुत बार है, यद्यपि सभी मानते हैं कि यह धोखा है तथा मानवता से गिरी हुई चीज है।

सामान्यतः जब निर्णय गंभीर विशेषज्ञता तथा पर्याप्त निष्पक्षता पर आधारित होते हैं, तब हम उन्हें पूर्णतया संतोषप्रद मानते हैं। ये निर्णय ऐसे इन्द्रियबोधनों पर स्थित होते हैं जिन्हें सब अप्रतिवाद्य स्वीकार करते हैं। परंतु, प्रत्यक्ष ही, यह बोधनशैली अपने आप में निश्चयात्मक नहीं, क्योंकि इंद्रियां प्रयोग करनेवाले व्यक्ति की मानसिक दशा के साक्षात् प्रभाव के अधीन होती हैं और इस प्रकार ऐन्द्रियक बोधन उसकी अनुभूत वस्तु के प्रति रुचि-अरुचि से, कम अथवा अधिक, परिवर्तित, मिथ्याकृत तथा विकृत हो जाते हैं।

दृष्टांत के लिये, वे पंच जो किसी दल या संगठन से संबंध रखते हैं वे उस समुदाय के सदस्यों के प्रति या तो अति नरम हो जाते हैं या फिर बहुत ज्यादा सख्त। सत्य की दृष्टि से नरमी या सख्ती दोनों बराबर हैं, क्योंकि दोनों में निर्णय मानसिक भाव पर आधारित होते हैं न कि वस्तुस्थिति के निरपेक्ष तथा विषयगत अवबोधनों पर। खैर, यह तो एक अति प्रत्यक्ष अवस्था ठहरी। इस अति-अवस्था को छोड़कर सामान्यतः कोई मनुष्य भी तो, जब तक कि वह योगी ही न हो, ऐसे राग-द्वेष से मुक्त नहीं होता, उसकी सक्रिय चेतना इन्हें देखती भी कम ही है, परंतु इन्द्रियों की क्रिया पर इनका प्रभाव सदा ही बहुत बड़ा रहता है।

केवल वे ही, जो सब प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल भाव, सब इच्छाओं तथा सब अनुरागों से ऊपर उठ चुके हैं, वस्तुओं को पूर्ण निरपेक्षता से ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। उनके लिये इन्द्रियां एक अत्यंत सूक्ष्म तथा पूर्ण यंत्र के समान हो जाती हैं, जिनकी क्रिया शुद्ध रूप में विषयगत हो जाती है तथा जिन्हें एक सजग चेतना की विशदता का लाभ और प्राप्त हो जाता है।

यहां भी यौगिक साधना से हमें सहायता मिल सकती है।* इससे उस उत्कृष्ट कोटि के चरित्र निर्माण किये जा सकते हैं, जो सत्य के यंत्र बन सकते हैं।

—श्री माताजी

---

*यहां संकेत इससे पहले के लेख 'अक्षय शक्ति' का है, जिसमें खिलाड़ी योग द्वारा कैसे अक्षुण्ण शक्ति प्राप्त कर सकता है बतलाया गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवाहन

मातृशक्ति, फिर उतरो निज प्रच्छन्न व्योम से
अवचनीय आलोक स्रोत सी, निज किरणों से
रेखा-स्मित कर शुभ्र चेतना के शिखरों को
उनकी शुचि अध्यात्म उच्चता को निखार कर!
मानव मन की गूढ़ गह्नतम धूप-छांह मय
तलहटियों में पैठो विस्तृत शांत विभा सी,
निज सुर सन्निधि के पावन स्वर्णिम प्रकाश से
उनकी स्वप्न-प्रतीक्षा को नव चेतन करने!
ज्योति प्रीतिमय, उमड़ो नव आनंद ज्वार सी
नित्य अधिक आनंद राशि में बहने प्रतिपल,
शोभा की अगणित उठती बढ़ती लहरों में
दिक् चुंबी क्रीड़ा कर, निज स्वर्गिक कलरव से
जीवन को संगीत मुखर कर दो भू पथ पर!
आओ, मां सच्चिदानंदमयि, अमर स्पर्श से
झंकृत कर दो अंतरतम के रहस सत्य को
उरतंत्री के मूक अचेतन तारों में जो
सोया है निःशब्द तुम्हारी स्मृति सा लिपटा!
शोभा अति शोभा में खिलकर सूक्ष्म सूक्ष्मतम
मोहित कर दे नयनों को: उर का अतृप्त सुख
सौ सौ आनंदों में होकर स्वतः प्रस्फुटित
सृजनशील हो उठे: अमिट प्राणों की तृष्णा
व्यापक ऊर्ध्वग बन परिणत हो दिव्य शांति में:
ज्ञान सहज चेतना ज्योति में विकसित होकर
रजत मुकुर बन जाय सत्य का: मानस का बल
परिवर्त्तित हो अमित तुम्हारी तपःशक्ति में!
जगज्जननि, निश्चल प्रतीति से हो नित प्रेरित
प्रीति प्रीति के लिये प्रीति बन पद-पद्मों की
मज्जित कर दे मुझे परम हर्षातिरेक में,–
अक्षय वर बन उतरो मां, मानस शतदल पर!

–सुमित्रानंदन पंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

मातृवचनामृत–

नए वर्ष की प्रार्थना

1950

Pas de paroles: des actes.
Pas de proclamations: des faits.

1950

Don't speak. Act.
Don't announce. Realise.

१९५०

बात नहीं, कर्म।
घोषणा नहीं, उपलब्धि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रार्थना व ध्यान

हर क्षण ही, तेरे प्रति कैसा कृतज्ञता का गीत गाने की इच्छा करती है। तू सभी जगह तथा मेरे आगे पीछे सभी वस्तुओं में ही तो प्रकट हो रहा है। मेरे अंदर तेरी चेतना और इच्छा अधिकाधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हो रही है, यहां तक कि यह मेरा 'मैं' और 'मेरे' का स्थूल भ्रम लगभग पूरे का पूरा नष्ट हो गया है। तेरी इस अभिव्यक्ति के महत् प्रकाश में जो कुछ परछाइयां तथा दोष अभी दिखाई पड़ रहे हैं वे तेरे अनुपम प्रेम के अद्भुत प्रकाश में कब अधिक देर टिक सकेंगे। आज प्रातः मुझे एक चेतना प्राप्त हुई जब कि मैंने, तू जो इस मेरी 'मैं' पर क्रिया कर रहा है, उसे जाना। यह एक नियमित तथा ज्यामिति की पूर्ण आकृतियों में कटे हुए बृहत् हीरे की तरह थी। यह इस हीरे के समान थी अपने संगठित स्वरूप में, दृढ़ता में, दोषरहित निर्मलता में तथा पारदर्शकता में, परंतु अपने प्रगाढ़ तथा प्रगतिशील जीवन-तत्त्व में यह थी एक प्रदीप्त तथा ज्वलंत ज्वाला के समान। परंतु यह चेतना थी इस सबसे अधिक तथा श्रेष्ठ, क्योंकि यह हर प्रकार के बाह्य तथा आंतरिक संवेदनों से परे की अवस्था थी और यह मेरे सम्मुख ऐसे हीरे की प्रतिमूर्त्ति के रूप में तब आई जब कि मैं पुनः बाह्य जगत् के साथ सजगतः संपर्क में आई।

तू ही तो अनुभव को सृजनशील बनाता है, जीवन को प्रगतिशील करता है, अपने प्रकाश द्वारा अंधकार को एक क्षण में छिन्न-भिन्न कर देता है, प्रेम को ऐसा अद्वितीय बल प्रदान करता है और तू ही तो जड़तत्त्व में व्यापकतया यह अद्भुत और उत्कट अभीप्सा तथा नित्यता के लिये यह पवित्र पिपासा जाग्रत् करता है।

तू ही है सब वस्तुओं में तथा सदैव काल के लिये। तेरे सिवा और कुछ नहीं, साररूप विश्व-सत्ता में तथा संपूर्ण जागतिक अभिव्यक्ति में...

ओ अंधकार, ओ भ्रम, दूर हटो। ओ दुःख, भाग जा। यहां परिपूर्ण भगवान् जो उपस्थित हैं!

२६ नवम्बर, १९१२ —श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भविष्य की ओर

(श्री माताजी कृत एकांकी)

पात्र

श्रीमती (कवि की पत्नी)
कवि
पारदर्शिनी
चित्रकार
बचपन की सखी

गुरुकुल-पत्रिका. गुरुकुल कांगड़ी

(पर्दा उठता है। श्रीमती और उसकी बचपन की सखी सोफे पर पास पास बैठी हुई हैं।)

श्रीमती– तू कितनी अच्छी है, जो मुझे मिलने आ गई। इतने दिनों बाद ... मैं समझी थी, तू मुझे भूल गई है।

सखी– कभी नहीं। तू कहां है, मुझे कुछ पता ही न था। मैं जानती ही न थी कि तुझे कहां मिलूं। और अब तुझे पाकर कितना आश्चर्य होता है! तू ... तू और विवाहित ... कैसी विचित्र बात! मुझे विश्वास ही नहीं होता।

श्रीमती– मुझे स्वयं आश्चर्य होता है!

सखी– मैं समझती हूं! ... तू विवाह को "उपभोग और उत्पादन का सहोद्योग" कहकर किस प्रकार व्यंग्य करती थी, मुझे याद है। और कैसी विरक्ति होती थी तुझे उनसे जो मनुष्य होकर पाशविक जीवन बिताते हैं–मनुष्यरूपी पशु होते हैं।
तू किस भावभंगी से कहा करती थी, हमें जानवर नहीं बन जाना चाहिये।

श्रीमती– हां, मुझे सदैव ही चलतू विचारों और सामाजिक रूढ़ियों का उपहास उड़ाने में मजा आता था। पर तू यह तो मानेगी कि मैंने सच्चे प्रेम के विरुद्ध कभी कुछ नहीं कहा, ऐसे प्रेम के विरुद्ध जो गंभीर आकर्षण से पैदा होता है और जिसमें विचारों तथा उद्देश्यों का साम्य रहता है। मैंने सदैव ही एक महान् प्रेम का स्वप्न देखा है, ऐसे प्रेम का जो पशु-प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त होगा तथा किसी हद तक इस भौतिक स्तर पर उस प्रेम को उपस्थित करेगा जो जगत्-मात्र का आधार है। यही स्वप्न मेरे विवाह का कारण बना। परंतु यह प्रयोग विशेष सफल नहीं रहा। मैंने सच्चे हृदय से, अत्यंत प्रगाढ़ प्रेम किया, परंतु मेरे प्रेम को वह प्रत्युत्तर नहीं मिला जिसकी आशा थी। ...

सखी– बेचारी ...

श्रीमती– ना, मैंने तुम्हारी सहानुभूति या दया प्राप्त करने के लिये यह नहीं कहा। सहानु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूति और दया की मैं पात्र भी नहीं हूं। मेरा स्वप्न जैसा कि यह जगत् है इसमें वास्तव में चरितार्थ ही नहीं हो सकता। इसके संभव होने के लिये तो मानव स्वभाव को बहुत ही बदलना होगा।

वैसे, मैं और मेरे पति, एक दूसरे के बहुत अच्छे मित्र हैं। फिर भी हम अपने को अलग अलग अनुभव करते हैं–अपने अपने रास्ते पर! परस्पर के सम्मान तथा सुविधाओं के कारण कुछ ऐसा सामंजस्य आ गया है कि जीवन सह्य ही नहीं बल्कि सुखदायक भी हो गया है।

पर क्या यह जीवन का आनंद है?

सखी–बहुतों के लिये तो यही सौभाग्य है।

श्रीमती–यह ठीक है। पर कभी कभी मुझे अपना जीवन बिलकुल ही सूना लगता है। संभव है इसी सूनेपन को भरने के लिये मैंने अपना तन-मन उस अद्‌भुत आदर्श को समर्पित कर दिया है जो मुझे इतना प्रिय है। वह आदर्श है वास्तव में, दुःखी मानव को सुखी बनाना, उसे अपने सच्चे उद्देश्य और सामर्थ्य के विषय में सजग करना, तथा उसके अंतिम रूपांतर के लिये प्रयत्नशील रहना।

सखी–मैं देखती हूं कि कोई महान् असाधारण तत्व तेरे जीवन को संचालित कर रहा है। पर क्योंकि मैं उसे जानती नहीं, वह मुझे सचमुच रहस्यपूर्ण प्रतीत होता है।

श्रीमती–निश्चय ही मुझे उसे तुम्हें समझाना होगा, विस्तारपूर्वक बतलाना होगा और उसमें समय लगेगा। अगर मैं तेरे घर आ जाऊं तो कैसा रहेगा?

सखी–क्या कहने, इससे अच्छा और क्या हो सकता है! अच्छा फिर कब? आज ही न? क्यों?

श्रीमती–हां, अवश्य आज ही। मुझे सदैव उस अद्‌भुत ज्ञान की चर्चा करने में बड़ा आनंद मिलता है जो हमारे जीवन का पथ-प्रदर्शन तथा हमारे कर्तृत्व को दिशा प्रदान करता है। इस समय मुझे घर की कुछ संवार-सम्भाल करनी है, जिससे मेरे पतिदेव को सैर से लौटने पर सब कुछ व्यवस्थित मिले। जब वे अपने काम में लग जायंगे तब मैं बाहर निकल सकूंगी और तुझसे मिलने चली आऊंगी।

सखी–बहुत ठीक। अच्छा, तो जल्दी ही भेंट होगी।

(श्रीमती स्क्रीन के पीछे दरवाजे तक सखी को पहुंचाने जाती है। लिखने की मेज के पास लौटकर उसपर कागज, पुस्तकें तथा लेखनसंबंधी अन्य आवश्यक चीजें सजाकर फूलदान में कुछ फूल लगाकर मेज पर रखती है। फिर चारों ओर एक दृष्टि दौड़ाकर देखती है कि सब ठीक ठीक तो है। इसी क्षण ताले में चाबी के घुमाने की आवाज सुनाई पड़ती है।)

श्रीमती–अहा, आ गये! (कवि प्रवेश करते हैं। देवी प्रेमपूर्ण स्वागत-भाव में उनकी ओर बढ़ते हुए) सैर तो खूब अच्छी रही?

कवि–(अन्तर्व्यस्त सा) हां, धन्यवाद। (अपनी टोपी कुरसी पर रखकर) मुझे अपनी कविता का अंतिम भाग सूझ गया। घूमते हुए वह मन में आ गया। निश्चय ही, खुली हवा में थोड़ा चलने-फिरने से प्रेरणा को सहायता मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हां, मैं सोचता हूं यह इस तरह बहुत अच्छा रहेगा। कविता का अंतम भाग हो विजय-गीत, सिद्धि का संगीत, अथवा आत्मस्थ भावी मानव का यशोगान, ऐसे मानव का जिसे अपने सच्चे आधार का भान होगा और जिसमें अपनी शक्यताओं को विकसित एवं चरितार्थ करने की शक्ति होगी। ऐसा मानव एकत्व के आनंदमय वैभव में पृथ्वीतल पर अमरत्व प्राप्त करेगा। यह होगा मेरा निरूपण।... खूब सुन्दर रहेगा, यह भाव है भी यथार्थ रूप में व्यापक। है कि नहीं?

अब समय आ गया है कि कला असुन्दरता तथा पराजय का कृत्रिम श्रृंगार मात्र न रहे,......वह दिन कैसे आनंद का होगा जब चित्रकला, काव्य और संगीत केवल सौन्दर्य, पूर्णत्व और आनंद को ही अभिव्यक्त करेंगे तथा भावी चरितार्थता का मार्ग खोल देंगे और उस नए जगत् के प्रकट होने का उपक्रम बनेंगे जहां फिर असत्य, दुःख, असौन्दर्य तथा मरण नहीं रहेंगे...

परंतु अभी मनुष्य कैसा पीड़ित है, दरिद्रता, दुःख, चिंता से, और प्रेम तथा सहानुभूति के विकट अभाव से! कैसी घोर अवस्था है यह! हर एक पर अपना अपना बोझ है, जिसे हर हालत में उसे, चाहे-अनचाहे ढोना पड़ रहा है, (वह अपने इन्हीं विचारों में डूबा रहता है।)

श्रीमती– (प्रेम की भाव-भंगी में कवि के निकट आकर तथा उसकी बांह पर अपना हाथ टेककर) अच्छा, अब अपने काम में लग जाइये। आप जानते ही हैं कि काम उदासी के लिये सबसे अच्छा उपाय है। अब आप और आपकी अन्तःप्रेरणा।

मैंने अपनी एक सखी को तीसरे पहर आने का वचन दिया है, उसके साथ उस अद्भुत ज्ञान की चर्चा करने के लिये जो हमारे जीवन का पथ-प्रदर्शन करता है। निःसंदेह हम मिलकर उन पृष्ठों को पढ़ेंगी जो इस सत्य से परिपूर्ण होंगे। इस प्रकार के सब विषयों पर विचार करना हम दोनों को बहुत पसंद है। यह अधिकांश मनुष्यों की धारणा के बिल्कुल विपरीत है न? वे समझते हैं कि स्त्रियां केवल कपड़े, गहने, फैशन आदि पर ही बात करने में चतुर होती हैं। यह कुछ गलत भी नहीं। अधिकांश स्त्रियां, कम से कम प्रत्यक्ष व्यवहार में, बेहद छिछोरी और ओछी होती हैं। पर उनके इस ऊपरी हलकेपन के पीछे एक काफी भारी हृदय छुपा रहता है। यह हलकापन, वास्तव में, आन्तरिक असंतोष के लिये परदे का काम देता है। ये बेचारी स्त्रियां! इनपर कितनी दया आती है।

कवि– तुम ठीक कहती हो, स्त्रियों पर बराबर दया आती है। लगभग सब ही आवश्यक संरक्षण और सहायता से वंचित होती हैं। वे उस कमजोर नाव की तरह हैं जिसके पास तूफान के समय आश्रय के लिये कोई बंदरगाह भी नहीं। वास्तव में बहुतों को वह शिक्षा ही प्राप्त नहीं हुई जो उन्हें अपनी रक्षा आप करना सिखाती।

श्रीमती– यह ठीक है। वैसे जो विशेष सशक्त हैं उनकी भी यही दशा है। वास्तव में, स्त्री के अंदर रक्षा और प्रेम की गंभीर मांग होती है, एक ऐसी सर्वसमर्थ शक्ति की जो उसके अनुकूल हो और अपने सुखद माधुर्य से उसे चारों ओर से घेरे हो। इसी को स्त्री प्रेम में खोजती है और जब वह सौभाग्य से इसे पा लेती है तब यही जीवन में उसे विश्वास प्रदान करती है और उसके सामने सब आशाओं के द्वार खोल देती है। इसके बिना जीवन उसके लिये एक बंजर मरुभूमि बन जाता है जो हृदय को जला और सुखा देती है।

कवि– अहा! कितनी सुन्दरता से तुमने यह सब कहा है। मानों तुम्हें इसका अत्यंत गंभीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव हो। मैं यह अपनी अगली पुस्तक के लिये नोट कर लेता हूं जिसका, वास्तव में, विषय होगा स्त्रियों के लिये योग्य शिक्षा। अच्छा, अब मैं अपना काम शुरू करता हूं।

श्रीमती–ठीक ! मैं जाती हूं। (वह एक पुस्तक लेती है और चली जाती है।)

(कवि–मेज पर अच्छी तरह बैठकर देखता है कि उसके काम के लिये सब कुछ तैयार रखा हुआ है।)

कवि–सदा वही भद्र और प्रेमभाव ! सदा वही देख-रेख, वही मधुरता और कोमलता ! कभी नागा नहीं, कभी भूल नहीं। जब मैं उसकी ओर देखता हूं तो मुझे एक प्रकाश दिखाई देता है। उससे इतनी बुद्धिमत्ता और सद्भावना चारों ओर विकीर्ण होती दिखाई देती है कि वह फैलकर उन सबको ओतप्रोत कर लेती है जो उसके साथ हैं और जिन्हें वह बृहत्तर ज्ञान की ओर ले जा रही है। मैं उसका आदर करता हूं, मेरे दिल में उसके लिये गंभीर सम्मान है...परंतु यह सब प्रेम तो नहीं। ओह प्रेम...! कैसा है यह स्वप्न ! क्या यह कभी वास्तविक भी बनेगा ?

(अपूर्व स्वर में गाया हुआ एक गीत सुनाई पड़ता है। कवि जोश में उठकर खड़ा होता है और खुली खिड़की के पास चला जाता है।)

कैसा विलक्षण स्वर है !

(वह चुपचाप सुनता रहता है जब तक कि राग विलीन नहीं हो जाता। फिर आह भरता है और मेज पर लौटने को है कि इतने में दरवाजे पर खटखटाने का शब्द होता है।)

कौन खटखटा रहा है ?

(वह दरवाजा खोलता है, चित्रकार प्रवेश करता है।)

कवि–अच्छा, तुम हो ! अभिवादन, मेरे पुराने मित्र। कैसी शुभ प्रेरणा तुम्हें इधर ले आई !

चित्रकार–मुझे तुमसे कुछ बातें करनी थीं और मुझे तुम्हारी स्त्री से पता लगा कि तुम अपने मंदिर में बैठे हो, बस, फिर चला आया !

कवि–तुमने बहुत ठीक किया। आओ फिर, प्रवेश करो उस तथोक्त मंदिर में और कहो, क्या बात है ? मुझे प्रतीक्षा में मत रखो। क्या यह चित्रकला से संबंध रखती है ?

चित्रकार–ना, चित्रकला तो ठीक चल रही है। उसके बारे में फिर कभी ! इस समय तो कुछ संगीत की बात है। (कवि चौकन्ना हो जाता है)। कल एक मित्र-मंडली में मैंने एक सच्ची कलाकर्त्री को गाते सुना, जो शायद तुम्हारी पड़ोसिन है। (कवि मुद्रा द्वारा अपना आश्चर्य और चाव अभिव्यक्त करता है) क्या तुम उसे जानते हो ?

कवि–ना, पर मैंने उसे इधर गाते सुना है। उसकी आवाज बेहद सुरीली है, ऐसी आवाज जो मेरे रोएं रोएं को झंकृत कर देती है। पहली ही बार जब मैंने इसे सुना, यह मुझे परिचित लगी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानों किसी चिरंतन काल की प्रतिध्वनि हो। लगभग छः महीने से मैं इसे सुन रहा हूं और यह मेरे काम के लिये प्रिय और अनुकूल भूमिका तथा सहचारिका बनी हुई है। बहुत बार इच्छा हुई है कि इस गायिका महिला का, जिसका गला इतना बढ़िया है, परिचय प्राप्त करूं।

चित्रकार–कैसा मेल बैठा। लो, कल शाम ही इस गायिका युवती से मिलने का अवसर हुआ और वह मुझे अत्यंत भद्र लगी। हमारी बहुत देर तक बातचीत हुई और बीच में उसने तुम्हारे काव्य के लिये बड़ा संमान प्रदर्शित किया, जिसे शायद उसने बड़े चाव से पढ़ा है। उसने मुझसे यह भी कहा कि वह जीवन में बिल्कुल अकेली है, उसे सिवाय अपने और कोई सहारा नहीं और कई बार उसे जीवन-निर्वाह की कठिनाइयों का सुलझाना कठिन हो जाता है, आदि आदि। वह कनसर्टों में गाने का स्वप्न देखती है। इससे मुझे तुरंत तुम्हारा तथा तुम्हारे संबंधों का ध्यान आया। दूसरों की सहायता करने में तुम मशहूर हो ही। मैंने उससे कहा कि मैं तुमसे बात करूंगा तथा तुम्हें उसे कुछ प्रसिद्ध गायकों और गीतकारों से परिचित कराने के लिये कहूंगा। बस इसी लिये आया हूं।

कवि–बहुत ठीक। मैं अत्यंत प्रसन्नता से उसके लिये सब कुछ करने को तैयार हूं। अच्छा, तो तुम दोनों ने मिलकर क्या तजवीज बनाई है।

चित्रकार–बस यही सोचा था कि अगर तुम सहमत हुए तो मैं तुरंत उसे बुला लाऊंगा–वह बहुत दूर तो रहती नहीं–उसे यहां ले आऊंगा जिससे तुम एक दूसरे को जान लो।

कवि–बिल्कुल ठीक। जाओ, फिर उसे ले आओ। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता हूं। (चित्रकार जाता है)

कवि–(तेजी से इधर-उधर टहलते हुए) विचित्र, बिल्कुल विचित्र...आखिर अकारण तो कोई घटना होती नहीं। जो भी घटना घटित होती है उसके कुछ कारण होते हैं, वे कारण भले ही हमारे अधिकार और ज्ञान से बाहर हों। ...गुप्त आकर्षण से भी बहुत कुछ होता है। क्या पता...। मुझे जानने का बड़ा कुतूहल है कि क्या वह यंत्र भी उतना ही सुन्दर है जितनी कि उसकी आवाज है। लो आ गये वे। (दरवाजा जो केवल भिड़ा हुआ था, बाहर से दबाने से ही खुल जाता है)। अहा! वह कितनी सुन्दर है!

(गायिका, जो पारदर्शिनी भी है, मुस्कराते हुए, चित्रकार के पीछे पीछे प्रवेश करती है)

चित्रकार–कुमारी, ये मेरे वे प्रसिद्ध कवि मित्र हैं जिनकी कृतियां तुम्हें इतनी पसंद हैं।

कवि–कुमारी, तुम्हारा परिचय पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हूं और तुमसे यह कहने में खुशी होती है कि तुम्हारी यह सुन्दर आवाज, जिसे तुम ऐसे कलापूर्ण ढंग से उपयोग में लाती हो, मुझे बेहद पसंद है।

पारदर्शिनी–आप कितने कृपालु हैं, श्रीमन्, मैं कृतज्ञ हूं। आप क्षमा करेंगे, मैं व्यवहार की मर्यादा की परवा न करते हुए यूं ही चली आई, परंतु हम इतने पास के पड़ोसी भी तो हैं! मैं आपको पहले से ही जानती हूं। मैंने देखा है कि आप मेरा गाना सुनने के लिये बहुत बार खिड़की पर आकर खड़े हो गये हैं। शुरू शुरू में तो जब आपने मेरे गाने पर प्रोत्साहन दिया तो मैं प्रसन्न नहीं हुई। मैं समझी आप मेरी हंसी उड़ा रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि– कैसा भ्रामक संस्कार था ! मेरा अभिप्राय तो केवल आपके प्रति आदर तथा आपने अपनी कला से मुझे जो आनंद दिया उसके प्रति कृतज्ञता भर प्रकट करने का था।

चित्रकार– मेरा काम अब पूरा हो गया, मैं चलता हूं। मुझे एक चित्रों के व्यापारी से मिलना है। कैसा धूर्त्त है वह ! वह मुझे बेढंगे काम करने को मजबूर करता है। कहता है, समय की रुचि ही ऐसी है। . . . परंतु मैं प्रतिरोध करता हूं।

कवि– जरूर ! प्रतिरोध करो, वीरतापूर्वक प्रतिरोध करो। आधुनिक रुचि का इस प्रकार अधःपतन नहीं होने देना चाहिये। आज हम असत्य में पड़ गये हैं और यह प्रवृत्ति हमारे समकालीनों की चेतना में व्याप्त हो रही है तथा मानवी व्यवहार के सभी क्षेत्रों में फैल रही है।

चित्रकार– ठीक कहा तुमने, मेरे मित्र ! मैं जाता हूं, नए उत्साह से सत्य के लिये संघर्ष करने। अच्छा, फिर मिलेंगे।

कवि और पारदर्शिनी– अच्छा, तब तक के लिये विदा।

कवि–(सोफे की ओर संकेत करते हुए) बैठिये, कुमारी, बैठिये।

पारदर्शिनी–(बैठती हुई) सो आप मुझे कुछ लोगों से मिला सकेंगे और मेरे गानों के लिये कुछ आयोजन कर सकेंगे ?

कवि– अवश्य ही। आरकेस्ट्रा का एक सर्वोच्च अधिकारी मेरा मित्र है और फिर तुम जैसी प्रतिभाशालिनी के लिये तो सब दरवाजे सहज ही खुल जायंगे।

पारदर्शिनी– आप मेरा इतना उपकार करेंगे, मैं कृतज्ञ हूं।

कवि– ना ना, मेरे प्रति कृतज्ञ होने की आवश्यकता नहीं। (वह आकर उसके पास बैठ जाता है) तुम्हें पता नहीं तुमने मुझे कितनी आनंद की घड़ियां दी हैं . . . तुम्हें यह भी पता नहीं कि तुम्हारे स्निग्ध सुरीले गीतों ने मेरे दैनिक कार्य के लिये कैसा प्रिय प्रसंग प्रदान किया है, वास्तव में मैं ऋणी हूं तुम्हारा इन उपयोगी और सुन्दर घड़ियों के लिये। कृतज्ञ होना चाहिये मुझे, न कि तुम्हें।

पारदर्शिनी– यह आपकी भद्रता है। (वह चारों ओर देखती है, फिर कवि की ओर मुड़कर मुस्कराते हुए) विचित्र बात है, यहां मुझे सब परिचित सा प्रतीत होता है। इतनी ये वस्तुएं नहीं जितना कि इनके चारों तरफ का वातावरण। मेरी अभद्रता क्षमा कीजियेगा, परंतु मैं यहां अपने घर का सा अनुभव करती हूं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं सदा से यहीं रह रही हूं और अब मुझे सब सुख प्राप्त हो जायगा।

कवि– मुझे इससे अतीव आनंद होता है।

पारदर्शिनी– (थोड़ा चुप रहकर) आपसे एक विचित्र बात कहूं। छः महीने हुए जब मैं अपनी मां की मृत्यु के बाद आजीविका की आशा से इस नगर में बसने आई तो मेरे सामने सुविधा असुविधाजनक अनेक छोटे छोटे घर थे। यह जो मैंने अब किराये पर ले रखा है दूसरों से अच्छा नहीं था। परंतु इसे लेने के लिये मैं एक प्रकार की भीतरी प्रेरणा से प्रभावित हुई। मुझे अनुभव हुआ कि यहां मुझे आनंद मिलेगा तथा यहां कुछ शुभ घटनाएं मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं . . . है नहीं यह विचित्र ?

कवि– (गंभीर सोच में) विचित्र, अत्यंत विचित्र . . . (अलग, एक और मुड़कर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतरी आकर्षण है? . . . शायद! (पारदर्शिनी से) और देखो, यह भी विचित्र है, जब से मैं रोज तुम्हारी आवाज सुनता हूं मैं भी अधिक शांत और संतुष्ट अनुभव करता हूं और मुझे तुमसे मिलने की प्रबल इच्छा थी।

पारदर्शिनी– और इधर मैं, मैं आपको एक प्रतिभाशाली कवि के रूप में ही जानती थी। आपके लिये अत्यंत आदर अनुभव करती थी, परंतु मिलने की कभी आशा नहीं कर सकती थी। जीवन में ऐसी असाधारण और रहस्यपूर्ण बातें घटित हो जाती हैं . . . रहस्यपूर्ण शायद इसलिये कि हम उनके कारणों से अनभिज्ञ होते हैं, नहीं तो सब कुछ सरल और स्वाभाविक प्रतीत होना चाहिये। और देखिये, मैं भी इस क्षण सुख और शांति का संवेदन अनुभव करती हूं और सर्वथा विश्वस्त प्रतीत करती हूं। मुझे आश्रय और प्रोत्साहन की कितनी आवश्यकता है, आप शायद नहीं जानते . . . एक अनाथ बालिका का जीवन बड़ा कठिन होता है। उसे सहायता नहीं, संरक्षण नहीं, अपनी आजीविका भी स्वयं कमानी होती है और संघर्ष में प्रोत्साहन के लिये उसके पास कोई व्यक्ति नहीं। परंतु अब आपसे मिलकर मैं अनुभव करती हूं कि मेरे सब दुःख दूर हो जायंगे।

कवि– विश्वास रखो, मैं तुम्हें यथाशक्ति सहायता दूंगा। यह तो मेरा कर्त्तव्य है और बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम जैसी कलाकर्त्री तथा महिला के लिये मनुष्य कुछ कर सके।

पारदर्शिनी– (बड़ी स्वाभाविक विधि से कवि का हाथ अपने हाथों में पकड़कर) धन्यवाद! ऐसा प्रतीत होता है हम सदा से इस प्रकार बैठे हुए हैं, बिल्कुल एक दूसरे के समीप और यह भी कि हम मित्र हैं, पुराने मित्र . . . क्यों, क्या हम मित्र नहीं हैं?

कवि– (गंभीरता से) हां, अंतरंग मित्र।

पारदर्शिनी– मैं यहां ऐसा घर का सा अनुभव करती हूं कि शिष्ट व्यवहार की सब मर्यादाएं भूल गई हूं और देखो मेरी अशिष्टता की पराकाष्ठा, मुझे जोर की नींद आने लगी है। घर पर मुझे अरसे से कम नींद आती है। मैं अशांत अनुभव करती हूं। ऐसा प्रतीत होता है मानों अदृश्य शत्रु, हानि पहुंचाने के आशय से, मुझे ताक रहे हैं। मैं अपने अंदर वह शांति संपादित कर ही नहीं पाती जिससे मुझे कुछ हितकर विश्राम मिल सके। इसके विपरीत, यहां मैं अनुभव करती हूं कि कोई स्निग्ध तथा शक्तिशाली चीज मुझे चारों तरफ से एक जीवित झोले की तरह ढके हुए है और धीरे धीरे नींद अत्यंत जोर पकड़ती जा रही है . . .

कवि– (उसे प्रेमपूर्वक निहारते हुए) गद्दे पर पांव फैला लो, खूब सुख से, और कोई शंका मत करो। शिष्टता तथा लोक-मर्यादा की तो रत्तीभर भी परवा न करो। ये निरर्थक बेड़ियां हैं जिन्हें मनुष्य ने व्यर्थ में दुःखी होने के लिये गढ़ा है।

पारदर्शिनी– मुझे नींद की अत्यंत आवश्यकता है। मुझे लगातार सिरदर्द रहता है जिससे बड़ा कष्ट होता है। मैंने एक काम को जल्दी से जल्दी पूरा करने के लिये इस कदर परिश्रम किया है कि मेरा मस्तिष्क बहुत ही थक गया है।

कवि– (उत्सुकता से) आज्ञा हो तो . . . मैं सुगमता से तुम्हारा यह कष्ट दूर कर सकता हूं। (वह उसके माथे पर कई बार हाथ फेरता है, फिर एक क्षण के लिये हाथ सिर पर रख देता है। पारदर्शिनी जो गद्दे पर लेटी हुई है सो जाती है और उसके मुख पर प्रसन्नता और सुख का भाव नाच उठता है।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारदर्शिनी–(आधी सोई हुई) अब ठीक है, दुःख नहीं ... कितना सुख है।

कवि– (जो अब सोफे पर जरा खसककर उसके समीप अच्छी तरह बैठ जाता है और उसका हाथ अपने हाथ में पकड़कर – अपने आप से ही) बेचारी लड़की! कितनी अच्छी है और कैसी निःसहाय ...

पारदर्शिनी– (निद्रावस्था में बोलती है) अहा, कितना सुन्दर!

कवि– (मधुर भाव में) क्या है सुन्दर?

पारदर्शिनी– (सोये हुए ही) वह आपके चारों ओर, जामुनी प्रकाश ... यह जैसे एक पिरोजे की तरह सजीव और जाज्वल्यमान है ... यह मेरे भी चारों ओर व्याप रहा है, यही मुझे शक्ति दे रहा है ... यह रक्षा है, स्थिर रक्षा ... अब कोई भी अशुभ चीज मेरे निकट नहीं आ सकती। (आनंदातिरेक में) कितना सुन्दर है यह जामुनी प्रकाश! यह जो आपके चारों ओर है।

कवि– यदि तुम सुख अनुभव कर रही हो तो निश्चिन्त होकर सो जाओ, बिना कुछ देखे-वेखे।

पारदर्शिनी– (मानों दूर से आवाज आती है) मैं सो रही हूं, मैं सो रही हूं। अहा! कैसी शांति है, कैसा सुख!

कवि– (उसे अत्यंत कोमल भाव में देखते हुए) अरी बच्ची, तू सो जा, ऐसी नींद सो जो तुझे नया और ताजा बना दे। जीवन तेरे लिये कठोर रहा है और विश्राम की तुझे बड़ी आवश्यकता है। (जरा चुप रहकर) मुझे अपने आपको धोखा देने से क्या लाभ? मुझे स्वीकार करना होगा कि जैसे इसकी आवाज़ ने मेरे तंतु तंतु को झंकृत किया वैसे ही इसकी उपस्थिति मुझे शांत और गंभीर सुख दे रही है। और अब यह मेरे आश्रित होकर सो रही है, अपनी पहली चेतन निद्रा का आनंद ले रही है। इसका यह भरोसा ही मेरे लिये एक दायित्व पैदा कर देता है, ऐसा दायित्व जो मेरे लिये बड़ा मधुर होगा पर ...पर 'वह' जिससे मेरा विवाह हुआ है? मैं जानता हूं कि वह बड़ी दृढ़ और वीर है। मैं यह भी जानता हूं कि बहुत समय से उसने अनुभव कर रखा है कि मेरा उसके लिये प्रेम केवल एक मित्र का सा है ... वह, निश्चय ही, इससे संतुष्ट नहीं हो सकती। उसके अन्तस्तल के वास्तविक प्रेम को अभिव्यक्त होने का तो अवसर ही नहीं मिला। उसके प्रति भी तो मेरा कर्तव्य है। उससे कैसे कहूं कि मेरा सारा अस्तित्व अब एक और पर केंद्रित हो रहा है? पर मैं यह छुपाऊंगा नहीं; झूठ ही तो एकमात्र दोष है। और फिर यह निरर्थक भी होगा, मैं छुपा सकूंगा भी नहीं। उसके समान नारी को कोई धोखा नहीं दे सकता। अह, जीवन कितना क्रूर है!

पारदर्शिनी– (सोते सोते ही वह जरा एक तरफ घूमकर अपना हाथ कवि के हाथों में रख देती है।) मैं अत्यंत सुखी हूं ... अत्यंत सुखी ... (उसी अवस्था में, बालसुलभ विश्वास के साथ, एक झटके में, वह अपना सिर कवि की गोदी में रख देती है।)

कवि– प्यारी बच्ची, क्या करूं? (वह देर तक उसकी ओर देखता रहता है और अपने विचारों में डूबा रहता है। पारदर्शिनी एक आह भरती है, अंगड़ाई लेती है और जाग उठती है।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारदर्शिनी– (कुछ आश्चर्य के साथ चारों ओर देखते हुए) मैं सो गई थी . . . मैं कितना अच्छा सोई, कभी जीवनभर ऐसा नहीं सोई।

कवि– मुझे बेहद प्रसन्नता है।

पारदर्शिनी– (उसे प्रेमपूर्वक निहारते हुए) देखिये, यह प्रकाश जो आपके चारों ओर है और आपसे मेरी ओर आ रहा है, यह रक्षा भी है तथा पोषण भी। मैंने इसे इतना सुन्दर और सुखदायी अनुभव किया! अब जागने के बाद भी मैं इसे अपने चारों तरफ महसूस करती हूं।

कवि–हां, यह अभी तक तुम्हारे चारों तरफ है। क्या तुमने पहली ही बार रंजित प्रकाश देखा है।

पारदर्शिनी– मैंने कुछ व्यक्तियों के इर्द-गिर्द कभी रंजित प्रकाश और कभी रंजित कुहासा देखा है। पर मैंने तुम्हारे जैसा सुन्दर प्रकाश कभी नहीं देखा और न मैंने कोई अन्य प्रकाश ही अपने लिये आन्तरिक रूप से ऐसा सहानुभूतिपूर्ण पाया है। दूसरों के इर्द-गिर्द यह प्रायः गंदले और अहितकर कुहरे की तरह होता है। अच्छा, यह क्या होता है?

कवि– साफ साफ बतलाने के लिये तो उत्तर जरा लंबा होना चाहिये। परंतु मैं थोड़े ही शब्दों में समझाने का भरसक प्रयत्न करूंगा। तुम मुझे रोक देना जब मैं भारी लगने लगूं। हमारा अस्तित्व अनेक तत्त्वों का बना हुआ है, जैसे पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि। समझीं?

पारदर्शिनी– मैं ध्यान से सुन रही हूं।

कवि– इनमेंसे जो कम स्थूल हैं वे अधिक स्थूल में प्रवेश पा सकते हैं और उनमें व्याप्त हो सकते हैं, जैसे जल मिट्टी के बर्तन से छनकर वाष्प के रूप में उड़ जाता है। भेद इतना ही है कि उनमें परिणाम में कोई क्षति नहीं होती। इसी प्रकार हमारे अंदर का सूक्ष्म तत्त्व भी शरीर में से होकर उसके चारों ओर एक घेरा-सा बना लेता है और इसी सूक्ष्म घेरे को हम परिबिंब कहते हैं।

पारदर्शिनी– मैं समझ गई, बिल्कुल साफ है। पर तब तो इन परिबिंबों को यूं देखना-जांचना बड़ा उपयोगी हो सकता है, क्यों?

कवि– तुम्हारा अनुमान ठीक है। अवश्य ही, यह अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। परिबिंबों को देखने-जांचने से तुम्हें पता चलेगा कि ये हमारे अन्तर के, हमारे भावों और विचारों के, यथावत् प्रतिरूप होते हैं। यदि हमारे विचार और भाव संतुलित और शांत हैं तो परिबिंब भी संतुलित और शांत होंगे। यदि भाव उद्वेगपूर्ण और विचार अशांत हैं तो परिबिंब भी उद्वेग और अशांति प्रदर्शित करेंगे। वे उस कुहरे की तरह होंगे जिसे तुमने कइयों के इर्द-गिर्द देखा है।

पारदर्शिनी– मैं समझ गई। तब तो परिबिंब भीतरी भाव के अभिव्यंजक होते हैं।

कवि– वास्तव में, जो इन घेरों को देख सकते हैं वे फिर धोखा नहीं खाते, क्योंकि कोई दुष्ट मनुष्य जब अपने को देवता-तुल्य दिखाने का प्रयत्न करेगा तो वह सब व्यर्थ होगा। उसका परिबिंब प्रकट कर देगा कि उसके विचार और आशय काले और कुटिल हैं।

पारदर्शिनी– (प्रशंसा-भाव में) अद्‌भुत बात है! इस ज्ञान से संसार में कैसे परिवर्तन आ सकते हैं। पर आपने यह अद्‌भुत ज्ञान सीखा कहां से? मैं नहीं सोच सकती कि यह बहुतों को प्राप्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि– नहीं, विशेषकर इस आधुनिक समय में और हमारे जैसे युग में नहीं, जब कि भौतिक सफलता और इससे प्राप्त होनेवाले भोग ही सब कुछ माने जाते हैं। फिर भी, इस अवस्था से असंतुष्ट व्यक्ति, नित्य अधिकाधिक संख्या में, जीवन के मूलभूत कारण तथा उद्देश्य जानने में प्रवृत्त हो रहे हैं। इनके अलावा कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें ज्ञान प्राप्त है और जो पीड़ित मानवता को सहायता देने में यत्नशील हैं। ये हैं रक्षक और अभिभावक उस परम ज्ञान के, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चला आता है और हर नई पीढ़ी के लिये आत्म-विकास की उपयुक्त साधनशैली निर्धारित करता है जिनसे मनुष्य अपने में आत्म-भाव और आत्म-शक्ति जाग्रत् कर सके।

पारदर्शिनी– यह ज्ञान कैसा सुन्दर होगा ! आप कृपा करके मुझे भी थोड़ा थोड़ा बतलाइयेगा। हम फिर भी मिलेंगे न ? मैं कितना चाहती हूं कि हम एक दूसरे से अलग हों ही नहीं ...जब मैं सोई हुई थी तब मैंने अनुभव किया कि आप मेरे हैं और मैं निश्चित रूप से आपकी हूं। मैंने यह भी अनुभव किया कि आगे, सदा के लिये, आपकी परिरक्षा मुझे प्राप्त रहेगी। फिर जहां पहले मैं भयभीत रहा करती थी, कितने ही शत्रुओं से आतंकित होती थी, अब मैं निश्चित, शांत तथा विश्वस्त अनुभव करती हूं। पहले जो मेरा अहित चाहते थे उन सबसे मैं अब कह सकती हूं कि मुझे अब कुछ भय नहीं, मैं अब ऐसी रक्षा से परिवेष्टित हूं जो कभी चूक नहीं सकती। मैंने ठीक कहा है न ? क्यों ?

कवि– हां, हां, बिल्कुल ठीक कहा है।

पारदर्शिनी– मैं इतनी प्रसन्न हूं; अंत में आप मुझे मिल गये। मैंने आपकी बहुत समय से प्रतीक्षा की है। और आप, आप भी तो प्रसन्न हैं ?

कवि– हां ... जब तक तुम सोई रहीं तब तक लगातार मैंने ऐसी शांति और अविचल सुख का अनुभव किया जैसा पहले कभी नहीं किया था ...(विचारमग्न) हां, सच्चा प्रेम अवश्य एक शक्ति है, मिलन पर ही सब संभावनाएं चरितार्थ हो पाती हैं...पर...

पारदर्शिनी– पर क्या ? जब हम आपस में मिलकर इतने प्रसन्न हैं, तो हमें रोकनेवाली कौन चीज हो सकती है...?

कवि– (झटके से खड़ा होता हुआ) अह, तुम नहीं जानतीं। (श्रीमती को देखकर, जो कुछ समय से स्क्रीन के अंधेरे में खड़ी थी, एकदम रुक जाता है) ओह !

(श्रीमती अत्यंत शांत, मुस्कराते हुए आगे बढ़ती है।)

पारदर्शिनी– मुझे पता नहीं था कि आप विवाहित हैं !

श्रीमती– (पारदर्शिनी से) आशंकित होने की जरूरत नहीं, ...(कवि की ओर मुड़कर) आपको भी नहीं। मैंने आप दोनों के वार्तालाप का अंतिम भाग, सारा ही, सुना है। मैं उस समय लौटी थी जब कि कुमारी जागने को थी। मैं विघ्न नहीं डालना चाहती थी और वापिस जाने को थी पर मुझे ख्याल आया कि शायद यह सबके लिये अच्छा होगा कि मैं वार्तालाप सुन लूं। मैं फिर यहीं ठहरी रही। निश्चय ही, मेरे मित्र, आप अपने आपको बड़े झंझट में पाते। मैं आपकी व्यवहार-सत्यता तथा प्रेम-संलग्नता को जानते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझती थी कि आप अपने आपको दो विरोधी लक्ष्यों के कारण तीव्र संकट में अनुभव करेंगे। आप जानते हैं, उस शिक्षा के अनुसार, जो हमारे लिये सत्य-ज्ञान है, केवल प्रेम ही उचित संबंध का आधार हो सकता है। प्रेम के अभाव में सभी संबंध अपनी सार्थकता खो बैठते हैं। अवश्य, कुछ प्रेमरहित संबंध भी पारस्परिक सम्मान और सुविधाओं पर स्थित होने से, काफी सह्य हो जाते हैं। परंतु मैं समझती हूं कि जब प्रेम का जन्म हो जाय तब अन्य किसी चीज को बीच में विघ्न नहीं डालना चाहिये। आपको हमारे आपस के समझौते याद ही हैं। हमने वादा कर रखा है कि जब किसी में प्रेम का उदय हो जाय, तो दूसरा उसे स्वतंत्र कर दे। इसी लिये मैंने यह वार्तालाप सुना और अब मैं आपसे कहती हूं आप स्वतंत्र हैं, आनंद से रहिये।

कवि–(अत्यंत प्रभावित सा) परंतु तुम! तुम? यह तो मैं जानता हूं कि तुम सदा चेतना के शिखर पर, पवित्र तथा सौम्य प्रकाश में, निवास करती हो, परंतु फिर भी एकाकी जीवन बहुत बार असह्य हो जाता है और समय भारी तथा उदास प्रतीत होता है।

श्रीमती– ना, मैं जीवन में ऐसी एकाकी नहीं अनुभव करूंगी। मैं उनके पास चली जाऊंगी जिनकी कृपा से हमें अपना मार्ग मिला था। उनके पास, जिन्हें अमर ज्ञान प्राप्त है और जिन्होंने अब तक हमारा पथ-प्रदर्शन किया है। निश्चय ही, वे मुझे आश्रय देंगे। (वह पारदर्शिनी की ओर मुड़ती है और उसका हाथ पकड़कर) आओ शंका मत करो। सच्ची और सजग नारियों को यह अधिकार है कि वे जीवन में अपने रक्षक और पथ-प्रदर्शक को स्वतंत्रतापूर्वक चुन सकें। तुमने इस प्राकृतिक नियम के अनुसार ही व्यवहार किया है और यह सब बहुत ठीक हुआ है। हमारे दृष्टिकोण तथा व्यवहार के ढंग से शायद तुम्हें आश्चर्य होता है। ये तुम्हारे लिये नए हैं और तुम इनके कारण नहीं जानतीं। (कवि की ओर इंगित करके) ये तुम्हें समझा देंगे। मैं अब जाती हूं परंतु जाने से पहले मैं स्वयं तुम दोनों का संबंध करा देना चाहती हूं। (पारदर्शिनी का हाथ कवि के हाथ में पकड़ाकर) प्रेम के आशीर्वाद के बराबर दूसरा कोई आशीर्वाद नहीं होता, फिर भी मैं अपना इसमें जोड़े देती हूं। मैं जानती हूं, यह आप दोनों को प्रिय होगा। और यदि आप कहें तो इस अवसर पर मैं एक परामर्श अथवा प्रार्थना करूं। वह यह कि आप अपने संबंध को पाशविक प्रवृत्तियों तथा इन्द्रियों की तुष्टि का बहाना मत बनने दें अपितु इसे अनवरत अभीप्सा तथा पुरुषार्थ द्वारा अपने आप पर विजय पाने तथा पूर्णत्व-प्राप्ति का साधन बनायं। मैं चाहती हूं कि आप दोनों का संबंध एकदम उच्च तथा उदार हो, उच्च चेतना के स्तर में और उदार कर्म में। आप संसार में, सद्भाववाले सब स्त्री-पुरुषों के सामने, मानवजीवन के सच्चे आदर्श का दृष्टांत उपस्थित करें।

पारदर्शिनी–(अत्यंत प्रभावित होकर) विश्वास रखिये, श्रीमतीजी, आपको जो हमसे आशा है उसे पूरा करने के लिये तथा आपके आदर के योग्य बनने के लिये हम भरसक यत्न करेंगे। परंतु मैं आपके मुख से यह सुनने की उत्सुक हूं कि मेरा इस घर में आना तथा उसके बाद जो हुआ वे आपके लिये निरुपाय दुर्भाग्य तो नहीं सिद्ध होंगे।

श्रीमती–तुम चिंता न करो। मुझे अब निश्चयपूर्वक पता लग गया है कि केवल एक ही प्रेम मुझे संतुष्ट कर सकता है और वह है भगवान् के लिये प्रेम, भागवत प्रेम। केवल वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी धोखा नहीं देता। और शायद एक दिन उस परम उपलब्धि, उस रूपांतर, भौतिक जीवन के दिव्यीकरण के लिये मुझे वे शुभ उपकरण तथा आवश्यक सहयोग भी प्राप्त हो जायंगे जो इस मर्त्यलोक को प्रकाश, शांति, सौंदर्य तथा सामंजस्य का देवलोक बना देंगे।

(पारदर्शिनी अधिकाधिक प्रभावित प्रतीत होती है। मौन खड़ी हुई है, हाथ जुड़े हुए हैं, मानों प्रार्थना कर रही है। कवि श्रीमती की ओर आदर-भाव में झुकता है, उनका हाथ पकड़कर माथे से लगा लेता है। इतने में परदा गिर जाता है।)

(मूल फ्रेंच से इन्द्रसेन द्वारा अनूदित। अनुवाद की भाषा को कविवर श्री सुमित्रानन्दन पंत ने अनेक जगह सुधारा है जिसके लिये हम उनके अनुगृहीत हैं। —सं०)

प्रणाम

देखा था जिसको जीर्ण शीर्ण,
बन गया तुम्हारा दिव्य धाम,
मां, लो तुमको शतशः प्रणाम।

मैं भटक रहा था इधर उधर,
मिल गया तुम्हारा यहीं राम,
मां, लो तुमको शतशः प्रणाम।

जो कितना भूखा प्यासा था,
कर दिया उसे तुमने अकाम,
मां, लो तुमको शतशः प्रणाम।

हैं टूट गये बंधन सारे,
अब नहीं यहां है सुबह शाम,
मां, लो तुमको शतशः प्रणाम।

—पथिक

तेरी कलाप्रियता

ओ मां! तेरी दृष्टि में कुरूपता कांटे की तरह चुभती है। इसी लिये मैंने तुझे अपना जीर्ण शीर्ण खंडहर दिखा दिया है। और मां, क्या मैं भी उसे देख सकता हूं कि कैसे तू उसे विशाल भवन में परिणत कर रही है।

—पथिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-वाणी--

विशेष वचन

अतिमानस का अवतरण निश्चित

जगत् की बुरी दशा के बारे में मैं पहले ही कह चुका हूं। इस संबंध में गुह्यवेत्ताओं का साधारण विचार यह है कि दशा जितनी अधिक बुरी होती है, ऊपर से दिव्य हस्तक्षेप का होना या नवीन प्रकाश का आना उतना ही अधिक संभव होता है। साधारण मन को इस बात का पता नहीं चल सकता--उसके लिये तो केवल यही चारा है कि वह इस बात पर विश्वास कर ले या विश्वास न करे अथवा प्रतीक्षा करे और देखे।

यह जो प्रश्न है कि क्या भगवान् सचमुच ही चाहते हैं कि ऐसा कुछ घटित हो, इस बारे में मेरा विश्वास है कि हां उन्हें यही अभिमत है। मुझे पूर्ण निश्चित रूप से विदित है कि अतिमानस एक सत्य है और, जगत् की वस्तुस्थिति को देखते हुए, उसका आविर्भाव अवश्यंभावी है। प्रश्न तो केवल कब और कैसे का है। वह भी कहीं ऊपर से निर्णीत तथा पूर्वनियत है; परंतु उसकी प्राप्ति के लिये यहां विरोधी शक्तियों के कुछ उग्र संघर्ष का सामना करते हुए युद्ध किया जा रहा है। क्योंकि पार्थिव जगत् में पूर्वनिर्धारित फल छिपा हुआ है और जो कुछ हम देखते हैं वह तो संभावनाओं तथा शक्तियों का भंवर है जो संभावनाएं एवं शक्तियां किसी चीज की संसिद्धि के लिये यत्न करती हैं जब कि इस सबका भावी फल मनुष्य की दृष्टि से ओझल ही रहता है। तो भी इतना निश्चित है कि कुछ एक आत्माएं यह देखने के लिये भेजी गई हैं कि यह अब अवश्य सिद्ध हो। यही है यथार्थ स्थिति। मेरी श्रद्धा और संकल्प इसी ओर हैं कि यह अभी सिद्ध हो। स्वभावतः ही, यह सब जो मैं कह रहा हूं वह मानवीय बुद्धि के धरातल पर ही या, कोई इसे यूं कह सकता है कि, गुह्यतार्किक ढंग से ही कह रहा हूं। इससे अधिक कहना इस सीमा को पार करना होगा। मेरे ख्याल में तुम नहीं चाहते कि मैं भविष्यवाणी करना शुरू कर दूं! तर्कवादी होने के कारण तुम ऐसा चाह भी नहीं सकते।

२८. १२. १९३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ एक विशेष पत्र

योग सुगम नहीं : कोई कर्म भी तुच्छ नहीं :

जो कठिनाइयां मेरे सामने आई हैं

मैं नहीं कह सकता कि मैं तुम्हारी शंकाओं का तर्क-वितर्क भली-भांति समझता हूं। एक उदार एवं निःस्वार्थ मित्र के दुःख भोगने से यह कैसे सिद्ध होता है कि योग से कुछ आशा नहीं? संसार में दुःखमय दृश्यों की भरमार है; पर आखिरकार योग करने की आवश्यकता का यही तो असली कारण है। यदि जगत् सारे का सारा सुखमय, सुन्दर एवं आदर्श ही होता तो भला कौन इसे बदलना चाहता या पार्थिव मन तथा जड़तत्त्व में उच्चतर चेतना उतारने की आवश्यकता अनुभव करता? तुम्हारी दूसरी युक्ति यह है कि योग-साधन कठिन वस्तु है, सुगम नहीं, यह लक्ष्य की ओर सुखकर सरपट गति नहीं। निःसंदेह बात ऐसी ही है और इसका कारण है संसार तथा मानव प्रकृति का स्वरूप और स्वभाव। मैंने कभी नहीं कहा कि योग-साधना सुगम है या कि इस पुरुषार्थ के पथ में दुर्लंघ्य कठिनाइयां हैं ही नहीं। और फिर, मेरे प्रतिदिन दस घण्टे "तुच्छ" पत्र लिखते रहने से नई जाति का निर्माण होने के बारे में तुमने जो बात कही है उसे मैं नहीं समझ पाया हूं। ऐसी बात सचमुच ही नहीं है—यहां तक कि महत्त्वपूर्ण पत्र लिखने से भी ऐसा नहीं हो सकता; यदि मैं बढ़िया कविताएं लिखने में अपना समय लगाऊं तो उससे भी नई जाति का निर्माण नहीं होगा। प्रत्येक काम अपने अपने स्थान में आवश्यक है—विद्युत्कण वा अणु-परमाणु स्वतः छोटी सी चीजें हो सकते हैं, पर अपने अपने स्थान में वे संसार की रचना के लिये अनिवार्य हैं, यह केवल पहाड़ों तथा सूर्यास्तों एवं रजोवलय (Aurora borealis) या उत्तरध्रुवीय प्रकाश की क्षितिज-रश्मियों से ही नहीं बन सकता—चाहे इनका भी वहां अपना स्थान है। सब कुछ निर्भर तो इस बात पर है कि इन चीजों के पीछे किस शक्ति का हाथ है तथा इनकी क्रिया का प्रयोजन क्या है—और इस संसार में जिस विश्वात्मा की क्रिया चल रही है उसे यह सब मालूम ही है; मैं यह भी कह दूं कि वह विश्वात्मा या मन मानवीय मानदण्डों के अनुसार नहीं बल्कि इनसे अधिक महान् चेतना से कार्य करता है जो चेतना विद्युत्कण को लेकर पूरा संसार बना सकती है तथा नाड़ियों की एक विशेष ग्रंथि का प्रयोग कर उन्हें यहां जड़ के भीतर मन एवं आत्मा के कार्यों का आधार बना सकती है, एक रामकृष्ण, एक नेपोलियन या एक शेक्सपीयर पैदा कर सकती है। भला एक महान् कवि का जीवन भी क्या केवल उज्ज्वल एवं महत्त्वपूर्ण चीजों से ही बना होता है? "किंग लिअर (King Lear)" या "हैमलेट (Hamlet)" की रचना कर सकने के पूर्व रचयिता को कितनी ही क्षुद्र कृतियों में व्यस्त रहना तथा उन्हें पूरा करना पड़ा? और, तुम्हारी अपनी ही तर्कणा के अनुसार, क्या लोग छन्द, मात्रानिर्णय तथा पदांश के उच्चारण के नाना ढंगों के बारे में तुम्हारे कोलाहल का—वे इसे कोलाहल ही कहेंगे, मैं तो ऐसा नहीं कहता—मजाक उड़ाने में युक्ति-संगत नहीं ठहरेंगे? शायद वे कहेंगे कि क्यों वह ऐसी तुच्छ गद्यात्मक चीजों में अपना समय गंवा रहा है जब कि वह यही समय सुन्दर गीतिकाव्य या उत्कृष्ट संगीत की रचना में लगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता था ? परंतु जो सामग्री लेकर कर्ता को काम करना होता है उसका उसे ज्ञान होता है तथा उसका वह मान करता है और उसे यह भी पता होता है कि क्यों वह "तुच्छ बातों" एवं छोटी मोटी ब्योरे की बातों में संलग्न है और उसके प्रयत्न की पूर्णता में उनका क्या स्थान है।

जहां तक श्रद्धा का प्रश्न है, तुमने ऐसा लिखा है मानों मुझे कभी कोई संदेह या कोई कठिनाई हुई ही न हो। जैसी बुरी शंकाएं एवं कठिनाइयां मेरे सामने आई हैं, मानव मन उनकी कल्पना भी नहीं कर सकता। यह बात नहीं कि मैंने कठिनाइयों की परवा नहीं की है बल्कि असली बात यह है कि मेरे समकालीन या मुझसे पूर्ववर्ती किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा मैंने उन्हें अधिक साफ साफ देखा है तथा बड़े परिमाण में अनुभव किया है और इस प्रकार उनका सामना करने तथा उनकी थाह ले लेने के कारण मुझे अपने काम की सफलता पर पूर्ण विश्वास हो गया है। पर, यदि मुझे तब भी यह संभावना दिखती कि यह निष्फल होगा (जो असंभव है) तो भी, मैं विचलित हुए बिना बढ़ा चलता, कारण जो काम मुझे करना था उसे मैं यथाशक्ति कर डालता और इस प्रकार जो कुछ किया जाता है वह विश्व के सामंजस्य एवं संविधान में सदा ही महत्त्व रखता है। परंतु मैं ऐसा अनुभव ही क्यों करूं कि यह सब कहीं व्यर्थ ही न जाय जब कि मुझे एक एक कदम साफ साफ दीख रहा है तथा यह भी दीख रहा है कि वह किधर ले जा रहा है और प्रत्येक सप्ताह, प्रत्येक दिन—कभी यह प्रत्येक वर्ष और मास था और आगे यह प्रत्येक दिन तथा घड़ी हो जायगा—मुझे मेरे लक्ष्य के इतना और निकट ले आ रहा है ? ऊर्ध्वस्थित महत्तर प्रकाश की सहायता से जब कोई अपने पथ पर चलता चला जाता है तो, प्रत्येक कठिनाई भी सहायता पहुंचाती है तथा कुछ महत्त्व रखती है और स्वयं निशा भी अपने भीतर उदयोन्मुख उषा का गर्भ वहन करती है।

हमें किन किन विघ्न-बाधाओं को जीतना पड़ा है ?

जहां तक माताजी का और स्वयं मेरा संबंध है, हमें सभी मार्गों का परीक्षण करना, सभी विधियों का अनुसरण करना, कठिनाइयों के पहाड़ों को पार करना, तुम्हारी अपेक्षा या आश्रम के वा बाहर के और किसी व्यक्ति की अपेक्षा अति गुरुतर भार वहन करना, कहीं अधिक विकट परिस्थितियों तथा युद्धों का सामना करना, दुःख-कष्ट झेलना, अथाह दलदल, मरुस्थल और जंगल को चीरकर रास्ता बनाना और शत्रुओं के दलों को जीतना पड़ा है—एक ऐसा काम करना पड़ा है जो, निःसंदेह, हमसे पूर्व और किसी को भी नहीं करना पड़ा। कारण, ऐसे पुरुषार्थ में, जैसा कि हमारा है, मार्गनायक का काम केवल इतना ही नहीं कि वह भगवान् को अवतरित, प्रतिरूपित एवं मूर्त्तिमंत करे, वरन् यह भी कि वह मानवता के आरोहणकारी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करे, मानवजाति का भार पूरा पूरा वहन करे और केवल लीला में ही नहीं बल्कि रौद्र गंभीर भाव में उस समस्त बाधा, कठिनाई तथा विरोध का, और पराजित, कुण्ठित तथा केवल शनैः शनैः विजयशील प्रयत्न का अनुभव करे जो बाधा आदि कि इस मार्ग में संभव है—परंतु यह आवश्यक नहीं और न ही यह वांछनीय है कि यह सब कुछ दूसरों के अनुभव में भी नए सिरे से पूरे का पूरा दुहराया जाय। क्योंकि हमें पूर्ण अनुभव है अतएव हम दूसरों को बहुत सीधा और सरल मार्ग दिखा सकते हैं—यदि वे केवल इसका अवलंबन करना स्वीकार करें। बड़े भारी मूल्य में प्राप्त निज अनुभव के आधार पर ही हम तुमसे तथा दूसरों से बलपूर्वक अनुरोध कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं, "आन्तरात्मिक वृत्ति धारण करो; सरल प्रकाशमय पथ का अनुसरण करो, जिसमें भगवान् तुम्हें स्पष्ट और गुप्त रूप से आश्रय देते रहेंगे–अभी चाहे वे गुप्त रूप में ही आश्रय दें पर वे यथासमय अपने को प्रकाशित भी करेंगे,–कठिन, कण्टकाकीर्ण, वक्र, विषम पथ पर अड़े नहीं रहो।"

माताजी का अपने बच्चों के लिये प्रेम

तुम माताजी के बच्चे हो और माताजी का अपने बच्चों के लिये जो प्रेम है उसकी कोई सीमा नहीं, वे अपने बच्चों की प्रकृति के दोष धैर्यपूर्वक सहन करती हैं। माताजी के सुपुत्र होने का यत्न करो: माताजी तुम्हारे अंदर विराजमान हैं, पर तुम्हारा बाह्य मन छोटी छोटी व्यर्थ की चीजों में ग्रस्त है और बहुधा उनके बारे में जबर्दस्त रौला मचाता है। तुम्हें माताजी को केवल स्वप्न में ही नहीं देखना चाहिये अपितु उन्हें सब समय अपने साथ तथा अपने भीतर देखना और अनुभव करना सीखना चाहिये। तब तुम्हें अपने को वश में करना तथा बदलना अधिक आसान मालूम होगा,–क्योंकि वे वहां उपस्थित होने के कारण तुम्हारे लिये यह सब कुछ कर सकेंगी।

माताजी की सहायता

माताजी की सहायता उन सबके लिये सदा ही विद्यमान है जो उसे प्राप्त करने के इच्छुक हैं। परंतु तुम्हें अपनी प्राणिक प्रकृति के प्रति सजग रहना होगा, और प्राणिक प्रकृति को अपने परिवर्तन के लिये राजी होना होगा। केवल यह जान लेने से कुछ लाभ नहीं कि प्राणिक प्रकृति अनिच्छुक है और कि जब कभी इसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ किया जाता है तो यह तुममें विषाद वा उदासी पैदा करती है। प्राणिक प्रकृति प्रारंभ में सदा ही अनिच्छुक होती है और जब जब भी उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ किया जाता है या उससे बदलने को कहा जाता है तब तब वह विद्रोह करके या स्वीकृति से इन्कार करके ऐसी उदासी पैदा करती है। जब तक यह सत्य को अंगीकार करके रूपांतर के लिये तथा माताजी की सहायता एवं कृपा को ग्रहण करने के लिये इच्छुक नहीं हो जाती तब तक तुम्हें डटे रहना होगा। यदि मन में सरलता हो तथा आन्तरात्मिक अभीप्सा पूर्ण एवं सच्ची हो तो प्राण को बराबर ही परिवर्तन के लिये राजी किया जा सकता है।

★ ★

माताजी साधकों के साथ इन मानसिक समस्याओं पर विचार-विमर्श नहीं करतीं। बुद्धि द्वारा इन चीजों के समाधान का यत्न करना बिल्कुल व्यर्थ है। क्योंकि दो भिन्न भिन्न चीजें हैं, एक तो अज्ञान जिससे संघर्ष और कलह पैदा होते हैं और दूसरी गुह्य ज्योति, एकत्व, आनंद और सामंजस्य। बुद्धि अज्ञान से संबंध रखती है। उत्कृष्टतर चेतना में प्रवेश करके ही मनुष्य प्रकाश, आनंद और एकत्व में निवास कर सकता है और बाह्य वैषम्य एवं संघर्ष से अछूता रह सकता है। अतएव चेतना का ऐसा परिवर्तन ही एकमात्र महत्त्व की वस्तु है, बौद्धिक समाधान से कुछ नहीं आता जाता।

★ ★

माताजी की शाश्वत उपस्थिति का अनुभव अभ्यास से प्राप्त होता है; साधना में सफलता के लिये भगवान् की कृपा अनिवार्य है, परंतु अभ्यास ही हमें कृपा के अवतरण के लिये तैयार करता है।

तुम्हें केवल बाह्य चीजों में रहना छोड़कर अंदर जाना सीखना है; मन को शांत करो और अपने अंदर होनेवाली माताजी की क्रियाओं से सचेतन होने की अभीप्सा करो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमानस और दिव्य जीवन

हमने पृथ्वी पर दिव्य जीवन प्राप्त करने का जो आदर्श अपने सामने रखा है वह केवल उसी समय पूरा हो सकता है जब हमारे अंतःपुरुष का, जीव का आध्यात्मिक परिवर्तन हो जाय और हमारी प्रकृति का समूल और सर्वांगीण परिवर्तन, क्रमोन्नति या उत्क्रांति साधित हो जाय। पृथ्वी पर मूर्तिमान् होनेवाले जीव को मन, प्राण और शरीर के अपने पर्दों की अधीनता से बाहर निकलकर अपनी पूर्ण चेतना के अंदर आना होगा और अपना आध्यात्मिक सत्य-स्वरूप प्राप्त करना होगा तथा उसकी प्रकृति को भी मनोमय, प्राणमय और अन्नमय सत्ता की चेतना और उस चेतना की शक्ति से बाहर निकालकर सत्ता की महत्तर चेतना और महत्तर शक्ति में और आत्मा के विशालतर तथा मुक्ततर जीवन में ऊपर उठा ले जाना होगा। वह उन पुराने पर्दों को खो नहीं देगा, किन्तु अब वे पहले की तरह पर्दे या अपूर्ण प्रतिमूर्त्तियां न रहकर सच्ची अभिव्यक्तियां बन जायंगे; वे ज्योति की स्थितियों में, आध्यात्मिक जीवन की शक्तियों में, आध्यात्मिक अस्तित्व के वाहनों में परिवर्तित हो जायंगे। परंतु फिर यह बात तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक सत्ता की एक उत्कृष्ट स्थिति और शक्ति मन, प्राण और शरीर को अपनाकर रूपांतरित न कर दे,—वह शक्ति है अतिमानस की शक्ति जो हमारी अपूर्ण मनोमयी प्रकृति से उतनी ही ऊपर है जितनी कि वह मनोमय प्रकृति पशु-जीवन और सजीव जड़ की प्रकृति से ऊपर है और जितनी अधिक कि यह पशु-प्रकृति महज जड़ प्रकृति से ऊपर है।

अतिमानस का स्वरूप और स्वभाव

अतिमानस अपने मूल रूप में सत्य-चेतना है, यह चेतना बराबर ही उस अज्ञान से मुक्त है जो हमारी वर्तमान प्राकृत या विकसनशील सत्ता का आधार है और जहां से हमारी प्रकृति आत्मज्ञान एवं विश्वज्ञान और विश्व में अपनी सत्ता का यथार्थ ज्ञान तथा उसके ठीक उपयोग का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास कर रही है। क्योंकि अतिमानस सत्य-चेतना है अतः उसमें यह ज्ञान अंतर्निहित है और वास्तविक सत्ता की यह शक्ति उसे प्राप्त है। उसकी गति सीधी होती है और वह सीधे अपने लक्ष्य तक जा सकती है। उसका क्षेत्र बड़ा विशाल है और यहां तक कि वह असीम भी बनाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान उसका निज स्वभाव ही है; उसे ज्ञान अर्जन नहीं करना पड़ता बल्कि वह उसे अपने निज अधिकार से ही प्राप्त है; वह निश्चेतना या अज्ञान में से निकलकर किसी अपूर्ण ज्योति में पग नहीं रखता, बल्कि सत्य से महत्तर सत्य में, यथार्थ बोध से गंभीरतर बोध में, संबोधि से संबोधि में, प्रकाश से विशुद्ध और असीम उज्ज्वलता में, वर्द्धमान विस्तृतता से विशुद्ध विशालता और साक्षात् अनंतता में जाने के लिये पग बढ़ाता है। अपने शिखर पर वह भागवत सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को अधिकृत करता है, पर स्वयं अपनी क्रमबद्ध आत्माभिव्यक्ति की विकसनशील क्रिया के अंदर भी, जिसके द्वारा अंत में वह अपनी उच्चतम ऊंचाइयां प्रकट करेगा, वह स्वभावतः ही अज्ञान और भूल-भ्रांति से अवश्य मुक्त रहेगा। वह सत्य और ज्योति से रवाना होता है और बराबर ही सत्य और ज्योति में गति करता है। जैसे उसका ज्ञान बराबर ही सत्य होता है वैसे ही उसका संकल्प भी बराबर सत्य

2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है; वह चीजों का व्यवहार करते समय न तो अंधे की तरह टटोलता है और न आगे पग बढ़ाते समय ठोकरें खाता है। अतिमानस के अंदर अनुभव और हृदयावेग अपने सत्य से अलग नहीं होते, फिसलते या भटकते नहीं, यथार्थ और वास्तविक वस्तु से विच्युत नहीं होते, सौंदर्य और आनंद का दुरुपयोग नहीं कर सकते अथवा भागवत शुद्धता से अलग नहीं हो सकते। अतिमानस के अंदर इंद्रियां भटका नहीं सकतीं या पथभ्रष्ट होकर स्थूलताओं में नहीं फंस सकतीं जो स्थूलताएं आज यहां उनकी स्वाभाविक त्रुटियां हैं और जिनके कारण हम उनकी निंदा करते हैं; उनपर अविश्वास करते हैं और हमारा अज्ञान उनका दुरुपयोग करता है। अतिमानस का दिया हुआ एक अपूर्व विवरण भी एक ऐसा सत्य होता है जो आगे के सत्य की ओर ले जाता है, उसका अपूर्ण कर्म पूर्णत्व की ओर जाने का एक पग होता है। अतिमानस का समस्त जीवन और कार्य और पथप्रदर्शन अपने स्वभाव से ही उस मिथ्यापन और अनिश्चय से सुरक्षित होता है जो आज हमारे पल्ले बंधे हैं; वह सुरक्षित रूप में अपनी पूर्णता की ओर यात्रा करता है। अगर एक बार सत्य-चेतना, ऋत-चित् अपने निजी सुदृढ़ आधार पर यहां, इस पृथ्वी पर, प्रस्थापित हो जाय तो दिव्य जीवन का क्रमविकास आनंद के अंदर होनेवाली एक प्रगति, ज्योति से आनंद की ओर एक यात्रा बन जाय।

अतिमानस भागवत पुरुष और भागवत प्रकृति का शाश्वत सत्य है। अपने निजी लोक में वह बराबर ही और पहले से ही है और वह अपनी सत्ता के मूलगत निजी विधान को अधिकृत करता है; वह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे उत्पन्न करना हो अथवा जिसे जड़-तत्त्व के अंदर अन्तर्निहित अवस्था में से या किसी अस्तित्वहीन अवस्था में से सत् रूप में प्रकट वा विकसित होना हो, चाहे उसके विषय में मन को अपने दृष्टिकोण से ऐसा ही मालूम हो सकता है, क्योंकि मन स्वयं अपनी दृष्टि से अपने विषय में यही समझता है कि वह इसी तरह प्राण और जड़तत्त्व में से प्रकट हुआ है अथवा प्राण और जड़तत्त्व के अंदर निर्वत्तित अवस्था से बाहर विकसित हुआ है। अतिमानस का स्वभाव बराबर एक जैसा रहता है,–वह ज्ञान की एक सत्ता है जो सत्य से सत्य की ओर जाती है, एक पूर्वस्थित ज्ञान की शक्ति के द्वारा सृष्टि करती है या यों कहें कि जो कुछ अभिव्यक्त करना है उसे अभिव्यक्त करती है और अचानक, संयोगवश ही नहीं बल्कि स्वयं सत्ता में विद्यमान स्वयंसिद्ध भवितव्यता के द्वारा, स्वयं वस्तु की एक आवश्यकता के द्वारा और इसलिये अनिवार्य रूप से करती है। उसके द्वारा दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति भी अवश्य होगी; उसका अपना जीवन उसके अपने लोक में दिव्य है और, अगर अतिमानस पृथ्वी पर उतरे तो, वह अवश्य ही अपने साथ दिव्य जीवन को भी ले आयगा और उसे यहां प्रतिष्ठित करेगा।

अतिमानस की अभिव्यक्ति और दिव्य जीवन की सृष्टि

अतिमानस मन, प्राण और जड़तत्त्व के परे सत्ता का एक स्तर है और, जिस तरह मन, प्राण और जड़तत्त्व पृथ्वी पर अभिव्यक्त हुए हैं उसी तरह अतिमानस भी वस्तुओं की अनिवार्य धारा के अंदर अवश्य ही इस जड़जगत् में अभिव्यक्त होगा। वास्तव में अतिमानस यहां अभी भी विद्यमान है पर है निर्वत्तित अवस्था में, इस व्यक्त मन, प्राण और जड़तत्त्व के पीछे छिपा हुआ और अभी वह ऊपर की ओर से अथवा अपनी निजी शक्ति से क्रिया नहीं करता; अगर वह क्रिया करता है तो वह इन निम्नतर शक्तियों के द्वारा करता है और उसकी क्रिया इनके विशिष्ट गुणों के द्वारा परिवर्तित हो जाती है और इस कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी पहचानी नहीं जाती। जब अवतरणोन्मुख अतिमानस यहां आ और पहुंच जायगा केवल तभी यह प्रच्छन्न अतिमानस पृथ्वी पर उन्मुक्त होगा और हमारे अन्नमय, प्राणमय और मनोमय अंगों की क्रिया में अपने आपको प्रकट करेगा जिससे ये निम्नतर शक्तियां हमारी समस्त सत्ता की संपूर्ण दिव्यभावापन्न क्रिया का अंग बन सकें; यही वह चीज है जो हमारे पास पूर्ण रूप से सिद्ध दिव्यत्व को अथवा दिव्य जीवन को ले आयगी। निःसंदेह ऐसे ही ढंग से जड़तत्त्व में निर्वर्तित प्राण और मन ने अपने आपको यहां सिद्ध किया है, प्रकट किया है; क्योंकि जो कुछ निर्वर्तित है वही विवर्तित, विकसित हो सकता है, अन्यथा कोई भी आविर्भाव, प्राकटच नहीं हो सकता।

अतएव एक अतिमानसिक सत्य-चेतना का अभिव्यक्त होना वह प्रधान सत्य है जो दिव्य जीवन को यहां संभव बनायगा। जब हमारे विचार, आवेग और कर्म की समस्त गतियां एक स्वयंस्थित और उज्ज्वल स्वतःप्रवृत्त सत्य-चैतन्य के द्वारा संयमित और संचालित होंगी और हमारी समस्त प्रकृति उसी के द्वारा गठित होगी और उसी के सत्त्व से निर्मित होगी तभी दिव्य जीवन पूर्ण और शुद्ध होगा। आज भी जैसी कि स्थिति है, अवश्य ही अपने वास्तविक रूप में, जिस रूप में बाहर में चीजें दिखाई देती हैं उस रूप में नहीं, वास्तव में एक गुप्त, स्वयंस्थित ज्ञान और सत्य ही यहां सृष्टि के अंदर अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिये कार्य कर रहा है। भगवान् हमारे भीतर अभी भी गुप्त रूप से विद्यमान हैं, हम स्वयं भी अपने अंतरतम सत्यस्वरूप में वही (भगवान्) हैं और यही वह सद्वस्तु है जिसे हमें अभिव्यक्त करना है; यही वह चीज है जिससे दिव्य जीवन की प्रेरणा गठित हुई है और जो इस स्थूल जीवन के अंदर भी दिव्य जीवन की सृष्टि को आवश्यक बनाती है।

अतिमानस और उसकी सत्य-चेतना की अभिव्यक्ति अवश्यंभावी है; यह इस संसार में जल्दी या देरी में होकर ही रहेगी। परंतु इसके दो पहलू हैं,–ऊपर से अवतरण, नीचे से आरोहण, परम आत्मा का प्राकटच, विश्वप्रकृति में विकास। आरोहण अवश्यमेव एक प्रयत्न है, प्रकृति की एक क्रिया है, उसका निम्नांगों को विकासात्मक अथवा क्रांतिकारी तरीके से, उन्नति अथवा रूपांतर द्वारा उठाकर दिव्य तत्त्व में परिवर्तित कर देने का एक संवेग या प्रयास है। और यह परिवर्तन एक क्रमिक प्रक्रिया और उन्नति के ढंग से हो सकता है अथवा एक द्रुत चमत्कार के रूप में। परम आत्मा का अवतरण या स्व-प्राकटच परम सद्वस्तु की ऊर्ध्वस्थ क्रिया है, जिसके कारण सिद्धि संभव हो जाती है। यह क्रिया दिव्य सहायता के रूप में प्रकट होकर विकास-प्रक्रिया को पूर्ण रूप से चरितार्थ करती है या यह ईश्वरा-दिष्ट चमत्कार के रूप में भी प्रकट हो सकती है। विकास का जैसा रूप हम इस संसार में देखते हैं वह एक मंद तथा कठिन प्रक्रिया है और निःसंदेह उसे स्थायी परिणामों तक पहुंचने में प्रायः युगों की जरूरत होती है। परंतु यह इसलिये कि विकास, अपने स्वरूप में, अचेतन प्रारंभों से एक प्रकार की उत्क्रांति है; निश्चेतनामूलक है, प्राकृतिक सत्ताओं के अज्ञान के भीतर प्रत्यक्षतः-अचेतन बल द्वारा होनेवाली एक क्रिया है। इसके विपरीत, एक ऐसा भी विकास हो सकता है जो पूर्ववत् अंधकार में नहीं बल्कि प्रकाश में हो, जिस-में विकासोन्मुख जीव सचेतन रूप से भाग ले तथा सहयोग दे, और ठीक यही चीज यहां घटित होगी। अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रयास एवं प्रगति में भी हमारी प्रकृति के शिखरों पर, पूर्ण रूप में नहीं तो आंशिक रूप में, यही होगा और आध्यात्मिक परिवर्तन, उपलब्धि और रूपांतर की ओर अंतिम प्रयास में तो पूर्ण रूप से ऐसा ही होगा। अज्ञान और ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विभाजक रेखा को लांघकर जब कि विकास ज्ञान से महत्तर ज्ञान की ओर, चेतना से महत्तर चेतना की ओर, सत्ता से महत्तर सत्ता की ओर होगा तब तो यह और भी अधिक होगा। तब साधारण विकास की मंद गति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी; तब तो द्रुत परिवर्तन एवं रूपांतर के बाद रूपांतर झटपट हो सकेगा जो हमारे साधारण वर्तमान मन को चमत्कारों की श्रृंखला प्रतीत होगा। अतिमानसिक स्तरों पर होनेवाला क्रमविकास ठीक इसी प्रकार का भी हो सकता है; इसी तरह, अगर जीव चाहे तो, क्रमविकास इस प्रकार का भी हो सकता है कि वस्तुओं की एक अतिमानसिक स्थिति या अवस्था एक स्तर से दूसरे दिव्य स्तर में से होती हुई किसी परे की वस्तु में, पर फिर भी अतिमानसिक वस्तु में शनैः शनैः पहुंचे, दिव्य स्तर क्रमशः गठित हों और जीव चरम अतिमानस की ओर या उसके भी परे सत्, चित् और आनंद के अभी तक अकल्पित स्तरों की ओर स्वतंत्रतापूर्वक विकास करे।

अतिमानस में विरोध का नाम नहीं

अतिमानसिक ज्ञान, अतिमानस का सत्य-चैतन्य स्वयं अपने आपमें एक और अखंड है; जब कभी वहां ज्ञान का कोई स्वेच्छाकृत सीमाबंधन अथवा और कोई ऐसी चीज हो जो आंशिक अभिव्यक्ति प्रतीत हो तो यह स्वेच्छा से ही होगा; यहां सीमाबंधन न तो किसी प्रकार के अज्ञान से पैदा होता है और न ही उसे पैदा करता है, इस सीमा का अर्थ ज्ञान को अस्वीकार करना या उसे देने से इन्कार करना नहीं है, क्योंकि सत्य का बाकी सारा अंश जो प्रकट नहीं किया गया है वह वहां वास्तव में निहित होता है। अधिकंतु, अतिमानस में विरोध का नाम भी नहीं है; जो सब चीजें मन को एक दूसरे से विपरीत मालूम होती हैं, उनमें अगर वास्तव में कोई सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता हो भी तो उसके लिये उनके अंदर अपना निजी सच्चा संबंध और सामंजस्यकारी संगति विद्यमान है क्योंकि वास्तव में इन आपातदृश्य विरोधों में पूर्ण सामंजस्य निहित है। मन साकार और निराकार को एक दूसरे के सामने इस प्रकार रखने की चेष्टा करता है मानों वे दो विरोधी चीजें हों, पर अतिमानस कम से कम उन्हें इस तरह देखता और अनुभव करता है कि वे एक ही सद्वस्तु की दो परिपूरक और एक दूसरी को चरितार्थ करनेवाली शक्तियां हैं और, अधिक स्वाभाविक रूप में, दोनों परस्पर घुले-मिले और अविच्छेद्य हैं और वे स्वयं ही वही एक सद्वस्तु हैं। परम व्यक्ति साकार पुरुष का एक निर्व्यक्तिक, निराकार भाव है जो उससे अविच्छेद्य है और जिसके बिना वह जो कुछ है वह कभी न हो पाता अथवा जो कुछ उसका संपूर्ण स्वरूप है वह न हो पाता। और निर्व्यक्तिक–निराकार ब्रह्म अपने सत्य-स्वरूप में सत् की एक स्थिति, चित् की एक स्थिति और आनंद की एक स्थिति नहीं है, बल्कि एक व्यक्ति है, पुरुष है जो स्वयंस्थित है, आत्मसचेतन है, अपने निजी स्वयंस्थित आनंद से भरा है, आनंद ही उसकी सत्ता का सत्त्व है अर्थात् आनंदतत्त्व से ही उसकी सत्ता बनी है,–इस तरह, वह केवल एक और असीम व्यक्ति, पुरुष है। अतिमानस में ससीम असीम को छांट नहीं देता अथवा सीमित नहीं कर देता, वह अपने को असीम का विरोधी नहीं समझता; बल्कि वह अपनी निजी असीमता को अनुभव करता है; सापेक्ष और अनित्य भाव शाश्वतता का विरोधी नहीं है बल्कि उसके भावों का एक समुचित संबंध है, शाश्वत की एक क्रिया या एक अविनश्वर रूप है। महज विस्तार को प्राप्त शाश्वत ही वहां पर काल है और शाश्वत को क्षणिक–अनित्य के अंदर अनुभव किया जा सकता है। इस तरह हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

87467

देखते हैं कि अतिमानस में संपूर्ण–सर्वभावमय भगवान् हैं और अतिमानस के स्वरूप और सत्ता का समर्थन करने के लिये किसी स्वविरोधी माया का सिद्धांत घुसाने की आवश्यकता नहीं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अपने आपको या अपने सत्यस्वरूप को प्राप्त करने के लिये भगवान् को जीवन से भागने की कोई आवश्यकता नहीं; चाहे विश्वजीवन में कहो या उनकी परात्पर स्थिति में कहो, वे उसे सदा-सर्वदा ही अधिकृत किये हुए हैं। दिव्य जीवन भी भगवान् के या परम दिव्य सद्वस्तु के विरुद्ध कोई वस्तु नहीं हो सकता; यह उस सद्वस्तु का ही एक अंश है, एक रूप है या एक अभिव्यक्ति है और यह अन्य कोई वस्तु नहीं हो सकता। अतिमानसिक स्तर में संपूर्ण भगवान् को जीवन ने अधिकृत कर रखा है और जब अतिमानस पृथ्वी पर उतरेगा तब वह अपने साथ भगवान् को भी अवश्य ले आयगा और यहां भी उसी तरह भगवान् को पूर्णरूपेण अधिकृत करना संभव बनायगा।

दिव्य जीवन के अमृत फल

जो लोग दिव्य जीवन में प्रवेश करेंगे और उसे अधिकृत करेंगे, उन्हें दिव्य जीवन सत्य-चैतन्य–ऋत-चित्–पर और उसके अंदर जो कुछ है उस सबपर क्रमशः और अंत में पूर्ण अधिकार प्रदान करेगा; वह अपने साथ आत्मा में भगवान् और प्रकृति में भगवान् की उपलब्धि ले आयगा। भगवान् का अभीप्सु जो कुछ पाना चाहता है वह सब कुछ, जैसे जैसे वह आध्यात्मिक परिपूर्णता की ओर अग्रसर होगा वैसे वैसे, उसकी आत्मा में और उसके जीवन में चरितार्थ होगा। वह परात्पर सद्वस्तु को जान जायगा, अपनी आत्मानुभूति के अंदर चरम सत्, चित् और आनंद को अधिकृत करेगा, सच्चिदानंद के साथ एक हो जायगा। वह विश्वपुरुष और विश्वप्रकृति के साथ एक हो जायगा; वह अपने अंदर, अपनी निजी विश्वव्यापी चेतना में जगत् को धारण करेगा और सर्वभूत के साथ अपना एकत्व अनुभव करेगा; वह अपने को सबके अंदर और सबको अपने अंदर देखेगा, उस परम आत्मा के साथ युक्त और एकात्मा हो जायगा जो समस्त सत्ताएं–सर्वभूत हुआ है। वह सर्वसौंदर्यमय का सौंदर्य और सर्वाश्चर्यमय का चमत्कार देखेगा; वह अंत में ब्रह्म के आनंद में प्रवेश करेगा और वहां स्थायी रूप से निवास करेगा और यह सब करने के लिये उसे जीवन का त्याग करने की या किसी आत्मविलोपक निर्वाण के अंदर कूदकर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का लय करने की आवश्यकता नहीं होगी। जिस तरह आत्मा में, उसी तरह प्रकृति में वह भगवान् को उपलब्ध कर सकता है। भगवान् का स्वभाव है ज्योति और शक्ति और आनंद; वह अपने ऊपर भागवत ज्योति और शक्ति और आनंद को अनुभव कर सकता है और वह फिर यह अनुभव कर सकता है कि वे दिव्य ज्योति और शक्ति और आनंद उसके अंदर अवतरित हो रहे हैं, उसकी प्रकृति के एक एक रग-रेशे में, उसकी सत्ता के एक एक कोष और अणु में भर रहे हैं, और उसके अंतरात्मा और मन और प्राण और शरीर को परिप्लावित कर रहे हैं, उसे चारों ओर से एक असीम समुद्र की तरह आवृत कर रहे हैं और सारे जगत् में भर रहे हैं, उसके समस्त अनुभव और बोध और उपलब्धि को परिव्याप्त कर रहे हैं, उसके समस्त जीवन को वास्तव में और पूर्ण रूप में दिव्य बना रहे हैं। यह सब और अन्य सब कुछ, जिसे आध्यात्मिक चेतना उसके पास ले आ सकती है, दिव्य जीवन उसे उस समय प्रदान करेगा जिस समय वह अपनी आत्यंतिक परिपूर्णता और संसिद्धि को प्राप्त हो जायगा और अतिमानसिक सत्य-चेतना संपूर्ण रूप से उसके अंदर भर जायगी; परंतु उससे पहले भी, जहां एक बार अतिमानस ने उसके ऊपर अवतरित होकर उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन का परिचालन अपने हाथ में लिया कि, इन सब चीजों का कुछ अंश वह प्राप्त कर सकता है, उनमें वर्द्धित हो सकता है, निवास कर सकता है। वह भगवान् के साथ सभी प्रकार के संबंध स्थापित करेगा; भगवत्-ज्ञान, भगवत्कर्म और भगवद्भक्ति की त्रिवेणी उसके अंदर खुल जायगी और उसकी समस्त सत्ता अंतरात्मा और प्रकृति के एकांत आत्मदान और समर्पण की ओर अग्रसर होगी। वह भगवान् के अंदर और भगवान् के साथ निवास करेगा, भगवान् को अधिकृत करेगा, यहां तक कि, जैसा लोग कहते हैं, अपने समस्त पृथक् व्यक्तित्व को भूलकर—पर उसे आत्मनिर्वाण के अंदर खोकर नहीं--भगवान् के अंदर डूब जायगा। भगवान् का प्रेम और प्रेम की समस्त मिठास उसे प्राप्त होगी, उसे मिलन का आनंद और साथ ही साथ एकत्व का आनंद और एकत्व में पृथक्त्व का आनंद प्राप्त होगा। अनंत की अनुभूति के समस्त अनंत क्षेत्र और अनंत के आलिंगन के अंदर प्राप्त अनंत का समस्त आनंद उसे प्राप्त होगा।

मानव जीवन का पूर्ण रूपांतर

अतिमानस का अवतरण होने पर जो मनुष्य उसे ग्रहण करेगा और सत्य-चैतन्य से भर उठेगा, उसके अंदर उस अवतरण के फलस्वरूप दिव्य जीवन की सभी संभावनाएं उद्घाटित हो जायंगी। वह केवल उसी विशिष्ट अनुभूति को संपूर्ण रूप में नहीं ग्रहण करेगा जिसे हम अब भी आध्यात्मिक जीवन गठन करनेवाली मानते हैं, बल्कि उन सब चीजों को भी स्वीकार करेगा जिन्हें हम अभी उस क्षेत्र से बाहर समझते हैं पर जो दिव्य होने के योग्य हैं, वह पार्थिव प्रकृति और पार्थिव जीवन की ऐसी किसी चीज को नहीं छोड़ेगा जो अति-मानस के स्पर्श से रूपांतरित हो सके और आत्मा के मूर्त्त जीवन के अंदर ग्रहण की जा सके। क्योंकि पृथ्वी पर प्राप्त होनेवाले दिव्य जीवन के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि वह एक ऐसी चीज हो जो इन सबसे पृथक् और इनका त्याग करनेवाली हो, साधारण पार्थिव जीवन के साथ उसका कोई भी संबंध न हो; वह मानवसत्ता और मानवजीवन को ग्रहण करेगा, जो कुछ रूपांतरित हो सकेगा उसे रूपांतरित करेगा, जो कुछ अध्यात्मभावा-पन्न बनाया जा सकेगा उसे अध्यात्मभावापन्न बनायगा, बाकी चीजों पर अपना प्रभाव डालेगा और चाहे तो उनमें एक मौलिक परिवर्तन ले आयगा या उन्हें उन्नत बना देगा, विश्वगत और व्यक्तिगत के बीच एक गभीर संबंध स्थापित करेगा, उस आध्यात्मिक सत्य के द्वारा आदर्श को आक्रांत करेगा जिसकी वह एक ज्योतिर्मय छाया है और एक महत्तर और उच्चतर जीवन के अंदर या उसकी ओर उसे ऊपर उठाने में सहायता करेगा। मन को वह विचार और संकल्प की एक दिव्यतर ज्योति की ओर ऊपर उठायगा, प्राण को गभीरतर और सत्य-तर भावावेग और कार्य की ओर, उसकी एक विशालतर शक्ति की ओर, उच्च उद्देश्यों और अभिप्रायों की ओर ऊपर उठायगा। जो चीज अभी सत्ता के अपने निजी पूरे सत्य के अंदर नहीं उठाई जा सकती, उसे वह उस पूर्ण के समीप ले आयगा; जो कुछ भी उस परिवर्तन के लिये अभी तैयार नहीं है, वह भी उस समय इस संभावना को अपने लिये खुला देखेगा जिस समय कि उसका अभी तक अपूर्ण विकास उसे आत्मपरिपूर्णता के लिये तैयार कर देगा। स्वयं शरीर भी, अगर वह अतिमानस का स्पर्श धारण कर सके तो, वह अपने निजी सत्य के विषय में अधिक सज्ञान हो सकेगा,—क्योंकि एक शरीर-चेतना भी है जिसका कि अपना एक निजी स्वाभाविक सत्य और समुचित स्थिति और कर्म की शक्ति है, यहां तक कि उसके कोषों और तंतुओं की बनावट में एक प्रकार का अप्रकट गुह्य ज्ञान है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वे एक दिन सचेतन हो सकते हैं और भौतिक सत्ता के रूपांतर में सहायता कर सकते हैं। पार्थिव प्रकृति और पार्थिव चेतना के अंदर एक प्रकार की जागृति आयगी ही, जो, अगर वास्तविक प्रारंभ न भी हो तो, कम से कम एक नवीन और अधिक दिव्य जागतिक व्यवस्था की ओर जानेवाले उसके क्रमविकास की सफल तैयारी और पहला पग होगी।

अतिमानसिक अवतरण का मानवजाति पर प्रभाव

यही होगी दिव्य जीवन की परिपूर्णता जिसे अतिमानस का अवतरण और सजीव सत्ता की संपूर्ण प्रकृति को आक्रांत करनेवाले सत्य-चैतन्य की क्रिया उन सब लोगों के अंदर सिद्ध करेगी जो उसकी शक्ति या प्रभाव की ओर अपने आपको उद्घाटित कर सकेंगे। जो सब लोग समर्थ होंगे उन सब लोगों पर इसका प्रथम तात्कालिक फल भी यह होगा कि वे सत्य-चैतन्य के अंदर प्रवेश कर सकेंगे और प्रकृति की समस्त क्रियाओं को अधिकाधिक अतिमानसिक सत्य की, विचार के सत्य की, संकल्प के सत्य की, हृदयानुभव के सत्य की, कार्य के सत्य की, समस्त सत्ता की, शरीर तक की सच्ची स्थितियों की क्रियाओं के रूप में परिवर्त्तित कर सकेंगे, अंत में रूपांतरित, दिव्य रूप में परिणत कर सकेंगे। जो लोग इस प्रकार अपने आपको खोल सकेंगे और खोले रख सकेंगे, उनके लिये इस क्रमविकास की कोई सीमा नहीं होगी और कोई मौलिक कठिनाई भी नहीं रह जायगी; क्योंकि सभी कठिनाइयां ऊपर से मन और प्राणशक्ति और शरीर के अंदर बरसनेवाली अतिमानसिक ज्योति और शक्ति के दबाव से दूर हो जायंगी। परंतु यह कोई जरूरी नहीं कि अतिमानसिक अवतरण का परिणाम उन्हीं लोगों तक सीमित रह जाय जो इस तरह अपने आपको पूर्ण रूप से उद्घाटित कर सकें और यह भी जरूरी नहीं कि वह अतिमानसिक परिवर्तन तक ही सीमित रह जाय; इसके फलस्वरूप मनोमय सत्ता का भी, मनोमयी प्रकृति के एक मुक्त और पूर्णताप्राप्त दायरे के भीतर एक निम्नतर और गौण रूपांतर हो सकेगा। आज जो हमारा मन सीमित और अपूर्ण है, प्रत्येक मुहूर्त सब प्रकार से सत्य से विच्युत होने या सत्य से हाथ धोने के लिये, सब प्रकार की भूल-भ्रांति के लिये खुला बैठा है और यहां तक कि प्रकृति के संपूर्ण मिथ्यापन और विच्युति की प्ररोचना की ओर खुला है, अंध है और निश्चेतना तथा अज्ञान की ओर खिंचा हुआ है, बड़ी मुश्किल से ज्ञान प्राप्त करता है, एक ऐसी बुद्धि है जो उच्चतर ज्ञान की व्याख्या मन द्वारा कल्पित सिद्धांतों से और परोक्ष प्रतीकों से करती है और उच्चतर संबोधि के संदेशों को भी अनिश्चित भाव से और तर्क-वितर्क की मुट्ठी से पकड़ती और धारण करती है, उस मानवमन के स्थान में एक ऐसा वास्तविक मन प्रकट हो सकेगा जो मुक्त होगा और अपनी निजी तथा अपने यंत्रों की स्वतंत्र और आत्यंतिक परिपूर्णता ले आने में समर्थ होगा,—एक ऐसा प्राण तैयार कर लेगा जो मुक्त और आलोकित मन से परिचालित होगा, एक ऐसा शरीर तैयार कर लेगा जो ज्योति का अनुगत होगा और वह सब कुछ करने में समर्थ होगा जो मुक्त मन और संकल्प उससे कराना चाहेंगे। यह परिवर्तन संभव है कि केवल कुछ लोगों में ही न हो बल्कि समूची जाति में ही फैल जाय और सर्वसाधारण की वस्तु बन जाय। यह संभावना यदि पूर्ण हो जाय तो इसका तात्पर्य होगा कि मनुष्य का पूर्णता का स्वप्न, स्वयं उसकी, उसकी पवित्रित और आलोकित प्रकृति की, उसके कर्म और जीवन की समस्त पद्धतियों की पूर्णता का स्वप्न अब आगे एक स्वप्न ही नहीं रह जायगा, बल्कि एक सत्य बन जायगा जो वास्तविक सत्य में परिणत किया जा सकेगा और मनुष्यजाति निश्चेतना और अज्ञान के चंगुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मुक्त की जा सकेगी। मनोमय सत्ता का जीवन अतिमानस के जीवन के साथ समन्वित किया जा सकेगा और वह उस समय अपने से ऊपर का एक सर्वोच्च जीवन बन जायगा और यहां तक कि सत्य-चैतन्य का एक विस्तारित और संलग्न अंश बन जायगा, दिव्य जीवन का एक भाग और प्रदेश बन जायगा। यह स्पष्ट है कि अगर अतिमानस आ जाय और जैसे आज पार्थिव प्रकृति में मन सर्वप्रधान तत्त्व है, वैसे ही यदि अतिमानसिक सत्ता की एक विधि-व्यवस्था सर्वप्रधान तत्त्व के रूप में, स्थापित हो जाय, पर हो जाय पूर्ण निश्चित-ता के साथ, तो फिर पार्थिव जीवन को पूर्ण संयमित करना सुनिश्चित हो जायगा, मन अपनी अपूर्ण अवस्था में जिन चीजों को, उनके स्तर पर और उनकी स्वाभाविक सीमा के भीतर रूपांतरित नहीं कर पाता था उन सबको वह रूपांतरित कर सकेगा, मानवजीवन अगर रूपांतर की अवस्था तक न भी जा सके तो भी उसका एक महान् परिवर्तन सिद्ध होकर ही रहेगा।

अब बस यह देखना बाकी है कि इस संभावना की पूर्त्ति के मार्ग में कौनसी बाधाएं उप-स्थित हो सकती हैं, विशेषकर उन बाधाओं को देखना है जिन्हें पार्थिव विधि-व्यवस्था और उसकी क्रिया का स्वभाव एक क्रमबद्ध विकास के क्षेत्र के रूप में उपस्थित करता है। आज हमारी मनुष्यता जो कुछ है वह उस क्रमबद्ध विकास का एक स्तर है और यह तर्क उपस्थापित किया जा सकता है कि इसकी अपूर्णता क्रमविकास की एक आवश्यक वस्तु है। तो फिर किस हद तक अतिमानस अपनी उपस्थिति के द्वारा और वस्तुओं पर स्थापित अपने शासन के द्वारा क्रमपरंपरा के इस तत्त्व को सुरक्षित रखते हुए इस कठिनाई को पार कर सकेगा या करेगा और क्या अज्ञान और निश्चेतना के द्वारा लादी गयी भूल-भ्रांतिपूर्ण और अज्ञानमयी व्यवस्था का संशोधन कर सकेगा और उसके स्थान में एक सत्य क्रमपरंपरा को स्थापित कर सकेगा जिसमें कि पूर्णत्व और दिव्यत्व प्राप्त करना संभव होगा? निश्चय ही, व्यक्ति के लिये इसका मार्ग खुला रहेगा, मनुष्यों का जो कोई दल अपने प्रयास में एक साथ संगठित होकर पूर्ण और निजी व्यष्टिगत सामाजिक जीवन के लिये या दिव्य जीवन के लिये अभीप्सा करेगा वह अपनी अभीप्सा की सिद्धि में सहायता प्राप्त करेगा; और नहीं तो इतना तो अतिमानस अपना कम से कम परिणाम उत्पन्न करेगा ही। परंतु इससे भी कहीं महत्तर संभावना है और यहां तक कि वह समस्त मनुष्यजाति के लिये सुलभ बनाई जा सकती है। तब यहां हमें यह विचार करना होगा कि मनुष्यजाति के लिये अतिमानस के अवतरण का क्या तात्पर्य होगा और मनुष्यजाति के समस्त जीवन और उसके भावी क्रम-विकास और भवितव्यता के लिये अतिमानस का अवतरण क्या फल उत्पन्न करेगा या कौन-सी आशा प्रदान करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध–

आलोक के पथ पर

४

प्रगति

प्रगति किसे कहते हैं–यथार्थ प्रगति ?

किसी युग में मनुष्य पत्थर के हथियार चलाया करता था; उन्हीं पत्थर के हथियारों को बनाते-चलाते वनमानुस मनुज में परिणत हुआ। फिर जब मनुज ने लोहे के हथियारों का आविष्कार किया तब मनुष्य की दुनिया में एक विपर्यय घटित हुआ : मनुष्य ने प्रगति की, वह सभ्य हुआ।

आज मनुष्य के हाथों में भाफ और बिजली के अस्त्र प्रकट हुए हैं, इसी से कहा जाता है आज मनुष्य प्रगति के शिखर पर जा पहुंचा है; उसकी सभ्यता की तुलना नहीं है।

क्या ऐसा ही है ? मनुष्य के हथियारों द्वारा ही क्या मनुष्यत्व का परिचय पाया जायगा ? किंतु आधुनिकों के कुछ जननेताओं का रूप बरबस याद दिला देता है आदिकाल के लगुड़-हस्त 'नेआण्डेरटाल' मनुष्य की !

प्रगति का वास्तविक परिचय हथियारों में नहीं, भीतर की चेतना में खोजना चाहिये। चेतना कितनी गभीर हुई, प्रसारित हुई, ऊर्ध्वायित हुई–यही प्रगति का परिमाप है। और चेतना की महत्ता के साथ साथ हथियार की सरलता भी बनी रह सकती है।

चेतना की गभीरता, प्रसारता, समुच्चता का अर्थ ज्ञान-विज्ञान का विपुल समारोह नहीं। ज्ञान-विज्ञान का समारोह–विद्याचातुर्य–तो हथियार का ही उत्कर्ष हुआ–मन-बुद्धि के हथियारों का। मनबुद्धि के सहज-सरल–अपण्डित–होने पर भी चेतना निबिड़, प्रशस्त और समुच्च हो सकती है।

दुर्योधन जब नारायणी सेना मांगने गये तब उनकी पसंद हथियार पर ही गई; अर्जुन ने श्रीकृष्ण को प्राप्त करके चेतना का महत्त्व लाभ किया।

सुष्ठुतर हथियार मनुष्य को समर्थतर जन्तु बना सकता है किंतु उसकी प्रवृत्ति अथवा प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं सिद्ध कर सकता।

प्रवृत्ति अथवा प्रकृति का विशुद्धीकरण करने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व और देवत्व है–उसकी अपनी चेतना की प्रसारता गंभीरता समुच्चता निहित है। और यही यथार्थ प्रगति है : प्रगति केवल सामने की ओर अग्रसर गति को ही नहीं कहते; प्रगति का अर्थ है प्रकृष्ट गति। ऊर्ध्वतर दृष्टि, गभीरतर अनुभूति, विशालतर प्रेरणा के द्वारा मानवीय सत्ता को गढ़ते चलने में ही प्रगति का मर्म छुपा होता है।

ऐसे ही परिपूर्ण मनुष्यों के सिवाय और किसी के भी द्वारा मानवजाति की रक्षा अथवा उन्नति नहीं होगी। इस समय तो मनुष्य एक टूटी-फूटी, टेढ़ी-मेढ़ी हलकी-फुलकी सत्तामात्र है।

जो मनुष्य अपने को सुधारने, ठीक करने के प्रति सचेष्ट है–जो अपने आपको समर्थ पूर्णांग बना डालना चाहता है, वही मानवसमाज का श्रेष्ठ कल्याणकृत् है। यह कार्य स्वयं ही करना होता है, दूसरा कोई नहीं कर दे सकता। अपने द्वारा अपना उद्धार करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त–अपनी ही हवा और अपने ही प्रकाश पर जीने के सिवाय–और दूसरा रास्ता नहीं।

ऐसा हो कि इस महाव्रत के सतीर्थ्य सब साथी एकत्र हों। उनके ही भीतर से भविष्य की पूर्णतर मानवजाति गठित हो!

*   *

जो शरीर का भी शरीर है, यदि उसे ही न पाया तो इस शरीर को लेकर क्या होगा?

जो प्राणों का भी प्राण है, यदि वही संचरित न हुआ तो इन प्राणों को लेकर क्या करूंगा?

और जो मन का भी मन है, यदि वही प्रस्फुटित न हुआ तब ऐसे मन को लेकर करूंगा ही क्या?

कौन है वह–मन का भी मन, प्राणों का भी प्राण, देह की भी देह?

वह बृहत्तर ज्ञान है, महत्तर सामर्थ्य है, निबिड़तर सत्ता है–चिन्मय तपोमय सन्मय पुरुष है वह–मेरा मैं, मेरा दिव्यस्वरूप, हममें से प्रत्येक के मध्य में भगवान् का प्रकाश है।

मन को अपनेमें ही डूबने के लिये कहो–प्राणों को भी अपनेमें ही डूब जाने का आदेश दो–शरीर से भी कहो कि वह स्वयं अपने ही स्वरूप में डूब जाय।

दिव्य जीवन के लिये गहरे पानी पैठो। विश्वसृष्टि के सागरतल में यह जो मुक्ता क्रमशः बन रही है, ले तो आओ उसे इस पृथ्वीतल पर–सूर्य के व्यापक प्रकाश में।

—नलिनीकांत गुप्त

(अनुवादक–श्री मोहनलाल बाजपेयी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब और अब

हां, तब मैंने तेरे साथ सौदा किया था। मैं अपना घरबार छोड़कर तेरी खोज में निकली, सांसारिक सुख-आराम से मुंह मोड़ा, माता, पिता और सगे-संबंधियों से विलग होकर एक तेरी शरण में आई। निश्चय ही, इससे तेरी जिम्मेदारी बढ़ गई। इतना बड़ा त्याग मैंने किया, पर इसके बदले में मुझे मिला क्या? दैहिक सुख की चाह तो भला मैंने छोड़ी, पर वह आत्मिक प्रसाद भी मुझे कहां प्राप्त हुआ। कहां, हृदय में तो तेरे प्रेम की ज्योति जली ही नहीं! वह तो वैसे का वैसा ही नीरस रहा। बल्कि कभी कभी तो ऐसा प्रतीत होता था कि जितना रस उसमें पहले था वह भी मानों सूख गया है। लाख प्रयत्न करके हार गई, पर तू तो पकड़ाई ही में नहीं आया।

तब मन विक्षुब्ध और विद्रोही हो उठा। ऐसे ही मुंह मोड़ लेना था तो अपने पास बुलाया क्यों? मन में बार बार एक ही प्रश्न उठता—नदी जब दूर है तो ठीक, पर उसके पास पहुंचकर भी मनुष्य प्यासा रह जाय, यह असह्य है।

* *

'तब' और 'अब' के बीच का समय तूफानी समय था। ऐसा तूफान जो अपने साथ सब कूड़ा-कचरा उड़ा ले जाता है।

आज मुझे अपने ऊपर लज्जा आ रही है। मैं तो सचमुच तेरे साथ क्रय-विक्रय का सौदा कर रही थी। मुझे अधिक से अधिक मिले, मेरा सारा ध्यान तो इसी ओर था। सब कुछ ले लेने, सारे का सारा प्राप्त करने की चाह थी मुझे। मैंने जो थोड़ा बहुत छोड़ा था उसी को मैं अपना सब कुछ समझे बैठी थी। असली चीज तो मैंने तुझे दी ही नहीं। इसी लिये तो मैं सूखी की सूखी रह गई। जिसने अपने आपको देना नहीं सीखा, वह कुछ पा कैसे सकता है—इस सत्य की ओर से तब मैंने अपनी आंखें क्यों मूंद ली थीं?

यहां लेने का, मांगने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मान-अपमान, सुख-दुःख, आशा-अभिलाषा, सभी कुछ तो सौंप देना है। मैं भी कुछ हूं, मेरा भी कुछ है—इस सबका तो यहां कुछ अर्थ ही नहीं। जिसका यह सब कुछ है, वह कैसे इसका प्रयोग करे, यह तो वही जानता है। अब यदि यह सौदा है भी तो एकतरफा सौदा है।

आज जब एक सूनी दोपहरी में मैं अपने ऊपर दृष्टि डालती हूं तो 'तब' और 'अब' का भेद साकार रूप धारण करके मेरे सामने आ जाता है। तब तुझे पकड़ने की उतावली थी, आज पकड़ाई देने की चाह है। तब कुछ प्राप्त करने का मोह था, आज 'कुछ दे सकूं' इसकी अभीप्सा है।

'तब' और 'अब' का भेद आज मुझे सर्वोच्च ज्ञान प्रतीत हो रहा है।

—लीलावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहिष्णुता तुम्हारा आदर्शमंत्र हो

(श्री माताजी का एक प्रवचन)

सहिष्णुता तुम्हारा आदर्शमंत्र हो: अपनी अन्तःस्थ प्राणशक्ति–अपने प्राणमय पुरुष*–को सिखाओ कि वह शिकायत न करे बल्कि महान् सिद्धि के लिये आवश्यक सभी अवस्थाओं को सहन करे। शरीर अत्यंत सहिष्णु सेवक है, यह परिस्थिति के दबाव को भारवाही पशु की भांति चुपचाप सहता है। जो बराबर बुड़बुड़ाता और बेचैन रहता है वह तो प्राणमय पुरुष ही है। यह शरीर को जिस दासता और यंत्रणा में जकड़े रखता है उसका कुछ हद-हिसाब नहीं। कैसे यह बेचारे शरीर को अपनी मनमौज और उमंग-तरंग के अनुसार तोड़ता मरोड़ता और बिगाड़ता रहता है, उससे ऐसी अनुचित मांग करता है कि प्रत्येक चीज मेरी सनक के सांचे के अनुसार ही ढलनी चाहिये! परंतु सहिष्णुता का असली मर्म ही यह है कि प्राण को अपनी ओछी रुचि-अरुचियों का त्याग कर अत्यंत विकट परिस्थिति में भी समता कायम रखना सीखना चाहिये। जब कोई तुमसे रूखा व्यवहार करे या जब तुम्हारे पास अपनी बेचैनी दूर करने का कोई साधन न हो तब भी तुम्हें घबराना नहीं चाहिये बल्कि प्रसन्न बने रहना चाहिये। कोई भी चीज तुम्हें लेशमात्र भी व्याकुल न कर सके, जब कभी प्राण अपने तुच्छ दुःखों को खूब बढ़ाचढ़ाकर सुनाना शुरू करे तब जरा रुककर सोच तो लो कि इस संसार में बहुत से लोगों की अपेक्षा तुम कितने अधिक सुखी हो। क्षणभर सोचो तो सही कि गत युद्ध में जिन सैनिकों ने भाग लिया उन्हें कैसी कैसी विपत्तियों में से गुजरना पड़ा। यदि तुम्हें वैसी कठिनाइयां झेलनी पड़तीं तो तुम अपनी शिकायतों की निपट मूर्खता समझ जाते। तो भी मैं नहीं चाहती कि तुम कठिनाइयां मोल लेते फिरो–मेरा मतलब यही है कि तुम्हें अपने जीवन के छोटे मोटे, निरर्थक दुःखों को सहना सीखना चाहिये।

प्रकाश और सत्य की याचना करो

सहिष्णुता के बिना कभी भी कोई महान् कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि तुम महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ो तो तुम देखोगे कि कैसे वे प्राण की दुर्बलताओं के सामने चट्टान की तरह अटल रहे। आज भी हमारी सभ्यता का सच्चा मर्म यही है कि हम प्राण में सहनशीलता के द्वारा शरीर पर प्रभुत्व प्राप्त करें। यह प्रत्यक्ष ही है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रफुल्लता और साहस के साथ तथा निधड़क होकर कठिनाइयों का सामना करने की आवश्यकता होती है–ये सभी गुण सहिष्णुता के इस आदर्श के अंग हैं। भौतिक विज्ञान की

*भारतीय अध्यात्म-ज्ञान मनुष्य की प्रकृति को तीन तत्त्वों में विभक्त करता है: शरीर, प्राण, मन; इनमेंसे प्रत्येक अपने अपने लोक से संबद्ध है। इन तीन के पीछे वह इनके विकास के गुप्त प्रेरक चैत्य तत्त्व या सच्ची अंतरात्मा को देखता है जिसके माध्यम से हमारी सत्ता भगवान् की ओर आरोहण कर सकती तथा भगवान् की चेतना हमारी प्रकृति में लाई जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नति भी अनगिनत कठिन कसौटियों एवं परीक्षाओं पर निर्भर करती है और सफलता की प्राप्ति के पूर्व उनमेंसे गुजरना आवश्यक होता है। निःसंदेह, इस आश्रम में जैसा गुरुतर कार्य हमने अपने ऊपर लिया है उसमें भी हमें सहिष्णुता की कुछ कम आवश्यकता नहीं है। तुम्हें करना यह चाहिये कि ज्यों ही प्राण विरोध करे त्यों ही उसकी खूब खबर लो, क्योंकि, जब शरीर का कोई मामला हो तो कुछ सोचसमझकर तथा सावधानी से बरताव करना उचित है, परंतु प्राण के संबंध में कठोर "दण्ड" ही एकमात्र उपाय है। प्राण ने शिकायत की नहीं कि उसका घोर विरोध करो, क्योंकि जो क्षुद्र चेतना प्रकाश और सत्य की याचना करने के बजाय ऐश-आराम और सामाजिक सुख-सुविधाओं को इतना अधिक महत्त्व देती है उससे मुक्त होने का और कोई तरीका नहीं।

प्राण की एक अत्यंत सर्वसाधारण मांग है प्रशंसा की चाह। यदि इसकी निंदा की जाय और इसके साथ ऐसा बरताव किया जाय जैसे कि यह एक तुच्छ वस्तु हो तो वह इसे बुरा लगता है। परंतु इसे डांट फटकार के लिये बराबर तैयार रहना होगा और उसे पूर्ण शांति से सहना होगा; इसे अपनी प्रतिष्ठा की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये, यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि कामना-पूर्त्ति की एक एक चेष्टा असत्य के अधिपतियों की वेदी पर चढ़ावा चढ़ाने के बराबर है। प्राणशक्ति के सूक्ष्म लोक की सत्ताएं, जिनसे हमारा प्राण संबद्ध है, अपने भक्तों की पूजा पर जीती और फलती-फूलती हैं, इसी लिये वे नए मत-मतांतरों की प्रेरणा संचारित करती रहती हैं ताकि उनकी पूजा-प्रतिष्ठा और स्तुति के महाभोज कभी समाप्त न होने पावें। उसी प्रकार तुम्हारा अपना प्राणमय पुरुष तथा उसकी मूलवर्ती प्राण-शक्तियां दूसरों की की हुई चापलूसियों से पलपुसकर पनपती हैं—अर्थात्, और भी अधिक स्थूल अज्ञान में ग्रस्त हो जाती हैं। परंतु तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि हमारे समान अज्ञान के स्तर पर रहनेवाले मनुष्य हमारी जो स्तुति करते हैं वह असल में कौड़ी काम की नहीं, वह उतनी ही निरर्थक है जितनी ऐसे आदमियों की की हुई हमारी निंदा। ऐसे लोग चाहे कितने ही आडंबरशाली क्यों न हों पर उनकी की हुई निंदा-स्तुति वृथा एवं निःसार होती है। तथापि दुर्भाग्यवश, प्राण अत्यंत गले सड़े भोजन के लिये भी तरसता है और इतना लोभी होता है कि अयोग्यता के साक्षात् अवतारों से भी प्रशंसापत्र स्वीकार कर लेगा। यहां मुझे पेरिस की कला-प्रदर्शिनी के उद्घाटन के वार्षिक समारोह का स्मरण हो आता है, उस अवसर पर वहां का राष्ट्रपति चित्रों का निरीक्षण करता है, जोर जोर से बोलकर बताता है कि अमुक चित्र किसी दृश्य का है और अमुक किसी प्राणी का, वह इतनी लचर टिप्पणी ऐसे हावभाव से करता है मानों उसे चित्रकला का अत्यंत प्रगाढ़ मर्म-स्पर्शी ज्ञान हो। चित्रकारों को खूब पता होता है कि यह टिप्पणी कैसी बेकार है और फिर भी वे राष्ट्रपति की साक्षी को अपनी प्रतिभा के प्रमाणस्वरूप उद्धृत करने का मौका कभी नहीं चूकते। सचमुच ही, यश का ऐसा भूखा, लालची है मनुष्य का प्राण।

परंतु जो चीज वास्तव में अमूल्य है वह है सत्यदर्शियों की सम्मति। जब कोई व्यक्ति भागवत सत्य से संबंध प्राप्त कर लेता और उसे प्रकट कर सकता है तो उसकी दी हुई सम्मति स्तुति या निंदामात्र नहीं होती, वह होता है तुम्हारे संबंध में भगवान् का विचार, तुम्हारे गुणों का भगवान् द्वारा मूल्यांकन, तुम्हारे पुरुषार्थ पर भगवान् की अचूक मुहरछाप। तुम्हारी बस यही कामना होनी चाहिये कि मैं सत्य के शब्द के सिवा और किसी चीज का मान न करूं; अपने मानदंड को इस प्रकार ऊंचा करने के लिये तुम्हें अपने अंदर अग्नि प्रज्वलित रखनी होगी, वह अग्नि जो रूपांतर के लिये आत्मा में धधकती हुई ज्वाला है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ध्यान देने की बात है कि जब अग्नि भड़क उठती है तब कैसे तुममें उन सस्ती प्रशंसाओं के प्रति एकदम घृणा पैदा हो जाती है जो तुम्हें पहले इतना हर्षित करती थीं और कैसे साफ साफ तुम यह समझने लगते हो कि तुम्हारी प्रशंसा की चाह अरूपांतरित प्रकृति की निम्न चेष्टामात्र थी। अग्नि तुम्हें तुम्हारी वर्तमान त्रुटियों का तीव्र भान कराके स्पष्ट दिखा देती है कि तुम्हारे सामने संभाव्य उन्नति का कैसा विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। दूसरे लोग सहस्र-मुख से तुम्हारे जो गीत गाते थे उनके प्रति तुम्हें ऐसा वैराग्य हो जाता है कि उन प्रशंसकों के विरुद्ध तुममें तीव्र रोष का सा भाव पैदा होता है जिन्हें तुम पहले कभी अपने मित्र मानते थे; इसके विपरीत, सब प्रकार की निंदा एवं आलोचना को अब तुम सत्य की ओर अपनी नम्र अभीप्सा के लिये आहुति समझकर उसका स्वागत सत्कार करते हो। अब यदि दूसरे तुमसे वैर-विरोध करते हैं तो उससे तुम्हारे अंदर खेद वा अपमान का भाव पैदा नहीं होता। कारण, कम से कम, अब तुम अत्यंत सुगमता से उसकी उपेक्षा कर सकते हो; अधिक से अधिक, तुम उसे अपनी वर्तमान दशा का एक और प्रमाण समझते हो जो तुम्हें उकसाता है कि भगवान् के प्रति समर्पण करके अपनी हीन अवस्था के ऊपर उठ जाओ।

उपलब्धि की प्रक्रिया में हर्ष अनुभव करो

अग्नि के प्रभाव के कारण तुम्हारे प्राण के रूपांतर का एक और अपूर्व लक्षण यह होता है कि तुम अपनी कठिनाइयों और बाधाओं का मुस्कराते हुए सामना करते हो। अब, यदि तुम किसी क्षण सोलहों आने खरे नहीं होते तो तुम पहले की तरह अपनी भूलों पर पछताते हुए और अत्यंत उदास होकर शोक से मूर्छित नहीं हो जाते। तुम केवल मुस्कराकर उदासी को दूर खदेड़ देते हो। सैकड़ों भूलें हो जाने पर भी तुम उनकी कुछ परवा नहीं करते: मुस्कराते हुए तुम उन्हें पहचानते हो कि तुमने भूलें की हैं और मुस्कराते हुए ही तुम संकल्प करते हो कि ऐसी मूर्खता फिर कभी नहीं करूंगा। सब प्रकार की उदासी और निराशा का कारण होती हैं विरोधी शक्तियां, वे तुमपर उदासी का पर्दा डालकर जितनी प्रसन्न होती हैं उतनी और कभी नहीं। निःसंदेह नम्रता एक और ही चीज है और उदासी बिल्कुल दूसरी चीज, पहली तो है दिव्य गति और पिछली अंधकारमय शक्तियों की अत्यंत असंस्कृत अभिव्यक्ति। अतएव, अपने कष्टों का सहर्ष सामना करो, रूपांतर के मार्ग को घेरनेवाली विघ्न-बाधाओं का निर्विकार प्रसन्नता से मुकाबला करो। शत्रु को भगाने का सर्वोत्तम साधन है उसके मुंह पर हंस देना! तुम शायद दिनों तक उसके साथ मुठभेड़ और संघर्ष करते रहो और फिर भी कदाचित् उसका साहस क्षीण न हो; किंतु जरा एक बार उसपर हंसकर देख तो लो! वह उलटे पांव भाग खड़ा होता है। आत्मविश्वास और ईश्वरविश्वास से भरी हुई हंसी शत्रु को बिल्कुल चकनाचूर कर देनेवाली बड़ी से बड़ी शक्ति है—इससे शत्रु के नायकों का हौसला टूट जाता, सेना में आतंक छा जाता और तुम्हारी विजय का पथ प्रशस्त हो जाता है और तुम सफलतापूर्वक बढ़े चले चलते हो।

रूपांतरित प्राण को उपलब्धि के मार्ग में भी हर्ष अनुभव होता है। इस मार्ग की सभी अनिवार्य कठिनाइयों को वह सहर्ष स्वीकार करता है, जब उसके सामने सत्य प्रकट कर दिया जाता है और उसकी निम्न प्रकृति में होनेवाली असत्य की क्रीड़ा उसे साफ साफ दिखा दी जाती है तब उसके हर्ष का पारावार नहीं रहता। वह योग को भार समझकर नहीं बल्कि अत्यंत आनंददायक कार्य के रूप में करता है। रूपांतर के लिये अधिक से अधिक जो कुछ भी आवश्यक हो उस सबको वह हंसते हंसते सहने को उद्यत होता है। वह न तो शिकायत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता और न बुड़बुड़ाता है बल्कि आनंदपूर्वक सहता है क्योंकि यह सब कुछ वह भगवान् के लिये कर रहा होता है। उसे ध्रुव विश्वास होता है कि विजय होकर रहेगी। वह अपने इस विश्वास से कभी क्षणभर के लिये भी डांवाडोल नहीं होता कि श्रीअरविन्द ने रूपांतर के जिस गुरुतर कार्य का बीड़ा उठाया है वह सफल होकर रहेगा। क्योंकि यह तो एक असंदिग्ध तथ्य है : इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं कि जो कार्य हमने अपने हाथ में लिया है वह फलीभूत होगा। हम अतिमानस का परीक्षणमात्र नहीं कर रहे बल्कि उसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति साधित कर रहे हैं। रूपांतरित प्राण को भावी विजय का पहले से ही ज्ञान होता है, वह प्रगति के लिये ऐसा दृढ़ संकल्प बनाये रखता है जो कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता, वह अपने आपको शक्ति से परिपूर्ण अनुभव करता है, और वह शक्ति पैदा होती है भगवान् की विजय में विश्वास से। वह जानता है कि भगवान् उसके अंदर सदा विराजमान रहकर वह सब कुछ कर रहे हैं जो आवश्यक है और उसे अपने शत्रुओं का सामना करने तथा अंत में उन्हें परास्त करने के लिये अजेय बल से भर रहे हैं। वह भला निराश क्योंकर हो और क्यों वह अपने दुःख का रोना रोवे ? रूपांतर तो होकर ही रहेगा। कोई भी चीज उसे कभी रोक नहीं सकती, सर्वशक्तिमान् का विधान टाले नहीं टलेगा। इसलिये सब प्रकार के भयसंशय और दुर्बलता को दूर भगाकर वीरतापूर्वक निरंतर सहते रहने का संकल्प करो, अंत में वह महान् दिन आ पहुंचेगा जब लंबा संग्राम स्थायी विजय में परिणत हो जायगा।

('मदर इंडिया' के सौजन्य से)

ला-ऊ-त्से ने कहा, "जहां तक मेरा संबंध है, मेरे पास तीन अमूल्य चीजें हैं जिनकी मैं प्राणपण से रक्षा करता हूं; वे हैं, दया, मितव्ययता, नम्रता। दयालु होकर मैं वीर हो सकता हूं, मितव्ययी होकर मैं उदार हो सकता हूं, और नम्र होकर मैं मनुष्यों का नायक बन सकता हूं। परन्तु आजकल लोग दया छोड़कर बल ही बल की साधना करते हैं; मितव्ययता तजकर केवल उदारता पर ही दृष्टि रखते हैं; अंतिम पद त्यागकर केवल प्रमुख पद की कामना करते हैं : यह उनकी मृत्यु है। दया वह वस्तु है जो आक्रमण के समय विजयी होती और रक्षा के समय निश्चित रहती है। जब ईश्वर किसी मनुष्य की रक्षा करना चाहते हैं तो वे उसे सब तरफ से दया से व्याप्त कर लेते हैं!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अमेरिकन प्रोफेसर की श्रद्धांजलि

(श्री रेमंड फ्रेंक पाईपर अमरीका के सिराकज विश्वविद्यालय में दर्शन के आचार्य हैं। उन्होंने श्रीअरविंद के जन्मदिन पर उन्हें निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित की। —सं०)

एक दार्शनिक के रूप में मेरे लिये श्रीअरविन्द की सबसे बड़ी देन है उनकी सत्ताविषयक महान् दृष्टि, जिसकी तीन दिशाएं हैं: मानव की महानता तथा भवितव्यता; दीर्घकालीन विकास का आशय, भगवान् की प्रयोगशाला और वैश्व चेतना का सार्वभौम सक्रिय रूप।

मानव मन की प्रकृति तथा उसकी दिव्य शक्यताओं के संबंध में उनका अटूट संगीत पश्चिमी मनोविज्ञान तथा ज्ञानशास्त्र की आत्मासंबंधी अपूर्ण, स्थूल एवं पृथ्वीग्रस्त झांकियों के ऊपर सुखद समीर के रूप में प्रवाहित होता है। वे मुझे यह जानने में सहायता देते हैं कि मैं क्या हूं और मैं असल में तथा गहराई के अंदर जीवन से क्या चाहता हूं। उनके नए विचार मेरे मन में आकर ऐसे रूप में परिणत हो जाते हैं कि मेरे अपने स्वरूप के विषय में जो सत्य हैं उनका वे मुझे स्पष्ट बोध कराते हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि इन सत्यों को मैं पहले नहीं जानता था। उनके लेखों में मन को दार्शनिक अन्तर्दृष्टि के प्रति जगाने की असाधारण शक्ति है। "दि लाइफ डिवाइन (भागवत जीवन)" का अधिकतर भाग मानवजाति के स्वातंत्र्य का उद्घोषण एवं चित्रण है।

विकास के संबंध में उनका मौलिक संदेश, जिसकी पश्चिमी जगत् को अत्यंत आवश्यकता है, यह है कि मन चेतना के अनेक स्तरों द्वारा अन्तःस्थ ईश्वर की उपलब्धि के परम आनंदमय लक्ष्य की ओर खुलता है। चेतना के स्तरों या आरोहणशील शृंखलाओं के इस विचार को मैं उनके ग्रंथों में विद्यमान एक अत्यंत उर्वर विचार अनुभव करता हूं। वे जड़तत्त्व को भी जानते हैं, पर उनके अनुसार प्रकृति कोई दीवार नहीं वरन् एक खिड़की है या यूं कहें कि एक क्रमावस्था है जिसका आशय उस प्रकाश से प्रकट होता है जो इंद्रियों के परे से चमकता है। विकास व्यक्ति और विश्व, सगुण और निर्गुण, निष्क्रिय और सक्रिय, मानवीय और दिव्य इत्यादि अनेक विरोधों की सर्जनशील परस्परक्रिया के द्वारा महान् दिव्य समन्वय की ओर अग्रसर होता है। बुराई दूसरे तरीकों से अप्राप्य अच्छाइयों को उपलब्ध करने के लिये अनेक मध्यवर्ती उपायों का काम करती है। उनकी की हुई विकास की आध्यात्मिक व्याख्या पश्चिम के जीवन-विज्ञानसंबंधी विचार का अत्यावश्यक परिपूरक है।

अंत में, वे इस प्राचीन हिन्दू विचार को कि भगवान् घट-घटवासी हैं ओजस्वी गद्य और पद्य में अनुपम सौष्ठव के साथ प्रकाशित करते हैं। ऐसा करते हुए वे पूर्व के नित्य ज्ञान तथा आधुनिक पश्चिमी विचारों के उत्कृष्ट सार का सुन्दर समन्वय साधित करते हैं; क्योंकि हमें भूलना नहीं चाहिये कि उन्होंने लन्दन तथा कैम्ब्रिज में शिक्षा ग्रहण की थी और यूरोपीय संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया था।

मैं उनके ग्रंथों में से ऐसे हजारों वाक्य चुन सकता हूं और उनमेंसे किसी के भी बारे में यह कह सकता हूं कि: इसके गूढ़ार्थों का अनुसंधान करो और तुम दार्शनिक ज्ञान के गंभीर अद्भुत देशों में जा पहुंचोगे। मैंने कभी ऐसे किसी लेखक को नहीं पढ़ा है जो इस गुरु के समान एक ही वाक्य में इतना अधिक सत्य भर सके। गांधीजी वर्तमान भारत के सबसे बड़े संत हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर सबसे बड़े कवि हैं, किंतु श्रीअरविन्द सबसे महान् विचारक हैं; वास्तव में, उन्होंने कवि, दार्शनिक तथा संत के रूप में अतुलनीय त्रिविध महिमा उपलब्ध की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद्हृदयता

[सद्-हृदयता (sincerity) साधना की कुंजी है। इसके बिना सब परिश्रम व्यर्थ है और इसके होने पर असफलता की चिंता अनावश्यक है। परंतु यह अपने आपमें साधना का विषय है, यह उत्तरोत्तर अभीप्सा से विकसित होती है और अंत में मन के सब क्षेत्रों में, प्राण की सब गतियों में और शरीर के रोम रोम में व्याप्त हो जाती है।

यहां हम श्री माताजी के सद्हृदयता पर कुछ एक वचन दे रहे हैं जिनका अध्ययन और मनन साधना के लिये, निश्चय ही, प्रेरणाप्रद होगा। —सं०]

सद्हृदयता, सद्हृदयता! कैसी मधुरिमा है तेरी पवित्र उपस्थिति की...

* *

सद्हृदय और विश्वासपूर्ण अभीप्सा की प्रत्येक गति प्रत्युत्तर में भगवत्कृपा की क्रिया को बुला लाती है।

* *

एक प्राचीन परंपरा के अनुसार यदि बारह सद्हृदय व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति और अभीप्सा के सम्मिलित बल से भगवान् का आवाहन करें तो भगवान् को जरूर प्रकट होना पड़ेगा। परंतु इच्छाशक्ति होनी चाहिये एकाग्र और उचित और अभीप्सा होनी चाहिये सद्हृदयता से पूर्ण।

* *

ध्यान में, जिस चीज की प्रथम तथा अलंघ्य आवश्यकता है वह है सारी चेतना में शुद्ध तथा पूर्ण सद्हृदयता की स्थिति। यह अनिवार्य है कि मनुष्य अपने आपको धोखा न दे, न दूसरों को धोखा दे अथवा उनसे धोखा खाये। हम पहले कह चुके हैं कि भगवान् को धोखा देने की कोशिश करना व्यर्थ और दयनीय चेष्टा होगी। बहुत बार मनुष्य कुछ आशा बना लेता है, उसकी कोई मानसिक अभिरुचि होती है अथवा प्राणिक इच्छा। वह चाहने लगता है कि अनुभव एक निश्चित ढंग से घटित हो अथवा एक निश्चित प्रकार का हो जो उसके विचार, उसकी अभिरुचि अथवा इच्छा के अनुकूल हो। वह निष्पक्ष स्थित नहीं रहता, कोरे कागज की तरह जो जो भी घटित हो उसे सरल तथा शुद्ध भाव में ग्रहण कर सके। ऐसी दशा में, जब कुछ अप्रिय घटित हो जाता है तो वह आसानी से अपने आपको धोखा दे लेता है। वह एक निश्चित वस्तु को देखता है परंतु उसे मानने में ठीक जरा सी गलती कर जाता है और तब उसको और ही वस्तु बना देता है। वह एक वस्तु के, जो शायद सीधी और सरल थी, अर्थ में जरा हेर-फेर कर देता है ताकि वह बड़ी होकर असाधारण अनुभव का रूप धारण कर ले।

* *

यदि तुम पूर्ण सद्हृदयता से समर्पण के मार्ग को ग्रहण करते हो, तब न तो कोई खतरा रह जाता है और न कोई गंभीर कठिनाई। सद्हृदय होना ही सारी बात है। परंतु यदि तुम सद्हृदय नहीं, तो योग में हाथ मत डालो। दुनियादारी के कामधंधों में कपट रहते भी सफलता की कुछ संभावना हो सकती है, परंतु भगवान् के संबंध में धोखे का जरा भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान नहीं। तुम अध्यात्ममार्ग पर खूब उन्नति कर सकते हो यदि तुम अपने अस्तित्व की गहराई तक निष्कपट और ग्रहणशील हो और यदि तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् को पाना और केवल उन्हीं से प्रचालित होना हो।

इस मार्ग पर दिखावा करना घातक होता है। मनुष्य भगवान् को धोखा नहीं दे सकता।

* *

अभीप्सा की सत्यता प्रयोजनीय सहायता को सदा खींच लाती है।

* *

यदि हम लेखनी से या जिह्वा से झूठ का व्यवहार करते हैं–वह झूठ कितना ही छोटा क्यों न हो–तो भला हम सत्य के पूर्ण दूत बनने की कैसे आशा कर सकते हैं। सत्य के पूर्ण सेवक को तो जरा सी अयथार्थता, अत्युक्ति अथवा विकृति से भी बचना चाहिये।

* *

यदि सद्हृदयता है तो सिद्धि निश्चित है।

–श्री माताजी

(मूल फ्रेंच से अनूदित)

नौका-गान

तेरा हृदय एक विशाल समुद्र है और मेरा हृदय एक क्षुद्र, अर्थहीन नौका।

पतझड़ की एक सायं न जाने तुझे क्या खिलवाड़ सूझा कि तूने उस नौका को जल के ऊपर छोड़ दिया।

तब से वह पालविहीन नौका बिना किसी डांड, पतवार और दिशासूचक यंत्र के–सर्वथा तेरी कृपा पर ही अवलंबित–लहरों में थपेड़े खा रही है, डगमगा रही है, चक्कर काट रही है।

मेरी हृदय-नौका आज घुमक्कड़ बन गयी है। उसे अब इस बात की चिन्ता नहीं कि वह बंदरगाह तक भी पहुंचेगी या फिर बीच में ही टूट-फूट कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी।

कहां की यात्रा है यह बात भी उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखती। उसे तो यही संतोष है कि यात्रा है तो तेरे हृदय-तल के ही ऊपर न!

(एक फ्रेंच कविता का स्वतंत्र रूपांतर)

–लीलावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह योग मेरे पति बेशक करें

एक सामान्य स्त्री को योग तथा आध्यात्मिक जीवन के विषय में बेहद आशंका रहती है। जिस परिवार में पुरुष को इस विषय की कुछ रुचि हो वहां स्त्री को अधिकांश चिंता ही यही रहती है कि कहीं उसके पति योग आदि में बहुत ज्यादा दिलचस्पी न लेने लग जायं। घर में कोई साधना-अभ्यास का क्रम शुरू होना स्त्री के लिये खतरे की घण्टी बन जाता है और तब स्त्री-पुरुष की आपसी वृत्तियां बुरी तरह उलझने और शंकाशील बनने लगती हैं। पुरुष समझने लगता है कि मेरी स्त्री मेरे भगवत्प्राप्ति के रास्ते में रोड़ा बन रही है। और स्त्री समझती है कि यदि ये योग और भक्ति में पड़ तो मेरा और बच्चों का फिर क्या होगा। विकटता विकटतर होती जाती है और हर तरह से शांति की जगह अशांति बढ़ने लगती है।

परंतु क्या यह अनिवार्य है? क्या योग, वास्तव में, स्त्री के लिये खतरे की घण्टी है? यदि योग का अर्थ है भगवान् को पाना अर्थात् जीवन में आनंद की अभिवृद्धि करना तो इसमें किसी को भी दुःख की आशंका क्यों हो? फिर क्योंकि भगवान् सब जगह व्याप्त हैं, जीवन के सभी क्षेत्रों में प्राप्य भी हैं इसलिये उनकी प्राप्ति का अर्थ होगा जिस क्षेत्र में भी मनुष्य है वहीं पर आनंद की अभिवृद्धि। हां, यदि भगवान् हिमालय की कंदरा में ही प्राप्य हों, जीवन और जगत् मानों उनके राज्य से बाहर हों तथा उनके विरोधी हों तब बेशक मनुष्य को जगत् से भाग जाने के सिवाय और चारा ही नहीं।

परंतु यह विचारधारा हमारे इतिहास में उस समय पैदा हुई जब हम किसी अंश में अवनति के पथ पर आ गये थे और जीवन को अधिकृत करने के लिये आत्मविश्वास खो चुके थे।

वेद और उपनिषद् के समय के साहस और आत्मविश्वास को देखते ही बनता है। जगत्-संबंधी तब की भावना भय और आशंका की नहीं, बल्कि आनंद की थी। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**—यह सारा जगत् ही ब्रह्म है, अन्न, जड़ जगत्, भी ब्रह्म है, प्राण भी ब्रह्म है, मन भी ब्रह्म है। ब्रह्म को अपनी आत्मा में ही चरितार्थ नहीं करना है बल्कि अन्न, प्राण और मन में भी। क्योंकि यह भी तो उसी की ही अभिव्यक्तियां हैं। कितना साहस और उत्साहपूर्ण दृष्टिकोण है।

उस समय स्त्रियां भी अपने सामर्थ्य से सजग थीं और वे लौकिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक सभी विषयों में अपना जीवन-विकास खोजती थीं। गार्गी, मैत्रेयी आदि कुछ नाम तो विशेष प्रसिद्ध हैं ही, इनके अतिरिक्त 'ऋषियों की पत्नियों', का काफी सामान्य उल्लेख है जिससे पता लगता है कि स्त्रियां अध्यात्म में भी पुरुषों की सहचारिणियां थीं।

यह उत्तम परंपरा टूटी कैसे? इतिहास और संस्कृति के उतार-चढ़ाव में यह ठीक कैसे हुआ यह कहना तो कठिन होगा परंतु महात्मा बुद्ध के समय अवस्था बदल चुकी थी। उनके अपने जीवन की ही एक मार्मिक घटना इसका प्रबल प्रतीक है। राजा शुद्धोदन की मृत्यु के बाद माता गौतमी ने प्रार्थना की कि भगवान्, मुझे संघ में ले लें। भगवान् ने ना कर दी। आनंद ने वकालत की। भगवान् ने कहा, "बस आनंद, स्त्रियों के गृहस्थ-जीवन छोड़ने तथा तथागत के सिद्धांत और विधान के अधीन अनिकेतन जीवन ग्रहण करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आज्ञा मुझसे मत मांगो।" परंतु आनंद ने एक दूसरे ढंग से अपनी वकालत को जारी रखा। उसने कहा, क्या स्त्रियां इस मार्ग के लिये अयोग्य हैं, क्या बुद्ध केवल पुरुषों के लाभ के लिये ही जन्म लेते हैं? महात्मा बुद्ध इनका उत्तर ना में नहीं दे सके। उन्होंने आज्ञा दे दी, परंतु कहा, "यदि स्त्रियों को संघ में आने की आज्ञा न दी जाती तो यह शुभ विधान हजार वर्ष तक रहता, अब यह केवल पांच सौ वर्ष तक रहेगा।"

महात्मा बुद्ध के जीवन की यह घटना उस समय की स्त्रियोंसंबंधी भावना का नमूना है। मध्यकालीन भक्त लोगों का दृष्टिकोण भी वैसा ही रहा, यद्यपि इस काल में अनेक स्त्रियां भी उच्च कोटि की भक्त हुई हैं। मीरा, अहल्या, सहजो आदि पूर्वकाल की गार्गी, मैत्रेयी और मदालसा का स्मरण करा देती हैं।

यह दृष्टिकोण क्यों बना, कैसे बना, क्या यह उस समय किसी तरह आवश्यक था तथा समग्र रूप में उससे लाभ पहुंचा, इन प्रश्नों में जाने की यहां आवश्यकता नहीं। परंतु यह निश्चित है कि यदि आध्यात्मिक जीवन सामान्य जीवन से अधिक आनंद का जीवन है, यदि पुरुषों को उसके अनुशीलन का अधिकार है तो इसका उतना ही अधिकार स्त्रियों को भी है, क्योंकि उनमें भी वैसी ही आत्मा है, जिसे वे भी चरितार्थ कर सकती हैं तथा अभिव्यक्त कर सकती हैं। वास्तव में, उन्हें इसके लिये सुभीते भी प्राप्त होने चाहियें, अन्यथा मानव समाज में संतुलित विकास संभव नहीं हो सकता।

मध्यकाल में जगत् और गृहस्थ-जीवन के त्याग की भावना विशेष प्रबल रही है और जब कोई पुरुष अपने अंदर आत्म-जिज्ञासा अनुभव करता तो उसकी स्वाभाविक इच्छा घरबार छोड़ देनें की होती थी। यह, वास्तव में, एक परंपरा ही बन गयी थी। इसका प्रभाव स्त्रियों पर वही हुआ जो अनिवार्य था। योग, आत्म-जिज्ञासा आदि से वे घोर भय खाने लगीं। जिस जीवन का एकमात्र ध्येय आनंद है उसे वे अपना दुःख और दुर्भाग्य समझने लगीं। परंतु यह हुआ इसीलिये क्योंकि उस आनंद से उन्हें वंचित कर दिया गया था।

इस परंपरा के संस्कार आज भी स्त्रियों में प्रबल रूप में विद्यमान हैं जो मौके मौके पर श्रीअरविंद आश्रम में रहते हुए आगन्तुक स्त्रियों में विशेष रूप में देखने को मिलते हैं। एक सज्जन पहली बार अकेले आये। यहां जब उन्होंने लगभग २०० स्त्रियों को आनंद से योग-साधना के जीवन का अनुशीलन करते देखा अथवा अपनी स्वतंत्र इच्छा से उन्होंने अपनी स्त्री को यहां का संपर्क दिलाना चाहा, जो भी हो, अगली बार वे स्त्री को भी साथ लाये। कुछ एक दिन यहां रह चुकने के बाद वे दोनों वर्तमान लेखक से मिलने चले आये और एक मनोरंजक चर्चा छिड़ गई। पुरुष खूब प्रसन्न थे, उनकी स्त्री भी कम प्रसन्न न थी। मैंने उत्साह से पूछा, सुनाइये, खूब आनंद से हैं न?

पुरुष—जी हां, खूब आनंद से हैं।

मैं—बहिनजी भी खूब प्रसन्न हैं न?

—वे तो बहुत ही प्रसन्न हैं। वे इतनी स्त्रियों को यहां इस प्रकार मस्त रहते देखकर आश्चर्यचकित हो रही हैं।

बहिनजी अपनी सुव्यक्त प्रसन्नता से इन शब्दों को संपुष्ट कर रही थीं और मैंने फिर सीधे उनसे पूछा—

कहिये, बहिनजी, खूब आनन्द में हैं न?

—जी हां, आश्रम को देखकर, यहां के स्त्री-पुरुषों को काम-काज करते देखकर मुझे बहुत ही अच्छा लगा है। इनके अंदर भगवान् के लिये प्रेम है, भक्ति है और खूब सेवा करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। आनंद से रह रहे हैं।

—पहले तो आप. . .मैंने, अपने प्रश्न को कैसे रखूं सोचते सोचते, ये शब्द कहे ही थे कि वे मेरे भाव को समझ गईं और बढ़कर बोलीं—

पहले तो सोचती थी, कैसा होगा श्रीअरविंद आश्रम। लोग पता नहीं कैसी कैसी तपस्या करते होंगे। स्त्रियों को तो भला वहां आज्ञा ही नहीं होगी।

—तो क्या यहां कुछ तप-साधना नहीं है? मैंने हंसते हुए कहा।

वह थोड़ा झिझकी और फिर सम्हलकर कहने लगी—

ना, मेरा मतलब था, यहां भूखे रहना, वस्त्र न धारण करना, कठोर भूमि पर सोना आदि आदि तपस्या नहीं। वैसे सेवा करना, सत्य बोलना, प्रेम-भाव रखना आदि तप तो यहां शायद ज्यादा हैं।

—असली चीज तो यही है न?

—हां, बराबर।

यहां वे थोड़े गंभीर भाव में हो गईं, मानों उनके मन में कोई विशेष विचार आया जिसे वे स्पष्ट रूप में चरितार्थ कर रही थीं। मैं प्रतीक्षा करने लगा। उन्होंने अत्यंत गंभीर भाव में कहा :—

आप लोगों का योग एक तरह से आसान भी है और दूसरी तरह से मुश्किल भी।

शब्द बड़े मार्मिक रूप में कहे गये थे, उनकी मौलिकता चमक रही थी, अर्थ भी कुछ हद तक स्पष्ट था, पर उनके मुख से इनकी व्याख्या सुनने की इच्छा से मैंने कहा—

वह कैसे?

वे कहने लगीं—

आसान तो यूं है कि इसमें व्यर्थ के कष्ट नहीं। आप सुख से खाते-पीते, रहते-सहते हैं।

हमारे योग का यह पक्ष तो सुस्पष्ट ही था, मैं दूसरा पक्ष जानने के लिये उत्सुक था। मैंने कुछ अधीरता से कहा—

पर यह मुश्किल कैसे है?

वे बोलीं—

मुश्किल यूं कि आप लोग कहते हैं कि चौबीसों घण्टे भगवान् का स्मरण रहना चाहिये। उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-हंसते तथा सोते भी भगवान् की स्मृति बनी रहनी चाहिये और सभी काम उसी की प्रेरणा को खोजते हुए करने चाहियें। और उन्हें फिर उसे ही अर्पित करना चाहिये। यह बहुत ये कठिन मामला है। जाड़ों के दिनों में गंगाजी में खड़े होकर दो घण्टे नहीं चार घण्टे गायत्री का जप करना आसान है परंतु चौबीस घण्टे का स्मरण-भाव बहुत कठिन है।

उन्होंने बड़े सरल और स्वाभाविक शब्दों में बात कही। परंतु वह थी सोलहों आने सत्य। मैं उनकी दृष्टि का मन ही मन मान कर रहा था। तुरंत मुझे ऐसी सूझी कि मैंने मजाक में कहा—

इस योग में पुरुषों को घरबार भी नहीं छोड़ना होता। यह स्त्रियों के लिये आराम की बात है।

वे बात के संकेत को खूब समझ गईं और हंसती हुई बोलीं—

"ना, यह योग ये बेशक करें।"

हम सब हंस पड़े।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द निकेतन, देहली में विश्वशांतिवादियों का स्वागत

५ जनवरी का दिन श्रीअरविन्द निकेतन के लिये जरूर आनंद का अवसर था। देश-विदेश से आए हुए शांतिवादी प्रतिनिधियों का परिचय प्राप्त करना तथा उन्हें श्रीअरविन्द के शांत और गंभीर आध्यात्मिक कार्य से अवगत कराना अवश्य ही इस संस्था के लिये अत्यंत प्रसन्नता की बात थी। श्री दिवाकर, मंत्री भारत सरकार, सभापति थे। उपस्थिति प्रायः विशेष रुचि रखनेवाले लगभग ५०० स्त्री-पुरुषों की थी। डा० श्यामप्रसाद मुकर्जी, मंत्री भारत सरकार, भी मौजूद थे। अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण हुए। श्री दिवाकर और डा० मुकर्जी ने श्रीअरविन्द के दृष्टिकोण को अत्यंत सुन्दर और प्रेरणाप्रद शब्दों में रखा। इंगलैंड के श्री रेगनाल्ड रेनोल्डस, फ्रांस की श्रीमती मग्दा टोक्म, चीन के डा० तुसंग तथा अमरीका की श्रीमती ग्रासरोड्स, इन चार प्रतिनिधियों ने भी भाषण दिये। सारा उत्सव बड़े आनंद का रहा।

उस अवसर पर संयोजक के रूप में श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर ने एक लिखित स्वागत-भाषण दिया। इसमें विश्व-शांति के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर श्रीअरविन्द की दृष्टि को विशेष रूप में उपस्थित किया। यह भाषण हम पूरे का पूरा यहां दे रहे हैं।—सं०

माननीय प्रतिनिधियो, देवियो तथा भद्रपुरुषो!

श्रीअरविन्द निकेतन में आपका स्वागत करना मेरे लिये विशेष आनंद तथा सौभाग्य का विषय है। इस संस्था का भी ध्येय व्यक्ति तथा समाज का शांतिपूर्ण विकास तथा जीवन की समस्वर परिपूर्णता है। लगभग ८ वर्ष हुए यहां के कुछ कार्यकर्ताओं को श्रीअरविन्द का एक मौलिक संपर्क प्राप्त हुआ था। वही इसके संगठन का कारण बना। समान ध्येय और आदर्शों के नाते से आप हमें अत्यंत प्रिय हैं और हम आपसे मिलने का यह अवसर कभी हाथ से जाने नहीं दे सकते थे। बौद्धिकता-प्रधान इस संसार में आप सद्भाव के अपूर्व गुण के प्रतिनिधि हैं, ऐसे सद्भाव के जो गंभीर लगन, समर्पण, सेवा तथा त्यागमय जीवन से प्राप्त होता है।

प्यारे प्रतिनिधियो, आप वैयक्तिक जीवन की पूर्णता के अत्युच्च आदर्श के भी प्रतिनिधि हैं। यह आदर्श आज उपेक्षित हो रहा है परन्तु इसके बिना सामाजिक जीवन में किसी प्रकार की प्रगति संभव नहीं हो सकती।

यह मेरा दुर्लभ सौभाग्य है कि मैं आज ऐसे महानुभावों का स्वागत कर रहा हूं जो सद्भावना तथा सत्य, सद्हृदयता तथा गवेषणा, वैयक्तिक जीवन तथा सेवा एवं क्रियाशील शांति तथा सार्वभौम समरसता के दूत हैं।

मुझे विश्वास है आप श्रीअरविन्द के विषय में भी कुछ जानने की, अवश्य ही, रुचि रखते होंगे। श्रीअरविन्द ने भी अपना अधिक समय पूर्ण जीवन तथा विश्व की समरसता के निःस्वार्थ आदर्शों के लिये शांत संलग्नता में व्यतीत किया है। किंतु इन समस्याओं को सुलझाने का उनका ढंग बहुत भिन्न है। इसी लिये उनका दृष्टिकोण आपको और भी रुचिकर होगा।

अपने जीवन के शुरू में ही श्रीअरविन्द ने अनुभव किया कि जीवन तथा जगत् का आध्यात्मिक तथ्य, जिसपर भारतीय संस्कृति ने सदा ही बल दिया है, सच्ची वास्तविकता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ सत्य है। और वे इसके अन्वेषण तथा अनुसंधान में फिर अधिकाधिक प्रवृत्त होते चले गये। उनके राजनीतिक कार्य में भी जब कि १९०७ में वे महान् स्वदेशी आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे, उनकी प्रमुख धारणाएं आध्यात्मिक थीं। योग, जो कि सामान्यतः व्यक्ति के लिये मुक्ति का साधन है, उनके लिये राजनीतिक कार्य का पूर्वनिश्चित लक्ष्य था। उनकी यह दृष्टि १९०९-१० के कारागार-वास में विशेष स्पष्ट हो गई और वहां से छुटकारा पाने के बाद वे पांडीचेरी के एकांत में पूरी शक्ति से अपने आध्यात्मिक कार्य में लग गए। १९२६ में उन्हें अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक ध्येय में सफलता प्राप्त हुई, और तभी श्रीअरविन्द आश्रम संगठित हुआ। १९२० में श्री माताजी आश्रम में पधारीं जिससे श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक कार्य में अपूर्व सहायता मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव प्रकृति के रूपांतर, सर्वांगीण आध्यात्मिक उपलब्धि, मानवीय एकता तथा सार्वभौम शांति के आदर्शों ने ही इन दो महान् विभूतियों को इकट्ठा कर दिया।

जब हम सार्वभौम शांति की दृष्टि से देखते हैं तो आश्रम निःसंदेह हमें एक छोटा सा स्थान लगेगा। किंतु यह एक प्रयोगशाला है जहां पर वास्तविक शांति तथा समस्वरता का निर्माण तथा परीक्षण हो रहा है। इस अनुसंधान में जिन तथ्यों को श्रीअरविन्द ने उपलब्ध किया है उनमें आपको, निश्चय ही, विशेष रुचि होगी।

यह सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मानवीय व्यक्तित्व अनेक विरोधी तत्त्वों का बना हुआ है। हमारे एक व्यक्तित्व में वस्तुतः अनेक व्यक्तित्व तथा द्वंद्व समाविष्ट हैं। इसी कारण जीवन तथा व्यवहार में अनेक प्रकार की असंगतियां तथा संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबका मूल कारण अंत में हमारे संवेगों अथवा इच्छाओं का दर्पात्मक अहंभाव होता है और वही हमारी वैयक्तिक अथवा सामाजिक अशांति के लिये उत्तरदायी है।

इन संवेगों अथवा इच्छाओं के बीच में कुछ आदान-प्रदान तथा समीकरण कर लेना और एक कार्यवाहक व्यवस्था बना लेना, निश्चय ही, संभव है। किंतु श्रीअरविन्द के लिये, जहां तक समस्या के वास्तविक समाधान का संबंध है, ये सब मन-बहलावामात्र हैं, क्योंकि इनसे हमें अपनी अहं-वृत्तियों को रूपांतरित करने में सफलता कभी नहीं मिलती। ये तो केवल हमारे संवेगों की परितृप्ति के प्रकार तथा परिमाण को ही कुछ नियमित करते हैं।

श्रीअरविन्द की मांग थी अहं-वृत्तियों के रूपांतर की और अपनी आध्यात्मिक गवेषणा में उन्होंने देखा कि मन के अतिरिक्त जो कि विभिन्न संस्कारों, वृत्तियों तथा उनके आश्रित भावों का एक संगठनमात्र है, मनुष्य में एक तत्त्व और भी है, जिसे वे "चैत्य पुरुष" कहते हैं। इस तत्त्व में एक स्वाभाविक संपूर्णता है। अतः यह जीवन में एक प्रगतिशील समस्वरता स्थापित करने में समर्थ है। यह विश्व-सत्ता के साथ भी समस्वरतापूर्वक संबद्ध है। इसलिये सार्वभौम समरसता तथा शांति सिद्ध करने के लिये श्रीअरविन्द तथा माताजी के लिये सबसे उत्तम साधन यही है कि ऐसे व्यक्ति तैयार किये जायं जो अपने विभक्त तथा विभाजनशील मन के स्थान पर एकतापूर्ण तथा ऐक्य स्थापित करनेवाले "चैत्य" में अधिकाधिक निवास करें। आश्रम में उनका सारा प्रयत्न इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये है।

तथापि अपने आपमें चैत्य पुरुष भी मानवीय प्रकृति के उस रूपांतर के लिये पर्याप्त नहीं है जो कि वास्तविक सार्वभौम सामरस्य स्थापित करने के लिये आवश्यक है। इसके लिये आवश्यक होगा एक उच्चतर आध्यात्मिक तत्त्व जिसे वे अतिमन कहते हैं। यह है, वास्तव में, उनका विशेष महत्त्वपूर्ण आविष्कार, जो कि विश्व सामरस्य के लिये अनिवार्य है। इसी के अवतरण से—पहले कुछ थोड़े और फिर अधिकाधिक व्यक्तियों में—वास्तविक शांति तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामरस्य पृथ्वी पर स्थापित हो सकेगा। इस विषय में स्वयं श्रीअरविन्द के अपने शब्द अत्यंत स्पष्ट तथा निश्चयात्मक हैं। वे कहते हैं:—"कोई भी समाधान केवल कामचलाऊ से अधिक कुछ नहीं हो सकता जब तक कि एक अतिमानस सत्य-चेतना प्राप्त न हो जाय। तभी वस्तुओं के प्रतीयमान रूप अपने ठीक स्थान पर आयंगे तथा उनका तत्त्व और वह अंश जो आध्यात्मिक सत्ता से सीधा संबद्ध है प्रकट हो पायगा। परंतु उस समय तक हमारी सुरक्षा इसी में है कि हम कोई आध्यात्मिक पथप्रदर्शक विधान ढूंढ़ निकालें, अथवा अपने अंदर एक ऐसा प्रकाश उन्मुक्त करें जो हमें तब तक मार्ग पर ले जा सके जब तक कि हम उस बृहत्तर साक्षात् सत्य-चेतना को अपने ऊपर अथवा अंदर प्राप्त न कर लें।"

प्यारे प्रतिनिधियो, देवियो और सज्जनो! आपने देखा कि इस समस्या के विषय में श्रीअरविन्द का दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक है। सार्वभौम समरसता तथा इसी प्रकार की अन्य मानवीय समस्याओं के लिये एक मौलिक समाधान को उन्होंने अपने जीवन के शुरू में ही भांप लिया था। इसी की खोज में वे दीर्घकाल तक लगे रहे। अंत में उन्होंने उसे पा लिया और अब बहुत वर्षों से वे उसे अपनी आश्रमरूपी प्रयोगशाला में क्रियान्वित कर रहे हैं। उन्हें अपने 'साधनों' तथा 'परिणामों' के विषय में पूरा विश्वास है और जितना भी समय इस कार्य में लगे उसके लिये वे कटिबद्ध हैं। आश्रम का यह प्रयोग स्पष्ट ही एक संकेंद्रित प्रयोग है किंतु इस प्रयोग के सिद्धांत किसी अंश में विस्तृत रूप में भी काम में लाये जा सकते हैं। और, वास्तव में ये सिद्धांत ही आपकेलिये विशेष रूप में उपयोगी तथा लाभदायक हो सकते हैं। मैं उन सबका ध्यान, जो विश्वशांति, सार्वभौम समरसता तथा आधारभूत मानव प्रगति के कार्य में संलग्न हैं, इनकी ओर खींचना चाहता हूं।

प्रतिनिधियो, देवियो तथा भद्रपुरुषो! आपने हमारे बीच में पधारकर हमें जो प्रसन्नता प्रदान की है उसके लिये मैं आपका धन्यवाद करता हूं। आपका यहां शुभागमन हमारे लिये अत्यंत सौभाग्य का अवसर रहा है।

—सुरेन्द्रनाथ जौहर

आत्म-निवेदन

हे युग के महर्षि! हे ज्ञान के गुरु! हे प्रेम के स्वामिन्! हमने अपने हृदय की शुभ्र वेदी पर तुम्हारा रत्नजटित सिंहासन प्रतिष्ठित किया है। इसपर आसीन होकर, अपने दिव्य ज्ञान की शंखध्वनि से हमें स्वदर्शित ज्ञानोज्ज्वल पथ पर ले चलो जिससे हम तुम्हारी कृपा के बल से केवल यही शब्द उच्चारण कर सकें: 'जो चीज मुझे अमृत धाम की ओर नहीं ले जाती उसे लेकर मैं क्या करूं?'

—राजा राव डी. एन. राय (लालगोला)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समन्वयात्मक विचारधारा

(बीकानेर साहित्य-सम्मेलन भादरा के अध्यक्षीय भाषण से)

यह निश्चित है कि साहित्य का आन्तरिक आलोक शाश्वत है। वह किसी कालविशेष अथवा देशविशेष की सीमा में सीमित नहीं हो सकता। परंतु आज तक वह आलोक जिस आवरण से आवृत था उस आवरण में एक अभूतपूर्व परिवर्तन अवश्यंभावी है। सौभाग्य और आशा के संचार का विषय केवल यही है कि जहां एक ओर मानव अपने समस्त कल्पना-संसार और आदर्शों की तिलांजलि देकर केवल अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही अपने जीवन के लक्ष्य की इतिश्री समझता है वहां साथ ही कुछ महामानव ऐसी साधना भी कर रहे हैं जिसके द्वारा केवल क्षणिक प्रश्नों और केवल संकुचित क्षेत्रों से आगे बढ़कर समस्त मानव जीवन अपनी सर्वलोकव्यापी सत्ता और अपने एक शाश्वत स्वरूप के दर्शन से कृतकृत्य होता जा रहा है। . . .

कुछ लोगों की दृष्टि में यह दृश्य केवल स्वप्नसंसार का दृश्य है पर लौकिक एवं अलौकिक दोनों दृश्यों में समन्वय और सामंजस्य को स्थापित करानेवाले अरविन्द-साहित्य से भी आज हमारा साहित्य-संसार एक नए आलोक से आलोकित हो रहा है।

मैं साहित्य की इस समन्वयात्मक धारा का प्रधान उपासक हूं। मेरा यह विश्वास है कि केवल जड़वादी अथवा अलौकिकवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा आज उस समीक्षण की प्रधान आवश्यकता है जो प्राणों के समान चेतन आत्मा और अचेतन शरीर में प्रकृति के एक सर्व-विकासक संबंध को स्थापित करती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम जगती के अतीत तत्त्व को जगती के प्रत्येक कण में समन्वित और प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न के बिना आज मैं जब भारत के बड़े बड़े विचारकों और मेरे निजी सहवासियों के विचारों में नवदर्शन की उत्कट इच्छा के साथ किसी न किसी एक निश्चित मार्ग को देखने की सच्ची लगन को देखता हूं तो प्रभु से मेरी यही प्रार्थना होती है कि वह इन सबको एकांगी दृष्टिकोण की अपेक्षा व्यापक रूप से सब प्रश्नों के पूर्वापर रूप को देखने और समझने की शक्ति दे। इस शक्ति के बिना न केवल भारतीय साहित्य अपितु साहित्यप्रभा-वाश्रित विश्व की समस्त राजनीतिक एवं सामाजिक गतियों में अज्ञानाश्रित एक परम दय-नीय दशा का दृश्य देखने को मिलता है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक साहित्य इस दयनीय दशा से ऊपर उठकर मनुष्य को उसकी इस भूल से अवगत न करा देगा तब तक किसी भी व्यक्ति अथवा समाज का उद्धार आज के इन प्रचलित क्षणिकवादों अथवा विवादों के आधार पर नहीं हो सकता।

—विद्याधर शास्त्री, एम. ए.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताकुंज–

लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा

होता प्रिय आदर्श हमें है, उसकी मांग न प्यारी,
कथनी होती अन्य हमारी, करनी उससे न्यारी,
बुद्धि और संकल्प समन्वित होवे कर्म हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

कर्म-निरत अविरत होवें हम तजकर कोरा भाषण,
कार्य सिद्ध कर पीछे उसका नाम करें उच्चारण,
संवत्सर भर यही नीति ध्रुव संबल बने हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

प्राणों में संचारित होवे पावन परम तपोबल,
प्रभु निमित्त कर्मों के संचय बन जावें ज्यों शतदल,
जिसके मधु से आप्यायित हो चेतन-भृङ्ग हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

भक्ति ज्ञान से दीपित होकर राजे शुद्ध समुज्ज्वल,
ज्ञान भक्ति से रसमय बनकर त्यक्त-दर्प हो निर्मल,
कर्म उभय से प्रेरित साधे दैवी धर्म हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

फूट पड़े उर में वह निर्झर जहां ज्योति का उद्गम,
आप्लावित हो जिससे अँग अँग आभा पा देवोपम,
ऊर्ध्वमुखी आधार-निचय अब संतत चले हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

आदि मध्य औ' अन्त निरंतर कर्मों के हों सुन्दर,
लक्ष्य निकटतर होता जावे क्षण क्षण इनके अंदर,
प्रकटित हो जीवन के नभ में नया भाग्य का तारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

वयोवृद्धि से खर्व न होवें यौवन-स्वप्न-उमंगें,
मात्र भग्न हों उन्मादों की भंगुर क्षणिक तरंगें,
शुचि प्रवृत्ति से उद्वेलित हो प्रेरक वेग हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धावमान होवें विलोक हम पूरणता का सागर,
प्रगति मध्य में रुद्ध न होवे बाधाओं को पाकर,
वारिधि में मिल नाच उठे चिर चेतन नीर हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा॥

जगज्जननी हैं कर्मसिद्धि की लाईं दिव्य कुशलता,
हेतुहीन अनुकंपा जिनकी देती कर्म-सफलता,
न्योछावर हो उनमें चित्-तन-मन औ' प्राण हमारा।
लावे नूतन वर्ष हमारे जीवन में नव धारा॥

—कुंजविहारी

हे ज्योतिर्मय !

ज्योतिर्मय ! आलोक करों से, छू दो व्याकुल प्राणों को भी।

अखिल विश्व को एक समझकर, मनु की आत्मा, मानव जागे,
मानव के उर में पर-हित-रत हो जाने का गौरव जागे,
अपने चरणों में आश्रय दो—कवि के गीले गानों को भी।
छू दो मेरे प्राणों को भी॥

जड़ता में चेतनता भर दो, होकर मुखर कल्पना जागे,
देख उषा को, सामगान के स्वर में विमल वंदना जागे,
मानव को देवत्व दान कर, वाणी दो पाषाणों को भी।
छू दो व्याकुल प्राणों को भी॥

कलुष मिटे जन जन के मन का, टूटे भय, संशय की कारा,
सबको मुक्ति सुलभ हो जाये, मरु में बहे अमृत की धारा,
पीड़ित वसुधा के कण कण में, दो बिखेर वरदानों को भी।
छू दो तममय प्राणों को भी॥

किरणों की पगध्वनि सुन करके, अंधकार कांपे संसृति का,
पुण्य-प्रसून खिले आभामय, आंगन हंसने लगे नियति का,
करुणा का हो स्रोत प्रवाहित, ज्ञान मिलें अज्ञानों को भी।
छू दो व्याकुल प्राणों को भी॥

—राजबहादुर "विकल"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्रारंभ

विजन पथ पर आज आया।
दूर से ध्वनि आ रही है तृषित और अशांत जग की;
किस अगम पथ पर हृदय का करुण-क्रंदन खींच लाया!
विकल, चंचल, कुटिल और अतृप्त जग की वासना में
चिर-प्रशांत, महान, नूतन, प्रेम का संदेश भाया।
लालसा, आशा, व्यथा के तिमिर घन में चमकता सा
अमरता का, पूर्णता का गड़ित स्मित मृदु हास पाया।
वेदना के शिखर से, आकुल-हृदय, धूमिल क्षितिज पर
देखता हूं चिर प्रतीक्षा में विहंसती एक छाया।
तार अन्तर के बजे, उल्लासमय स्वर-लहरियों में
डूबती देखी अहंता-रचित निखिल ममत्व माया।
विजन पथ पर आज आया।

—रघुवीरशरण

एक गीत

जा मन जहां प्रभु के चरण।
जीवन उन्हीं संग बीत पाये उन्हीं के ढिग मरण।
ऐसे कहां भाग्य अपने? कहां ऐसे आचरण॥
जा मन जहां प्रभु के चरण।

मां के हृदय से मृदुल, तन-छवि-सदृश, पंकज वरण।
पड़ते जहां जाकर वहां होता सुधा अवतरण॥
जा मन जहां प्रभु के चरण।

जब तलक हैं प्राण तन में, रक्त का संचरण।
प्रति निमिष सोते तथा जगते उन्हीं की शरण॥
जा मन जहां प्रभु के चरण।

जा मन! लिपट जा छोड़ना मत चरण वे मन हरण।
त्यागेंगे, वे दृगों पर न लाज का आवरण॥
जा मन जहां प्रभु के चरण।

—ओंकारनाथ त्रिवेदी "विनोद"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय–

विचार और अभीप्सा

सक्रिय नीरवता अथवा नीरव सक्रियता

नीरवता, निःशब्दता तथा शांति सामान्यतः कर्मरहितता अथवा कर्मविहीनता की द्योतक होती हैं। परंतु वास्तव में हैं ये कर्म की आधार-भूमि। सार्थक कर्म असल में होता वही है जो कर्त्ता नीरव, तटस्थ, स्वस्थ, शांत तथा आत्मस्थ होकर करता है, जब कि कर्त्ता ध्येय को स्पष्ट शुद्ध भाव में देखता है, उसे अविचलित भाव में धारण करता है तथा धीर भाव से उसका अनुसरण करता है, न कि जब वह रागद्वेष से किसी प्रतीयमान हित को ध्येय मान लेता है, आवेग और आवेश से आंदोलित रहता है और अपने आपको सर्वथा अस्थिर अनुभव करता है। वैसे हर कर्म का कुछ न कुछ फल होता है परंतु, प्रत्यक्ष ही, सचेतन मानव के लिये उत्तम कर्म वही हो सकता है जो वह स्वस्थ और सजग रूप में करता है।

इस विवेचन में आध्यात्मिक जीवन और मानवप्रकृति का एक अत्यंत गंभीर प्रश्न निहित है। वह यह कि यथार्थ कर्म की, सार्थक सफल कर्म की वास्तविक अवस्थाएं क्या हैं?

अवश्य ही, यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति अपने अंदर प्रवेश करके देखे तो वह कभी न कभी जरूर अनुभव करेगा कि बहुत बार वह कर्म और चेष्टा इसलिये करता है क्योंकि वह निश्चल नहीं रह सकता अथवा चेष्टा और कर्म उसे अपने आपमें स्फूर्तिप्रद लगते हैं, न कि इसलिये कि वह किसी उद्देश्य की सिद्धि चाहता है। उद्देश्य की सिद्धि केवल ऊपरी, घोषित और प्रदर्शित भावना होती है।

अगर यह सत्य है तब, निश्चय ही, हम एक भयंकर भ्रम में पड़ सकते हैं, हम घोषित आदर्श के भुलावे में आकर समझेंगे कि कर्म आदर्शानुकूल हो रहा है जहां कि वास्तव में जो कुछ हो रहा है उसका वास्तविक उद्देश्य प्राणिक प्रकृति की तुष्टि है। इसके विपरीत गंभीरतर अन्तर्निरीक्षण व्यक्ति को बतलायगा कि जब वह प्राणिक और मानसिक वृत्तियों से अलिप्त और तटस्थ होकर समता में स्थित होता है तभी वह सम्यक् कर्म के योग्य होता है। यही कर्म वास्तविक होता है और सफल होता है। ऐसे कर्म में शोरगुल नहीं होता, यह प्रायः ऐसी सहज और स्वाभाविक गति से विकसित होता है कि बहुत बार सिद्ध परिणाम ही हमारे सामने प्रकट होकर हमें आश्चर्यान्वित कर देता है।

यह भ्रम जहां व्यक्ति की कार्य-प्रणाली में विद्यमान हो सकता है वहां राष्ट्र की नीतियों और आयोजनाओं में भी समाविष्ट हो सकता है। हम इस भ्रम में पड़कर अपनी घोषणाओं से स्वयं अपनी शक्ति का ह्रास कर बैठते हैं तथा दूसरों में आशंका और विरोध पैदा कर देते हैं। कार्य तो निष्फल रहता ही है, व्यर्थ का झंझट और मोल ले लेते हैं।

श्री मातजी इस भ्रम को 'कर्म का भ्रम' (illusion of work) कहती हैं। यह मानव को उसके अन्य अनेक भ्रमों की तरह अच्छा लगता है, जीवन में संतोष लाभ करने का एक छोटा रास्ता जंचता है। तभी तो मनुष्य बहुत सारी दौड़-धूप तथा शोरगुल मचाकर समझने लगता है कि उसने बहुत सा कर्म कर डाला। माताजी ने एक और प्रकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कहा है कि "दस मिनिट तक कुछ कहने के लिये तुम्हें दस दिन तक शांत रहना चाहिये तथा एक दिन सार्थक कर्म करने के लिये तुम्हें एक वर्ष तक निश्चल रहना चाहिये।"* यहां, अवश्य ही, उच्च कोटि के सार्थक शब्द और कर्म अभिप्रेत हैं।

पश्चिम को अपनी 'प्रगति' की भावना पर विशेष गर्व है। वह अपनी चुस्ती-फुरती, दौड़-धूप और तेजी को जीवन का प्रमाण मानता है। प्रत्यक्ष ही वहां प्राणिक जीवन संपूर्ण जीवन का आदर्श बन रहा है। कुछ आश्चर्य नहीं जो गंभीरतर जीवनशैली उसे निष्क्रियता दिखाई दे, और नीरव सक्रियता तथा सक्रिय नीरवता विरोधाभासी शब्दमात्र प्रतीत हों।

परंतु हम उस धोखे में जानबूझकर नहीं पड़ सकते। हम अपना परंपरागत ज्ञान भूल नहीं सकते। माताजी स्मरण कराती हैं कि "कोई शिक्षा हितकर तभी हो सकती है जब कि वह सच्चे दिल से दी जाय, अर्थात् जिस समय दी जाय उस समय देनेवाला उसके अनुसार आचरण करता हो। जो शब्द प्रायः दोहराये जाते हैं, जो विचार प्रायः व्यक्त किये जाते हैं वे सच्चे नहीं रह सकते।" (Prayers and Meditations, p. 41) हितकर सच्ची शिक्षा की यह परिभाषा भारतीय जीवन में लोकोक्तियों का व्यापक विषय बनी हुई है।

शब्दों में शक्ति होती है जो कि व्यक्ति अपनी सच्चाई से उन्हें प्रदान करता है। यह उस शक्ति से भिन्न है जो कोई पण्डित अपने शब्दचातुर्य से उन्हें देने का यत्न करता है। इस शक्ति का ज्ञान, प्रत्यक्ष ही, अत्यंत उपयोगी होगा और इसे प्राप्त करके ही हम हार्दिक रूप में जान सकेंगे कि वाचालता में कैसा शक्ति का नाश होता है।

जैसे हम चंचलतावश बोलते रहते हैं वैसे ही चंचलतावश हम हाथ-पांव से कुछ कर्म भी करते रहते हैं और दोनों समान रूप में व्यर्थ और निष्प्रयोजन होते हैं।

माताजी अत्यंत करुण भाव में अपनी एक प्रार्थना में कहती हैं "यह सब शोरगुल, यह सब चेष्टा, यह व्यर्थ और थोथा उद्योग क्यों? . . . कितना दुःखद है यह दृश्य, इतनी शक्ति का ह्रास, इतने प्रयत्नों का नाश!

"हे प्रभु! मैं तुझसे प्रार्थना करती हूं कि अब तो मानव को तेरी शांति का ज्ञान हो और वह उस निश्चलता और अप्रतिरोध्य शक्ति को जाने जो स्थिर शांत भाव से पैदा होती है।" (Prayers and Meditations, p. 28)

यह स्थिर शांत भाव की अप्रतिरोध्य शक्ति ही मानव प्रकृति का गंभीरतम तथ्य है। यही सशक्तता तथा सफलता का रहस्य है। इसी में व्यक्ति के जीवन की सफलता है और यही राष्ट्र-नेताओं के लिये भी अनिवार्य है। यही सक्रिय नीरवता तथा नीरव सक्रियता का वास्तविक रूप है। और ऐसी नीरवता और ऐसी सक्रियता ही अंत में भागवत दर्शन भी करा देती है क्योंकि उसी के दिव्य रूप की तो ये विभूतियां हैं। माताजी कहती हैं "शांति और नीरवता में सनातन देव अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं।"

यह वर्ष हमारा सार्थक शब्द और सार्थक कर्म की साधना का वर्ष है। हम थोथे वचन और कर्म के धोखे को देख पायें, कर्मों के भ्रम से मुक्त हों और सच्ची नीरव सक्रियता के अधिकारी बनें; कर्म करें, और उपलब्धि करें, व्यर्थ की बातें और घोषणाएं न करें।

२१ फरवरी को, श्री माताजी के जन्मदिन, हम उन्हें इस दिव्य सक्रियता की जीवन्त मूर्त्ति के रूप में स्मरण करते हैं, उन्हें अपनी भक्ति समर्पित करते हैं और उनके इस वर्ष के संदेश को चरितार्थ करने में यत्नशील होते हैं।

---

*मातृवाणी, पृ० १३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय प्रजातंत्र

२६ जनवरी को भारतीय प्रजातंत्र का जन्म हुआ और यह दिन हमारे इतिहास में, अवश्य ही, अमर रहेगा। इस दिन भारतमाता ने अपनी समस्त भारत-संतान को उसके प्रतिनिधियों का बनाया हुआ स्वतंत्र संविधान प्रदान किया और उसके सामूहिक जीवन-विकास की रूप-रेखा निर्धारित की। इस दिन की तथा ऐसे स्वतंत्र भारतीय संविधान की ओर असंख्य भारत-संतान ने, तब से जब से कि हमने अपनी स्वतंत्रता खोई, बाट जोही है। उन सबकी आत्माओं को आज, अवश्य ही, अपार संतोष प्राप्त हुआ होगा। इससे अधिक सुख और सौभाग्य प्राप्त होगा उन आनेवाली पौदों को जो स्वतंत्रता के वातावरण में पलें-पुसेंगी और इस दिन को स्मरण करेंगी। उन्हीं का ही भारतीय स्वाधीनता के लक्ष्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व भी होगा। श्रीअरविन्द ने संघर्ष के दिनों, १९०९–१० में, ओजपूर्ण शब्दों में उद्घोषित किया था–"जिन समस्याओं ने मानवजाति को पीड़ित कर रखा है उनका हल तो केवल अंदर का राज्य जीतने से ही किया जा सकता है,–प्रकृति की शक्तियों को आराम और विलास के काम में लाने से नहीं, अपितु बुद्धि और आत्मा की शक्तियों का स्वामी बनने से, मनुष्य की बाह्य तथा आन्तरिक स्वतंत्रता को स्थापित करने से, और बाह्य प्रकृति पर अंदर से विजय पाने से। इस काम के लिये एशिया का पुनरुत्थान आवश्यक है, इसी लिये एशिया उन्नत हो रहा है। इसी काम के लिये भारत की स्वतंत्रता और महत्ता का होना अत्यावश्यक है, अतएव वह विधाता द्वारा नियत की गई अपनी स्वतंत्रता और महत्ता का दावा करता है।"

यूरोप ने पिछले ४०० वर्षों में जिस विज्ञानवाद की संस्कृति को पैदा किया है वह आज मानव के सामने विकट समस्या बन गई है। मानव समझता है उसने प्रकृति पर अधिकार पा लिया है परंतु वह उसी से बेहद आतंकित और भयभीत हो रहा है। श्रीअरविन्द के अनुसार प्रकृति को यूं बहिर्मुखी तरीके से जीतना जीतना नहीं। यह उसके दास बनने का तरीका है। उसे जीतना होगा उसके अंदर क्रियावान् विश्वात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करने से और यह संभव हो सकता है अपने अंदर अपनी आत्मा को प्राप्त करने से। अतः आज का गंभीरतम प्रश्न है व्यष्टि तथा समष्टि में आत्म-तत्त्व को खोजना और प्राप्त करना, ऊपरी प्रतीतियों के ज्ञान से तो अधिक भ्रामक और विकटतर स्थिति ही पैदा होती जायगी। इस खोज के लिये भारत और एशिया अपनी परंपरागत जिज्ञासा के कारण अधिक समर्थ हैं। इसी लिये इनका आज उदय हो रहा है और इस लक्ष्य को पूरा करना, प्रत्यक्ष ही, इनकी भावी संतानों का काम है।

प्रश्न पैदा होगा क्या हमारा संविधान, अपनी भावना में तथा प्रधान प्रेरणाओं में, हमें इस लक्ष्य की ओर उत्साहित करता है अथवा इस लक्ष्य के लिये यत्नशील होने में पूरी स्वतंत्रता देता है?

भारत के लंबे इतिहास में शासनतंत्र के विषय में भी अनेक प्रयोग और परीक्षण हुए हैं। अनेक ही शासन-शैलियां यहां बरती गई हैं। वैदिक समय में जीवन अत्यंत सरल था, तब समितियां, कहीं राजा सहित कहीं राजा के बिना, राज्य-व्यवस्था चलाती थीं। पीछे अनेक शुद्ध राजतंत्र भी हुए और अनेक प्रजातंत्र भी। वैशाली और लिच्छिवी के दो चिरस्थायी और प्रसिद्ध प्रजातंत्र राज्य विशेष परिचित हैं। राजा और सम्राट् तो अनेक ही हुए हैं। राजतंत्र के ऐसे रूप तथा इनके उपरूप कितने ही हुए हैं। परंतु इन सबकी मुख्य भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काफी स्पष्ट रूप में लगातार एक ही रही है। श्रीअरविन्द कहते हैं:—

"भारतीय जीवन में संस्कृति और सामाजिक आदर्शों का निर्धारक विचार मानव की अपनी आत्मा की खोज रहा है और इस अधि-प्राप्ति के लिये तथा अज्ञानमय प्राकृतिक स्थिति से आध्यात्मिक अवस्था तक आरोहण के लिये इसने सामान्य जीवन को क्षेत्र और आधार के रूप में बरता है। इसके लिये बेशक पहले निम्न भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृति का आवश्यक विकास पूरा हो जाना चाहिये।"

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति में मानव प्रकृति की भावना सदा ही अत्यंत पूर्ण रही है। इसने मानव को मूल में आत्मा स्वीकार किया है और इसे चरितार्थ तथा अभिव्यक्त करना लक्ष्य अंगीकार किया है। इसके साथ साथ शरीर, प्राण और मन की व्यावहारिक प्रमुखता को भी माना है और इनके लिये भी उचित मर्यादाएं बांधी हैं। परंतु यदि कोई संविधान मानव को कुछ भौतिक-मानसिक मांगों का ही पुतला स्वीकार करता है और फिर मानव मानव की ऐसी मांगों में मर्यादा बांधने की कोशिश करता है तो, निश्चय ही, उस संविधान का दृष्टिकोण तुच्छ माना जायगा।

चाहे कोई राज्यतंत्र हो या सामाजिक व्यवस्था, या शिक्षापद्धति, या साहित्यिक विचार-धारा या दार्शनिक दृष्टिकोण सबकी कसौटी एक ही है। वह यह कि इसके अनुसार मानवी व्यक्तित्व का स्वरूप क्या है? अथवा क्या यह वास्तविक व्यक्तित्व को विकसित होने का सुभीता देता है या नहीं?

अपना संविधान व्यक्ति और व्यक्तित्व का भरपूर मान करता है। यह उसे हर प्रकार के शोषण, सामाजिक, आर्थिक आदि से सुरक्षा प्रदान करता है। इससे अधिक उसे सांस्कृतिक विकास के लिये पूरी स्वतंत्रता देता है। यह सब बहुत सुन्दर है। परंतु इसमें व्यक्ति की भावना एक मानसिक और प्राणिक मानवमात्र की है। यहां दृष्टिकोण किसी तरह भी आध्यात्मिक नहीं। मानव के सब व्यवहार के मूल में कोई आत्म-तत्त्व है यह यहां किसी तरह भी विचार में नहीं। इसी लिये संविधान के सारे वातावरण में इसका स्पर्श नहीं, कोई संकेत नहीं। इस स्पर्श और संकेत का अभाव हमें अखरता है। हम समझते हैं संविधान में पृष्ठ-भूमिका के रूप में यह भावना यदि रही होती तो इसकी अपील भारतीय जनता के लिये बहुत बढ़ जाती और इससे सामान्य शासन में भी एक गंभीरतर दृष्टि आ जाती है। भौतिक जीवन के हितों की कशमकश का समाधान वास्तव में होता ही उच्चतर आध्यात्मिक दृष्टि से है, जहां हित मेरे तेरे अलग अलग नहीं बल्कि सबके हित में हर एक का हित होता है और हर एक के हित में सबका। यह दृष्टि व्यावहारिक शासन के लिये भी कितनी उपयोगी है।

हम समझते हैं कि धार्मिक और आध्यात्मिक भाव में यथार्थ अंतर न करने से ही ऐसा हुआ। धर्म और संप्रदाय के विषय में देश के संविधान को स्वतंत्र रखने की चिंता में विधान-निर्माताओं ने आध्यात्मिक आधार और प्रेरणा को भी दूर कर दिया। वास्तव में, ठीक इसी बात में भारतीय संविधान संसार में एक नए युग का सूत्रपात कर सकता था। मध्यकालीन यूरोप में राज्य सांप्रदायिक होते थे। राष्ट्रीयवाद और विज्ञानवाद ने प्रतिक्रिया में असांप्रदायिक राज्य अपना आदर्श बनाया। वह समय था मध्यकालीन अंधविश्वासी धर्म के प्रति घोर प्रतिक्रिया का। विज्ञान के प्रभाव के अधीन मानव जड़प्रकृति और अपनी बुद्धि को ही अंतिम तत्त्व मानना चाहता था। यह है असांप्रदायिक राज्य की असली भूमिका। आज यूरोप में भी वह नास्तिकवाद नहीं। बीसवीं सदी का विज्ञान अपनी गवेषणाओं द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तथ्य पर पहुंच चुका है कि जड़ पदार्थ अंतिम सत्ता नहीं। वैज्ञानिकों के परम आचार्य आईनस्टाईन के अनुसार तो सत्ता जरूर चेतन तत्त्व है और उसे हम वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक बुद्धि से नहीं अपितु धार्मिक अन्तर्दृष्टि से जान सकते हैं। भारतीय संस्कृति तो प्रतीतियों के पीछे वास्तविक संचालक-तत्त्व आत्मा को स्थिर रूप में अनुभव करती रही है।

ऐसी दशा में उचित ही था कि हमारे संविधान का आधार यह ज्ञान होता न कि १६वीं–१७वीं सदी का यूरोपीय प्रतिक्रियात्मक विज्ञानवाद जो पश्चिमी संविधानों का आधार चला आ रहा है। इस आधार से हमारा संविधान नकारात्मक रूप में असांप्रदायिक न रहता बल्कि भावात्मक रूप में आध्यात्मिक हो जाता, जिससे सब संप्रदायों को भी उचित विकास और समन्वय की दिशा प्रदान हो जाती। यह सांप्रदायिक संघर्ष का भी वास्तविक समाधान होता। अब तो हमने संप्रदायों के झगड़ों से मानों भय खाकर उन्हें आपस में ही सुलझने के लिये छोड़ दिया है।

हमारे संविधान की एक और प्रवृत्ति भी भारतीय जीवन के यथार्थ विकास के लिये आपत्तिकारक कही जा सकती है। वह है केंद्रीकरण। हमारे संविधान में केंद्र को खूब सशक्त बनाने का यत्न किया गया है ताकि विभिन्न प्रदेश अनुकूलता पाने पर स्वतंत्र राज्य बनने की चेष्टा न करें। अवश्य ही भारत अखंड रहना चाहिये और इस प्रकार के भय का उचित निराकरण होना चाहिये। परंतु साथ में यह भी विचारणीय है कि जहां प्रादेशिक लोग अत्यधिक केंद्र से शासित होने लगते हैं वहां उनकी मौलिक प्रेरणा नष्ट हो जाती है और वे अधिकाधिक राज्य पर पराधीन भाव में रहने-सहने लगते हैं। इससे प्रजा का आत्मविश्वास कम हो जाता है। राज्य, वास्तव में, वह अच्छा होता है जिसके पास शक्ति तो हो पर वह शासन कम से कम करे। इससे प्रजा में आत्मविश्वास और आत्मशक्ति तथा वास्तविक जीवन का विकास होता है।

हम स्वीकार करते हैं कि आज की परिस्थिति अत्यंत असाधारण है, राष्ट्रीय सुरक्षा विशेष चिंता का विषय बनी रहती है और उच्छृङ्खल भाव भी विशेष उग्र हो रहा है। अतः शासकों को अपना शासन-बल बहुत ज्यादा प्रयोग में लाना पड़ता है। फिर भी हमें जीवन-विकास की वास्तविक अवस्थाओं को भूल न जाना होगा, क्योंकि इनके पालन से ही अंत में राष्ट्र की शक्ति सुरक्षित रहेगी तथा परिवर्द्धित होती जायगी।

प्रतीत होता है चीन के प्राचीन मनीषियों और महात्माओं ने जीवन के उन्हीं मूल तत्त्वों को खूब मार्मिक रूप में अनुभव किया था जिन्हें भारत के प्राचीन ऋषियों और आचार्यों ने किया था। लाऊत्से का कहना है कि विचारशील राजा को सदा याद रहना चाहिये कि "राष्ट्र विकसित होता है, वह कारखाने में जिस तरह चीजें बनाई जाती हैं उस तरह बनाया नहीं जाता।" इसी संबंध में वह व्याख्यापूर्वक कहता है कि बहुत आज्ञाएं तथा निषेध तथा सामाजिक और राजनीतिक मामलों में लगातार हस्तक्षेप ठीक उन्हीं दोषों को पैदा करते हैं जिन्हें दूर करने के लिये ऐसा किया जाता है। यदि शासक निश्चल बैठना जानता हो, बहुत नियम-कानून बनाने से बाज रहे, विषय-वासना से मुक्त हो, तो प्रजाएं स्वतः उसका मान करने लगेंगी, आपस में अनुकूलता से रहने लगेंगी, और तब स्वर्ग और पृथ्वी का सम्मिलित सुख देश पर वर्षा के रूप में बरसने लगेगा।

यह आदर्श जहां प्राचीन चीनी आदर्श है वहां सर्वथा भारतीय आदर्श भी है और यह उच्चतम आधुनिक प्रजातंत्रात्मक विचार से पूर्णतया संपुष्ट भी है। हमारी प्रजातंत्रात्मक ग्राम-पंचायतें इसी आदर्श की चरितार्थता थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह आदर्श हमें स्मरण रहना चाहियें और यथासंभव द्रुत गति से हमें इसकी ओर अग्रसर भी होना चाहिये।

समग्र रूप में हम अपने संविधान से खूब संतुष्ट हैं। इसके बनाने में जिस सद्भाव, देशहित और बुद्धि का प्रयोग हुआ है वह हमारे गर्व की वस्तु है। इसमें परिवर्तन और संशोधन के लिये जो सुभीता छोड़ा गया है वह विशेष बुद्धिमत्ता का प्रबंध है और हम आशा करते हैं कि राष्ट्र मानव-जीवन के वास्तविक लक्ष्य को, जो कि भारतीय जीवन का सांस्कृतिक लक्ष्य है, अधिकाधिक स्पष्ट रूप में अवगत करता जायगा और उसके अनुसार उदार भाव में अपने संविधान को संशोधित और परिवर्द्धित करता रहेगा।

आत्मा की जीवन में पूर्णतर चरितार्थता, निश्चय ही, भारत की भावी संतानों का काम होगा। श्रीअरविन्द ने कहा ही है—

"संभवतः यह भारत की भावी संतानों का काम होगा कि वे अपने प्राचीन ध्येय को फिर से अपने हाथ में लेकर उसे अधिक पूर्ण आदर्श, अधिक व्यापक अनुभव एवं अधिक असंदिग्ध ज्ञान के साथ विस्तारित करें जिससे (सामान्य) जीवन और आत्मा का समन्वय साधित हो सके। यह प्राचीन ध्येय है—गंभीरतर आध्यात्मिक सत्य को उपलब्ध करके और अपनी सत्ता की असिद्ध आध्यात्मिक शक्यताओं को चरितार्थ करके उन्हीं के आधार पर मनुष्यसमाज के परमार्थ और व्यवहार की नींव रखना और मनुष्यजाति के जीवन को इस प्रकार अध्यात्ममय करना कि यह जातिगत महत्तर आत्मा की लीला बन जाय, विराट् पुरुष की सचेतन समष्टिगत आत्मा और शरीर बन जाय।"

परंतु यह लक्ष्य, जिसे भावी संतानें चरितार्थ करेंगी, हमारे सामने आज भी स्पष्ट रहना चाहिये और हमें यथाशक्ति इसकी ओर अग्रसर होने का यत्न भी करना चाहिये। प्रभु हमें बल दें और भारतीय प्रजातंत्र को स्थायित्व प्रदान करें।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द-साहित्य

The Human Cycle. By Sri Aurobindo. Published by Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, pp. 334, Price Rs. 7/-

यह पुस्तक गत नवम्बर में प्रकाशित हुई परंतु श्रीअरविन्द की अन्य पुस्तकों की तरह यह भी पहले 'आर्य' पत्रिका में धारावाही लेखों के रूप में निकल चुकी है। १५ जुलाई, १९१६ और १५ अगस्त, १९१८ के बीच में The Psychology of Social Development शीर्षक के अधीन प्रतिमास एक एक अध्याय करके निकलती रही। वही अब श्रीअरविन्द एक बार फिर देख गये हैं, कहीं कहीं पर उन्होंने कुछ टिप्पणियां बढ़ाई हैं और अलग पुस्तक रूप में प्रकाशित हो गई है। इसका नाम भी अब उन्होंने 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान' की अपेक्षा 'मानवीय क्रम' अधिक पसंद किया है।

जब यह पुस्तक लिखी गई थी तब पहला महायुद्ध चल रहा था। साम्यवाद और समाजवाद उसके बाद ही पनपे। परंतु युद्धकालीन प्रवृत्तियों को देखते हुए जो श्रीअरविन्द ने इनके बारे में लिखा वह, वास्तव में, पीछे कैसे चरितार्थ हुआ, यह पुस्तक को पढ़ते हुए विशेष आश्चर्यजनक लगता है। जर्मन मन के विश्लेषण को पढ़ते हुए भी हम अनुभव करते हैं कि यह अनिवार्य ही था कि जर्मन जाति पुन: उसी पहलेवाले सैनिक और साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा के दुश्चक्र में पड़ती। पुस्तक का प्रश्न है—मानव समाज का सामूहिक विकास कैसे होता है, उसके मौलिक सिद्धांत क्या हैं तथा वह किन किन प्रधान अवस्थाओं में से गुजरकर अपनी चरम अवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। इसी संबंध में बर्बरता, सभ्यता तथा संस्कृति और व्यक्ति तथा समाज के संबंध की भी विशद परिभाषाएं दी गई हैं। चरम अवस्था को जो कि पूर्ण समस्वरता, सहकारिता तथा सांस्कृतिक समृद्धता की आध्यात्मिक अवस्था होगी, विशेष व्याख्यापूर्वक समझाया गया है। परंतु पुस्तक के अधिकांश भाग में यूरोप और एशिया के ऐतिहासिक काल की सामाजिक प्रगतियों की विवेचना है। यह विवेचना सामान्य पाठक के लिये विशेष उपयोगी और रोचक होगी। इसके विचारपूर्ण अध्ययन से हम अपनी वर्तमान अवस्था को ठीक आंक सकेंगे और, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, आज की अंकुररूप प्रवृत्तियों से आनेवाले अनिवार्य परिणामों को किसी अंश में देख सकेंगे। और ऐसा करके, यदि हम काफी सजग हैं तो, उन परिणामों का यथोचित निराकरण करने का यत्न करेंगे तथा सामान्यरूप में अपने भावी विकास को निर्धारित करने की कोशिश करेंगे। सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं तथा उनके आपसी संबंधों का ज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण है यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसके बिना कोई जाति अपना यथोचित सामूहिक विकास साधित नहीं कर सकती। इस विषय की एक वास्तविक सम्यक् दृष्टि होना भी आवश्यक है क्योंकि अशुद्ध धारणाएं भुलावा उन्नति का देंगी, परंतु जाति को ले जायंगी विनाश के गर्त्त में।

हमें इस पुस्तक के प्रकाशन का समाचार देते हुए विशेष आनंद होता है और हम आशा करते हैं कि पाठकों को इससे जातिगत विकास के संबंध में यथार्थ भावना बनाने में खूब सहायता मिलेगी। यहां हमें यह भी कहते हुए आनंद होता है कि इस पुस्तक का एक लाख प्रति का एक संस्करण अमरीका में छपने जा रहा है जिससे सामूहिक विकास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की यथार्थ अवस्थाओं तथा यथार्थ आध्यात्मिक लक्ष्य के बारे में उचित भावना संभवतः अधिक विस्तृत क्षेत्र में पैदा हो सकेगी।

मानवीय विकास का अंतिम ध्येय और लक्ष्य जरूर आध्यात्मिक है, क्योंकि मानवी व्यक्तित्व तथा जगत् की मूल सत्ता आत्म-तत्त्व है जो विकासक्रम में अधिकाधिक अभिव्यक्त होता जा रहा है। मनोमय मानव का विवेचनापूर्ण निरीक्षण भी जतलाता है कि उसका मन अपूर्ण प्रकाश है तथा उससे बृहत्तर प्रकाश का अस्तित्व असंदिग्ध है। इस बृहत्तर प्रकाश की अभिव्यक्ति ही मानव में भावी विकास का लक्ष्य हो सकती है। और वह अवस्था, निश्चय ही, ऐसी होगी, जिसमें एक मानव दूसरे मानव के साथ तथा एक मानवसमुदाय दूसरे मानवसमुदाय के साथ व्यर्थ के आहंकारिक संघर्ष में नहीं पड़ेगा, बल्कि मानवजाति के एकत्व को प्रत्यक्ष-रूप में अनुभव करेगा और निज की भौतिक प्रेरणा से अपना विकास साधित करते हुए संपूर्ण जाति के विकास में हाथ बंटाने का यत्न करेगा। श्रीअरविन्द कहते हैं कि "मनुष्य की पूर्णता यह नहीं हो सकती कि वह भौतिक जीवन के अंधकार में चक्कर काटता रहे। न ही यह मनोमय पुरुष के अधिक विस्तृत चक्रों में घूमते रहने से प्राप्त हो सकती है; क्योंकि मन भी करणरूप है और यह किसी और ही चीज की ओर अग्रसर हो रहा है, जो इससे परे है, जिसकी शक्ति निश्चित रूप से इसमें कार्य कर रही है, पर जिसका अधिक व्यापक सत्य इसकी वर्तमान बुद्धि के लिये अतिचेतन एवं अतिमानसिक है। मनुष्य की पूर्णता तो नित्य-परिपूर्ण आत्मा को प्रकट करने में ही निहित है।" (पृ. ३०२)

परंतु इस सामूहिक पूर्णता का सूत्रपात तो व्यक्ति द्वारा ही होगा। समाजगत आध्यात्मिक युग की नींव व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन पर ही चिनी जायगी। श्रीअरविन्द का स्पष्ट निर्देश है कि "आध्यात्मिक युग के आगमन से पूर्व यह आवश्यक है कि ऐसे लोगों की संख्या अधिकाधिक बढ़ती जाय जो अब साधारण बौद्धिक, प्राणिक या भौतिक जीवन से संतुष्ट न रहकर यह अनुभव करने लगें कि एक महत्तर विकास ही मानवता का वास्तविक लक्ष्य है, जो उसे अपने अंदर चरितार्थ करने, दूसरों को उसका मार्ग दिखाने और जाति का उसे स्वीकृत ध्येय बनाने का यत्न करें।" (पृ. ३२६)

आज जिस विश्रृंखलता की अवस्था में से मानव गुजर रहा है उसमें वह आध्यात्मिक विकास की संभावना को असंभवप्राय ही मानता है। दो महायुद्धों ने सब मर्यादाओं और परंपराओं को खण्डित कर दिया है, जीवन में बेहद उथल-पुथल है और सारा वातावरण भय से व्याप्त है। कुछ आश्चर्य नहीं जो ऐसी दशा में अनेक उच्च कोटि के विचारक भी मानवजाति के भयंकर नाश की आशंका करने लगे हैं। परंतु श्रीअरविन्द की गंभीर दृष्टि मानव के आध्यात्मिक विकास को अटल रूप में देख रही है। वह इस उथल-पुथल से किसी तरह भी भयभीत नहीं, अपितु इसमें वह उस आवश्यक विघटन को देखती है जिसके बिना नया संघटन संभव नहीं। फिर भी आध्यात्मिक विकास मानव व्यक्ति तथा समाज के लिये जरूर ही एक लंबे प्रयत्न की वस्तु है। परंतु इस समय प्रश्न इसकी पूर्ण सिद्धि का नहीं बल्कि निश्चयात्मक जन्म का है। अभी तक मानव चेतना में आध्यात्मिक चेतना का स्थायी जन्म भी नहीं हो पाया है, समय समय पर इसका आविर्भावमात्र ही हुआ है। इस जन्म की श्रीअरविन्द इस समय संभावना बतलाते हैं। इतने मात्र से, वास्तव में, मानव विकास की प्रधान दिशा आध्यात्मिक हो जायगी और फिर आज की उलझन में एक रचनात्मक क्रम आ जायगा। इसके लिये मानव समाज में कुछ भावना होना जरूर अनुकूल अवस्था होगी और हम आशा करते हैं कि यह पुस्तक इस भावना के बनाने में सहायक होगी। —इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं

Sri Aurobindo, Indian Poet, Philosopher and Mystic. By G. H. Langley, with a foreword by the Marquess of Zetland, Royal India and Pakistan society, London, 1949, pp. 135.

यह छोटी सी पुस्तक रायल इंडिया तथा पाकिस्तान सोसायटी की ओर से पश्चिम के पाठकों को श्रीअरविन्द के विचार की विशेषता और महत्ता से अवगत कराने के लिये प्रकाशित की गई है। पुस्तक के दस छोटे छोटे अध्यायों में श्रीअरविन्द के गंभीर विचारों को अत्यंत सरलता तथा तुलनात्मक शैली से उपस्थित किया गया है। पुस्तक बड़ी सफल बन पड़ी है और लेखक महोदय इसके लिये बधाई के पात्र हैं। हमें विश्वास है कि पश्चिम के पाठकों के लिये ही नहीं बल्कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे पूर्व के पाठकों के लिये भी यह पुस्तक खूब उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक महोदय दर्शन के विद्यार्थी हैं तथा भारत में चिरकाल तक उपाध्याय तथा ढाका विश्वविद्यालय के उपकुलपति रह चुके हैं। भारतीय जीवन तथा विचार की भूमिका से खूब परिचित हैं। उन्होंने, निश्चय ही, अपने कठिन कार्य को बड़ी योग्यता और सहानुभूति से संपादित किया है।

लार्ड जेटलैंड का प्राक्कथन पुस्तक के लिये सुन्दर आभूषण है। लार्ड जेटलैंड बंगाल के एक समय गवर्नर रह चुके हैं और अपने चार पृष्ठ के वक्तव्य में श्रीअरविन्द के जीवन की कुछ एक घटनाओं का व्यक्तिगत ज्ञान के से भाव में वर्णन करते हैं। आप कहते हैं कि जब श्रीअरविन्द 'वन्दे मातरम्' का संपादन करते थे तब उन्होंने एक ट्रेक्ट लिखा था जिसका शीर्षक था "भवानी मंदिर"। उसमें एक आयोजना उपस्थित की गई थी। वह यह कि एक मंदिर हो जिसमें शक्ति प्रदान करनेवाली मा 'भवानी' की मूर्त्ति हो और उसके उपासक हों कर्मयोगी, जिनका उद्देश्य हो संसार में भारत के नियत कर्म को पूरा करना।

लार्ड जेटलैंड श्रीअरविन्द के उस समय के राजनीतिक तथा क्रांतिकारी काम को उनके सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ अलग वस्तु नहीं मानते। वे कहते हैं कि श्रीअरविन्द की उस समय जो मौलिक प्रेरणाएं थीं वही पीछे 'भागवत जीवन' के दर्शन में अभिव्यक्त हुईं। यह उनका विचार, वास्तव में, सत्य है। इसके अतिरिक्त वे लिखते हैं कि श्रीअरविन्द बौद्ध और वेदांत विचार की तरह व्यक्ति का अंत में लय नहीं मानते। इसे वे श्रीअरविन्द पर पश्चिमी प्रभाव मानते हैं। परंतु यह सत्य नहीं। श्रीअरविन्द का सारा दृष्टिकोण उनकी मौलिक आध्यात्मिक अनुभूति की उपज है और इस अनुभूति के तीन अंग अथवा पक्ष, व्यष्टि, समष्टि और परात्पर सत्ता, वे बार बार जतलाते हैं। व्यक्ति का नित्यत्व पश्चिम का प्रभाव नहीं, यह और बात है कि इस विचार के कारण श्रीअरविन्द उन्हें विशेष अपील करते हैं।

लेखक महोदय अपनी 'भूमिका' में पश्चिम के लिये श्रीअरविन्द का महत्त्व जतलाते हुए जो युक्तियां देते हैं वे भी बड़ी रोचक हैं। आप कहते हैं कि पहले तो श्रीअरविन्द कवि भी हैं और दार्शनिक भी। उनका विचार रवीन्द्रनाथ ठाकुर से "अधिक विस्तारपूर्ण तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमबद्ध है।" दूसरे, श्रीअरविन्द का दृष्टिकोण क्रियात्मक है कोरा दार्शनिक नहीं। वह अपने आध्यात्मिक अनुभव में जीवन की आधुनिक अवस्थाओं का समन्वय उपस्थित करते हैं। तीसरे, श्रीअरविन्द के अनुभव में "व्यक्ति का मूल्य" पूर्णतया सुरक्षित है। उनके लिये "व्यक्तियों की वैयक्तिक विभिन्नता तथा मूल्य और उनका भगवान् के साथ अभिन्न संबंध परस्परविरोधी विचार नहीं।" अंत में श्रीअरविन्द का विचार पूर्व के आध्यात्मिक अनुभव तथा पश्चिम के बुद्धिवाद और मानववाद में एक समन्वय उपस्थित करता है। यह पश्चिम के विज्ञानवाद को स्वीकार करता है और उसका एक आध्यात्मिक समाधान उपस्थित करता है।

इन कारणों से श्रीअरविन्द का विचार पश्चिम के लिये आज महत्त्वपूर्ण है। इस भूमिका के बाद लेखक प्रतिपाद्य विषय पर आते हैं। पहले वे एक अध्याय में श्रीअरविन्द की संक्षिप्त जीवनी देते हैं फिर 'आदर्श और मौलिक प्रश्न', 'मानव का मन और उसकी सीमाएं', 'आध्यात्मिक ज्ञान', 'आध्यात्मिक साधना', 'आध्यात्मिक सत्य की कसौटी' आदि शीर्षकों द्वारा अपने विषय को विकसित करते हैं।

सारी पुस्तक बड़ी सुन्दर बन पड़ी है और हमें विश्वास है यह अनेक पाठकों को श्री-अरविन्द के विचार में प्रवेश प्रदान करेगी।

—इन्द्रसेन

गुरुकुल-पत्रिका, स्वर्ण-जयंती विशेषांक, पृ० ९०, मास कार्तिक, वार्षिक मूल्य ४), गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

'गुरुकुल-पत्रिका' ने थोड़े से समय में ही अपने लेखों की विशेषता तथा दृष्टिकोण की मौलिकता से अपना एक निश्चित स्थान बना लिया है। यह, वास्तव में, एक ऐसी संस्था का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने आदर्श, उद्देश्य तथा ऐतिहासिक विकास के कारण देश के राष्ट्रीय जीवन में आदर का स्थान रखती है। इसी नाते से इसे अनेक विद्वानों और प्रतिष्ठित महानुभावों का सहयोग भी प्राप्त है। कुछ आश्चर्य नहीं जो इसकी पाठ्य सामग्री इतनी शोधपूर्ण, विविध तथा रोचक होती है।

प्रस्तुत अंक में सामग्री विशेष रूप से विपुल है और पाठक इसे, निश्चय ही, अत्यंत उपयोगी पायंगे। गुरुकुल-पत्रिका के लेखों में विद्वत्ता के साथ साथ सुन्दर सरसता भी होती है जो हमें बड़ी प्रिय लगती है।

यह अंक गुरुकुल के स्वर्णजयंती-महोत्सव के लिये निमंत्रण है और इससे हमारे अंदर अनेक विचार प्रेरित होते हैं। आज से ५० वर्ष पूर्व प्राचीन भारत के ऋषि-आदर्श को, चिरकाल की विस्मृति के बाद, वर्तमान में पुनः चरितार्थ करने की महान् आकांक्षा से इस संस्था को महात्मा मुंशीराम ने शुरू किया था। वह समय बड़े उत्साह का था। स्वामी दयानंद का व्यक्तिगत प्रभाव अभी सजीव रूप में अनुभव हो रहा था और उसी प्रभाव की महान् प्रेरणा से ला० मुंशीराम वकालत छोड़ त्यागी हुए और मौलिक शिक्षा द्वारा जातीय निर्माण के काम में जुट गये।

१९२४ तक गुरुकुल गंगा-पार अत्यंत रमणीक वातावरण में स्थित था। बाढ़ के बाद यह कनखल के पास आ गया जहां परिस्थिति यद्यपि उतनी प्राकृतिक और रमणीक तो नहीं फिर भी अवकाशपूर्ण तथा सुन्दर है।

स्वर्णजयंती के अवसर पर गुरुकुल को नए रूप में संगठित करने की आयोजना है। इसमें शिल्प का विभाग बढ़ाया जायगा, शोध को प्रोत्साहन दिया जायगा तथा इसे हर प्रकार से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक समुन्नत विश्वविद्यालय बनाने का यत्न किया जायगा। इस सबसे हमें खूब प्रसन्नता है। गुरुकुल ने बड़ी लंबी तपस्या की है, हम चाहते हैं कि यह अब देश के स्वाधीन हो जाने पर उचित विकास और मान को प्राप्त हो।

परंतु हम यह जरूर चाहते हैं कि यह अपनी मौलिक प्रेरणा को, जो कि इसका विशेष धन है, उत्तरोत्तर विकसित करता जाय। उसी प्रेरणा के अंदर सब आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों का समन्वय साधित करे। इससे यह एक अपूर्व सांस्कृतिक रचना में सफल हो सकेगा जो कि अन्य सामान्य विश्वविद्यालय नहीं कर सकते हैं। वह इसकी प्रेरणा थी आध्यात्मिक, आर्ष जीवन चरितार्थ करने की। इस दिशा में गुरुकुल के विकास की हम विशेष उत्सुकता तथा अभीप्सा से प्रतीक्षा करते हैं। ऐसे आर्ष जीवन के केंद्र की 'पत्रिका' भी फिर अपूर्व आध्यात्मिक संदेश का वाहन बन जायगी।

—इन्द्रसेन

संजीवन (मराठी पाक्षिक), संपादक और प्रकाशक—श्री भालचंद्र दत्तात्रेय लिमये, ३९१ सदाशिव पेठ, पूना २।

आजकल सब तरफ से यही आवाज आती है कि आदर्शमान सामान्य रूप से नीचे गिर गये हैं, देश में पतन और भ्रष्टाचार बढ़ चला है। परंतु विरले ही लोगों का ध्यान इस ओर जाता है कि राष्ट्र की उदीयमान आत्मा की बहुमुखी अभिव्यक्ति को पुष्ट और संवर्धित करने के लिये सच्चे प्रयत्नों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और इनसे राष्ट्रीय आत्मा स्पष्ट रूप में निरंतर बल पकड़ रही है। ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं कि जनता अपनी उस समृद्ध सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान-परंपरा को हृदयंगम कर सके जो उसके आश्चर्यमय अतीत की आधारशिला है और उसके अज्ञात भविष्य का निर्माण कर सकती है। 'संजीवन' इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न है। "जीवन के सर्वतोमुखी विकास" के ध्येय में लवलीन यह पत्रिका केवल महाभारत तथा गीता आदि प्राचीन ग्रंथों से ही अपनी लेखसामग्री नहीं जुटाती बल्कि श्रीअरविन्द और माताजी आदि जीवित विभूतियों के साहित्य में से भी सार-संग्रह करती है; यह वैयक्तिक और सामाजिक प्रश्नों पर उदार, प्रेरणाप्रद तथा विचारपूर्ण रीति से प्रकाश डालती है। इसके प्रत्येक अंक में श्रीअरविन्द के महाकाव्य, 'सावित्री', आदि ग्रंथों से आदर्शवाक्य और उद्धरण (गद्य और पद्य में अनुवाद करके) दिये जाते हैं, यह इसका 'विचार और अभीप्सा' शीर्षक स्थायी स्तंभ है। इसके बाद किसी उपयोगी विषय पर एक छोटा सा लेख रहता है जो प्रत्येक मनुष्य के लिये निर्मल चित्त से मननीय होता है। शैली और भाषा सुन्दर, सरस और सुसंस्कृत होने के साथ साथ सर्वसाधारण के लिये सुबोध हैं।

यह सभी प्रेमी पाठकों को निःशुल्क वितरित की जाती है। हमें यह जानकर हर्ष होता है कि इसके प्रबंधकों का विचार इसका क्षेत्र विस्तृत करने का है और वे जनता की ओर से पर्याप्त सहयोग एवं प्रोत्साहन मिलने पर इसे एक साथ दो या तीन भाषाओं में प्रकाशित करना चाहते हैं। हम संजीवन के संचालकों को बधाई देते हैं और उनके इस सत्कार्य में उनकी पूर्ण सफलता की शुभकामना करते हैं।

—माधव पु० पंडित

आरोग्य, मासिक पत्र, आरोग्य भवन, गोरखपुर, यू. पी., वार्षिक मूल्य ४)

हिन्दी में प्राकृतिक चिकित्सा के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करनेवाला शायद यह अकेला पत्र है। हर दृष्टि से सुरुचि का प्रतीक है। पाठ्य सामग्री तथा छपाई-सफाई सभी खूब सुन्दर हैं। 'संपादक की कलम' स्तंभ विशेष उल्लेखनीय है। आरोग्यमंदिर के कुछ एक अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशन भी हमारे देखने में आये हैं। उन्हें भी हमने बड़ा सुरुचिपूर्ण और उपयोगी पाया है। हम समझते हैं इस सारे साहित्य से सुन्दर लोकसेवा हो रही है और हम 'आरोग्य-भवन' की क्रियाशीलता की हार्दिक सफलता चाहते हैं।

चिकित्सासंबंधी दृष्टिकोण के बारे में हमें एक दो सुझाव रखने की इच्छा होती है। हम समझते हैं प्राकृतिक चिकित्सा जल-चिकित्सा से अधिक विस्तृत विचार है। इसमें जल के अतिरिक्त मिट्टी, व्यायाम, मालिश, भोजन तथा जड़ी-बूटी भी शामिल हैं। इन सब साधनों की अनेक चिकित्सा-शैलियां भारत में चालू रही हैं तथा आज भी हैं। मलाबार प्रदेश में मालिश एक पूर्ण चिकित्सा-शैली बनी हुई है। इनको खोजकर संगृहीत करना तथा सार्वजनिक ज्ञान में लाना 'आरोग्य' के लिये सराहनीय सेवा होगी। जहां तक पश्चिमी प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान की बात है हम कहना चाहते हैं कि लुई कोह्नी की जल-चिकित्सा के अलावा बीरखर बेनर की भोजन-चिकित्सा, पुस्ट की मिट्टी-चिकित्सा तथा शोनन बर्गर का समन्वित प्राकृतिक चिकित्सा-शास्त्र भी भारतीय जनता के सामने आने चाहियें।

हमें विश्वास है 'आरोग्य' जैसा सजग पत्र इन सब प्राकृतिक विचारधाराओं को संतुलित रूप में जनता के सामने रखना चाहेगा। इससे हिन्दी में इस विषय का समृद्धतर साहित्य पैदा हो सकेगा और यह हमारी आशा 'आरोग्य' जैसे पत्र तथा इसके योग्य संपादक और सहयोगी ही पूरी कर सकते हैं। हम आरोग्य भवन का विकास हृदय से चाहते हैं।

धर्मदूत, मासिक, महाबोधि सोसायटी, सारनाथ (बनारस), वार्षिक मूल्य २)

इतिहास की माया, महात्मा बुद्ध भारत में जन्मे, यहीं उन्होंने जीवनपर्यंत धर्मोपदेश दिया और जनता का भरपूर कल्याण किया, यहीं से हजारों प्रचारक विदेश में गये और वहां उन्होंनें बौद्ध-विचार और शिक्षा से लोक-कल्याण किया और वहीं, उसी देश में, फिर एक समय आया जब कि महात्मा बुद्ध की शिक्षा का लोप हो गया। यह क्यों हुआ और कैसे हुआ, इस विषय में यहां जाने की आवश्यकता नहीं, लेकिन आज हम हृदय से स्वीकार करते हैं कि बौद्ध शिक्षा और संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक विशिष्ट विकास है और इसने अपनी शैली से भारतीय संस्कृति को ही विकसित और प्रचारित किया है। यह सांस्कृतिक पौधा अपनी जन्म-भूमि में अब पुनः हरा होता दिखाई देता है और हम इसमें हार्दिक प्रसन्नता मानते हैं।

'धर्मदूत' पत्रिका इसी प्रगति का प्रतीक है। पत्रिका में कुछ तो त्रिपिटकों से बुद्ध-वचन होते हैं जो अत्यंत मार्मिक और सरस होते हैं तथा कुछ स्वतंत्र लेख और कविताएं आदि। सारी सामग्री सुपाठ्य और सरस होती है। पत्र के अध्ययन से, निश्चय ही, विचारशीलता और धार्मिक भाव बढ़ेंगे।

किसी भी विचार-धारा के प्रचार के लिये संस्था और संगठन की आवश्यकता होती है। परंतु इससे यह अनिवार्य नहीं हो जाता कि वह भावना में संप्रदाय बन जाय। हमारा विश्वास है कि यदि यह विचारधारा अपने स्वतंत्र सांस्कृतिक प्रगति के रूप को बनाये रखेगी तो यह उन्नत भी खूब होगी और इससे लोकहित भी खूब होगा।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। मूल्य २॥)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं—जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २॥)

योगदीक्षा

श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है। मूल्य १)

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८, ४९ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६॥)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १॥)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

सुन्दर कहानियां		प्रकाश की ओर	॥)
कर्मयोगी	२॥)	वेद-रहस्य (सजिल्द), खंड १, २	९), ४)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,,	८), ३)
चार साधन	॥)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२॥)	इस जगत् की पहेली	१)
विचार और झांकियां	॥)	जगन्नाथ का रथ	॥)
दयानन्द	॥)	श्रीअरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम)	॥)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१॥)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१॥)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२)
गीताप्रबन्ध	६॥)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	॥)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	१)	श्रीअरविन्द और उनका योग	॥=)
योग के आधार	२)	पूर्णयोग	१॥)

फोन: कार्यालय ८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली

(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

फोन: घर २५१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्ष ८ अङ्क २ अप्रैल १९५०

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

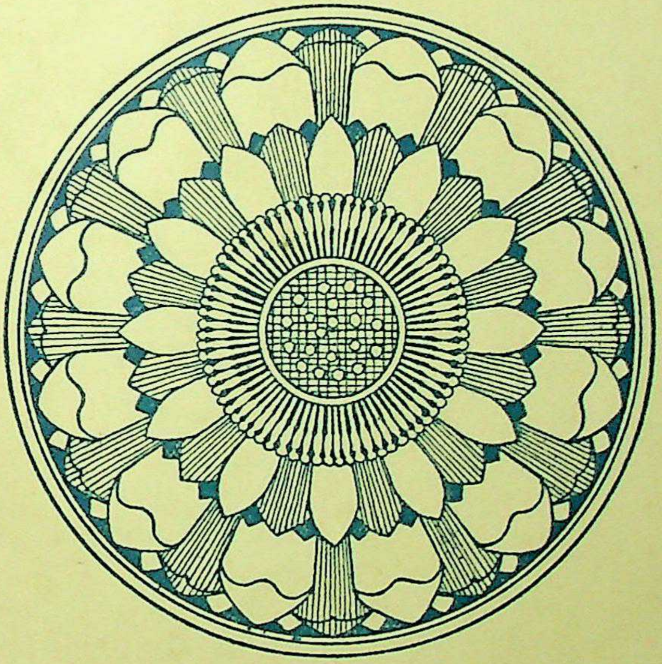

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं–एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

–श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १॥)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३॥ शिलिंग वार्षिक १२॥ शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

तीसवीं कला

२४ अप्रैल, १९५० के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष्य में

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* सूचना *

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें विचारें और अपने अंदर रखने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्त्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखायी देने लगते हैं। यह चमत्कारक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi

Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.

186—50—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अदिति, अप्रैल १९५०

चुने हुए फूल ६८

मातृवचनामृत– . . . .

प्रार्थना व ध्यान ६९

भविष्य-दृष्टि ७१

'थोड़ी देर बाद' का पथ ७३

श्रीअरविन्द-वाणी– . . . .

विशेष वचन–अतिमानस के अवतरण का मानवजाति पर क्या प्रभाव पड़ेगा? . ७६

ईशोपनिषद्–लोक और सूर्य ७७

कुछ एक विशेष पत्र (२) ८२

अतिमानस और मनुष्यजाति ८७

विविध– . . . .

आलोक के पथ पर . . . . श्री नलिनीकांत गुप्त . . ९६

बच्चों की प्रार्थनाएं . . . . बालप्रकृति का एक विद्यार्थी ९८

मानव एकता का आदर्श . . . . . डा. इन्द्रसेन . . . १०१

क्या आप जरा जरा सी बात बहुत महसूस करते हैं? एक मनोवैज्ञानिक . . १०५

श्रीअरविन्द आश्रम . . . . डा० इन्द्रसेन . . . १०७

"मौनं व्याख्यानम्" . . . . श्री अभय ११०

सुकेशा ऋषि का प्रश्न . . . . . . श्री अनूपलाल . . . ११२

कविता-कुंज– . . . .

जीवन-ज्योति . . . . श्री नारायणप्रसाद . . ११४

पिक के प्रति . . . . श्री ओजराज पंत . . ११४

पुकार . . . . श्री त्रिभुवननाथ . . ११५

मातृ ओर . . . . डा० रामकृष्ण . . . ११६

दर्शन . . . . श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पति . ११७

संपादकीय (विचार और अभीप्सा)– . . . डा. इन्द्रसेन . . . ...

वास्तविक सक्रियता ११८

शिक्षा का आदर्श १२१

श्रीअरविन्द-साहित्य १२२

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं १२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

समत्व की गभीर शांति के अंदर प्रेम वर्द्धित होगा और अटूट शुद्ध एकत्व के बोध के अंदर अपने पूर्ण विकास को प्राप्त करेगा।

★

पहला पग है पूर्ण स्थिरता और समत्व।

★

विशाल शांति और स्थिरता वहां विद्यमान हैं, प्रस्तुत हैं। तुम्हें बस उनकी ओर अपने आपको खोलना है और उन्हें ग्रहण करना है।

★

तुम्हारे ऊपर और अंदर जो चेतना काम कर रही है उसकी ओर अपने आपको खोलो और सदा शक्तिभर अचंचल और शांतिपूर्ण बने रहो।

★

सदा अचंचल, स्थिर और शांत बने रहो और दिव्य शक्ति को अपनी चेतना में पारदर्शक पूर्ण सद्हृदयता में से कार्य करने दो।

★

दिव्य ज्योति की ओर उद्घाटन बल-प्रयोग द्वारा साधित नहीं किया जा सकता।

★

मैं केवल अज्ञान की, अचेतनता की और अहंकार की सीमितता की ही आहुति देने के लिये कह रही हूं–पर कितने अद्भुत अतुलनीय लाभ के लिये।

★

तुम्हारा मन अत्यधिक सक्रिय है। इस कारण तुम मेरी इच्छा के अनुसार सहज भाव में परिचालित नहीं हो सकते।

★

सब कुछ निर्भर करता है श्रद्धा की तीव्रता तथा युक्त-भाव की दृढ़ता पर।

★

धैर्य और अध्यवसाय होने पर सभी प्रार्थनाएं पूरी हो जाती हैं।

★

तुम्हें अपनी अभीप्सा को अटूट बनाये रखना चाहिये और अपने प्रयास में धैर्य के साथ लगे रहना चाहिये–फिर तुम्हारी सफलता निश्चित है।

★

स्थिर और धैर्यवान् रहो–सब कुछ ठीक हो जायगा।

★

भगवान् की कृपाशक्ति, संकल्पशक्ति और क्रिया पर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास बनाये रखो–फिर सब कुछ ठीक हो जायगा।

★

प्रत्येक चीज अपने समय पर आयेगी; विश्वासपूर्ण धैर्य बनाये रखो–फिर सब कुछ ठीक हो जायगा।

–श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द
का
एक ताजा पत्र

तुमने अपने एक पत्र में कहा है कि हमारे चारों ओर के जगत् में आज जो अंधकार छाया हुआ है उसका तुम्हें कैसा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। तुम जो इतनी बुरी तरह उद्विग्न हो रहे हो तथा आक्रमण को तुरंत दूर नहीं कर पाये उसमें इस चीज का भी हाथ अवश्य है। मुझे तो अंधकारमय अवस्थाएं निरुत्साहित नहीं करतीं, न ही वे मुझे इस बात का निश्चय कराती हैं कि "संसार की सहायता" करने का मेरा संकल्प निरर्थक है, क्योंकि मुझे मालूम था कि ऐसी अवस्थाएं आनी हैं। वे विश्वप्रकृति में उपस्थित ही थीं और उनका प्रकट होना निश्चित था ताकि वे समाप्त या बहिष्कृत की जा सकें और उनसे मुक्त एक अधिक अच्छा संसार जन्म ले सके। तथापि, बाह्य क्षेत्र में कुछ कार्य पूरा हो चुका है और वह आंतरिक क्षेत्र में भी कुछ कार्य सिद्ध करवाने में सहायक हो सकता है अथवा उसके लिये हमें तैयार कर सकता है। उदाहरण के लिये भारत स्वतंत्र हो चुका है और भगवान् के कार्य के लिये यह आवश्यक था। इस समय जो कठिनाइयां भारत को घेरे हुई हैं और जो कुछ समय के लिये शायद बढ़ भी जायं, विशेषकर पाकिस्तान के झमेले के संबंध में, वे भी ऐसी चीजें थीं जो प्रकट होनी थीं और फिर साफ की जानी थीं। यहां भी पूरी सफाई होनी निश्चित है, चाहे दुर्भाग्यवश, इस कार्य में मनुष्य को अवश्यमेव बहुत काफी संकट झेलना पड़ेगा। उसके बाद, भगवान् के लिये कार्य करना अपेक्षाकृत आसान हो जायगा और यह भी खूब संभव है कि संसार को आध्यात्मिक प्रकाश की ओर ले जाने का स्वप्न,—यद्यपि यह स्वप्नमात्र नहीं है—वास्तविक सत्य बन जाय। इसलिये आज इन अंधकारमय अवस्थाओं में भी मैं यह मानने को उद्यत नहीं हूं कि संसार की सहायता करने का मेरा संकल्प जरूर असफल ही होगा।

यह जो आक्रमण तुमपर हुआ है, तथा यह तुम्हारा विषाद और स्नायवीय विक्षोभ, ये सब विरोधी शक्तियों के व्यापक आक्रमण के ही भाग थे। ये शक्तियां पिछले कुछ अर्से से प्रचण्ड वेग से हमपर आक्रमण कर रही हैं, किंतु मैं आशा करता हूं कि तुम्हारे लिये इसका अत्यंत विकट काल बीत चुका है तथा आगे को तुम अपनी साधना में बिना विघ्न-बाधा के बढ़ सकोगे। निःसंदेह तुम्हें कृष्ण का साक्षात्कार कराने के लिये मुझसे जो भी सहायता बन पड़ेगी वह सब मैं अवश्य करूंगा। मैं तुम्हारे लिये जो कुछ चाहता हूं वह इसके अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं, क्योंकि भगवान् की उपलब्धि ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और शेष सब चीजें वहीं तक वांछनीय हैं जहां तक कि वे इस उपलब्धि में सहायता करती हैं या उस ओर हमें ले जाती हैं अथवा उपलब्धि हो जाने पर उसे विस्तारित तथा अभिव्यक्त करती हैं। अभिव्यक्ति या भागवत कर्म के लिये संपूर्ण जीवन का संगठन ही मेरे योगका संपूर्ण आशय और उद्देश्य है। अर्थात् पहले तो वैयक्तिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सामूहिक साधना जो उपलब्धि के लिये तथा सिद्ध व्यक्तियों के सामूहिक जीवन के लिये आवश्यक है; दूसरे, संसार की सहायता जिससे यह प्रकाश की ओर बढ़े और उस में निवास करे। परंतु उपलब्धि सबसे पहली आवश्यकता है और शेष सब चीजें उसी पर आश्रित होती हैं, क्योंकि इसके बिना बाकी सब चीजों का कुछ अर्थ ही नहीं है। न तो माताजी को और न मुझे स्वप्न में भी कभी ऐसा विचार आया और न ही आ सकता है कि हम इसका स्थान किसी और चीज को दें या किसी और चीज के लिये इसकी उपेक्षा कर दें।

तो भी, मैं एक बात बलपूर्वक कह देना चाहता हूं कि यह जरूरी नहीं कि भगवान् की प्राप्ति का केवल एक ही मार्ग हो। यदि किसी को ध्यान की प्रचलित विधि से या जप-सरीखी विधियों से भगवान् को प्राप्त करने, उनका अनुभव या दर्शन करने में सफलता नहीं मिलती या अभी तक नहीं मिली है तो, वह हृदय में बारंबार भक्ति का आवाहन करके या उसे चेतना में निरंतर अधिकाधिक विस्तारित करके या भगवान् के लिये कर्म करके और सेवा में अपने आपको न्योछावर करके भगवत्प्राप्ति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।...समर्पण का मार्ग सचमुच ही कठिन है, परंतु यदि कोई सच्चे हृदय से धैर्यपूर्वक इसमें लगा रहे तो कुछ सफलता अवश्य होगी ही और अहंकार किसी अंश में विजित अथवा कम होगा ही। यह चीज इस मार्ग पर और आगे बढ़ने में बहुत अधिक सहायक हो सकती है। जैसा कि गीता बलपूर्वक कहती है, मनुष्य को योग के मार्ग पर निराशारहित चेतना से, अनिर्विण्णेन चेतसा, बढ़ना सीखना होगा। अगर वह फिसल ही पड़े तो स्थिति पुनः संभाल लेनी होगी; और अगर वह गिर ही पड़े तो फिर उठकर, निरुत्साहित हुए बिना, भगवान् के मार्ग पर चलते जाना होगा। उसकी वृत्ति होनी चाहिये "भगवान् का वचन है कि वे मुझे अवश्य दर्शन देंगे यदि मैं उनकी शरण सदा पकड़े रहूंगा। और यह मैं छोड़ूंगा नहीं, चाहे जो भी हो।"

४ अप्रैल, १९५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

मातृवचनामृत–

प्रार्थना व ध्यान

जव व्यक्ति में प्रयासमात्र का अंत हो जाता है तो वह सरल बन जाता है। फूल के खिलने में जो सरलता होती है उसी सरलता से वह अपने सौंदर्य को व्यक्त करता है और बिना हो-हल्ले और आवेगपूर्ण क्रियाओं के अपनी सुगंधि फैला देता है। इसी सरलता में अधिकतम वल होता है जिसमें कम से कम मिलावट होती है और जो कम से कम हानिकारक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। प्राणशक्ति का विश्वास नहीं करना चाहिये, यह कर्म-मार्ग में प्रलोभक है। इसके जाल में फंसने का डर सदैव ही रहता है, क्योंकि इसमें तुरत परिणाम का आकर्षण होता है। कार्य करने के प्रथम उत्साह में हम इसे प्रयोग में लाने के लिये बलात् आकर्षित हो जाते हैं। परंतु शीघ्र ही यह हमारे कर्तृत्व को विपथ पर डाल देती है, और फिर जो कुछ हम करते हैं उसमें यह भ्रांति और मृत्यु का अंश समाविष्ट कर देती है।

सरलता, सरलता! तेरी उपस्थिति की पवित्रता कितनी मधुर है!

१२ फरवरी, १९१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे हमारी सत्ता के स्वामी, प्रभातकालीन इस शांत स्वस्थिति में, अन्य किसी भी समय की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह, मेरे विचार उत्सुक प्रार्थना के रूप में तेरी ओर उठते हैं।

मैं प्रार्थना करती हूं कि यह दिन जो शुरू होनेवाला है पृथ्वी तथा मनुष्यों के लिये थोड़ा और पवित्र प्रकाश तथा सच्ची शांति लावे; कि तेरी अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण हो पाय तथा तेरा मधुर विधान अधिक स्वीकृत; कि कोई वस्तु अधिक उच्च, अधिक उदात्त, अधिक सत्य, मानवजाति पर प्रकट हो; कि प्रेम, अधिक विस्तृत तथा अधिक गंभीर, फैले जिससे कि दुःखदायी व्रण भर जायं; तथा यह सूर्य की प्रथम किरण जो फूटने जा रही है आनंद और सामरस्य की घोषणा करे तथा उस ओजस्वी तेजपुंज की जो कि जीवन के सारतत्त्व में प्रच्छन्न है, संज्ञा बने।

हे दिव्य स्वामी, प्रदान कर कि यह दिन हमारे लिये तेरे विधान के प्रति अधिक पूर्ण आत्म-निवेदन का, तेरे कर्म के प्रति अधिक सर्वांगीण समर्पण का, अधिक समग्र निज-विस्मृति का, अधिक विशाल प्रकाश का, तथा अधिक प्रेम का अवसर बने; और यह भी प्रदान कर कि तेरे साथ अधिकाधिक गंभीर और अटूट अंतर्मिलन द्वारा हम उत्तरोत्तर अधिक अच्छी तरह तेरे योग्य सेवक बनने के लिये अपने-आपको तेरे साथ एकीभूत करें। हमसे समग्र अहंता को, तुच्छ अभिमान को, सारे लोभ और सारे अंधकार को दूर कर ताकि तेरे दिव्य प्रेम से पूर्णतया प्रज्वलित होकर संसार में हम तेरी दीपिकाएं बनें।

पूर्व के सुवासित धूप के सफेद धुएं के समान मेरे हृदय से एक मौन गीत उठता है। और पूर्ण समर्पण के प्रशांत भाव में इस दिनोदय के समय मैं तुझे नमस्कार करती हूं।

२८ नवम्बर, १९१३ —श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भविष्य-दृष्टि

भवितव्यता को पहले से देख लेना! इसके लिये कितनों ने यत्न किया है, कितनी विचार-पद्धतियां गढ़ी गई हैं, कितने भविष्य-विज्ञान रचे गये हैं, विकसित हुए हैं और फिर धोखेबाजी और अतिविश्वास के रूप में निंदित होकर नष्ट हो गये हैं। परंतु भवितव्यता को पहले से जान लेना क्यों ऐसा कठिन रहा है? क्या इसलिये कि यह क्रियात्मक रूप में सिद्ध करके दिखला दिया गया है कि सब कुछ अनिवार्यतः नियत है तथा इस नियति को निश्चयपूर्वक जानने में मनुष्य सफल नहीं हो सकता।

इसका समाधान भी योग में मिलता है। यौगिक साधना द्वारा मनुष्य भावी को केवल पहले से देख ही नहीं सकता बल्कि उसे बदल भी सकता है, लगभग पूरे का पूरा बदल सकता है। सबसे पहले तो योग हमें यह सिखाता है कि हम एकतत्त्वात्मक सत्ता नहीं हैं, एक सरल निरवयव वस्तु नहीं हैं, जिसकी हर हालत में केवल एक ही भवितव्यता हो सकती हो, सीधी और अनिवार्य। इसके विपरीत हमें स्वीकार करना पड़ता है कि अधिक मनुष्यों की भवितव्यता विषम होती है, ऐसी विषम कि वह विसंवाद की अवस्था तक पहुंच जाती है। क्या यह विषमता ही तो अप्रत्याशित, अनवधारित, फलतः पूर्व-अदृश्य का संस्कार पैदा करनेवाली नहीं होती?

प्रश्न को हल करने के लिये, पहले यह जान लेना आवश्यक है कि सब जीव, विशेषकर मनुष्य बहुत सी सत्ताओं का संयोग है, जो सत्ताएं संघीभूत तथा एक दूसरी में ओतप्रोत हो जाती हैं, कभी तो संगठित होकर एक दूसरी की पूरक बन जाती हैं और कभी आपस में ही विरोध करके एक दूसरी को खण्डित कर देती हैं। इनमेंसे प्रत्येक सत्ता, अथवा सत्ता की अवस्था, अपने एक विशेष जगत् से संबंध रखती है और उसकी एक विशेष भवितव्यता होती है, एक अपनी नियति होती है। इस प्रकार व्यक्ति की भवितव्यता इन सब नियतियों का संयोग होती है जो कि कई बार बहुत पृथग्विध होता है। परंतु क्योंकि इन सब सत्ताओं का संगठन और संबंध व्यक्तिगत साधना तथा इच्छाशक्ति के यत्न से बदल सकता है तथा क्योंकि चेतना की एकाग्रता से ये विभिन्न नियतियां एक दूसरी पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालती हैं, इसलिये इन नियतियों का संयोग लगभग सदा बदलता रहता है और इसी कारण हम उसे अगाऊ नहीं जान सकते।

दृष्टांत के लिये किसी प्राणी की शारीरिक अथवा भौतिक भवितव्यता उसकी पितृगत तथा मातृगत पूर्व अवस्थाओं पर निर्भर करती है, उन अवस्थाओं तथा भौतिक परिस्थितियों पर जिनमें उसका जन्म हुआ होता है। इन्हें जानकर मनुष्य को पहले देख सकना चाहिये कि उसके भौतिक जीवन की क्या घटनाएं होंगी, तथा उसके स्वास्थ्य की दशा और उसके शरीर की आयु लगभग क्या होगी। परंतु उसकी प्राणिक सत्ता (इच्छाओं, विषय-विकारों तथा आवेगात्मक शक्ति और ऐच्छिक चिच्छक्ति की सत्ता) की अपनी रचना भी बीच में आकर क्रीड़ा करने लगती है। इसकी अपनी ही भवितव्यता होती है और यह भौतिक भवितव्यता पर प्रभाव डाल सकती है, उसे पूर्णतया बदल सकती है और प्रायः निम्नतर रूप में ही बदल डालती है। दृष्टांत के लिये, एक मनुष्य जिसे जन्म से बहुत अच्छा भौतिक संतुलन प्राप्त है और जिसे जीवन में बहुत अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त रहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिये, यदि उसकी प्राणमय सत्ता उसे सब प्रकार के अतिव्यवहारों में, बुरे अभ्यासों तथा पापाचरणों में धकेल देती है तो, वह किसी अंश में व्यक्ति की भौतिक भवितव्यता तथा स्वास्थ्य और शक्ति की समरसता को नष्ट कर देती है, जो कि उसे प्राप्त रहती यदि यह हानिकारक हस्तक्षेप न होता। यह तो एक दृष्टांतमात्र है। परंतु, वास्तव में, प्रश्न अधिक विषम है, क्योंकि भौतिक तथा प्राणिक भवितव्यताओं के अतिरिक्त मानसिक भवितव्यता तथा आंतरात्मिक भवितव्यता और अन्य प्रकार की भवितव्यताएं भी होती हैं।

वास्तव में जितना कोई व्यक्ति मानव जीवन की सोपान-शृंखला में ऊंचा होता है, उतना ही उसका व्यक्तित्व विषम होता है, उतनी ही उसकी भवितव्यताएं अधिक होती हैं और इसी कारण उतना ही उसकी भवितव्यता पहले से जान लेना असंभव प्रतीत होता है। परंतु यह है केवल एक प्रतीतिमात्र ही, क्योंकि सत्ता की इन विभिन्न अवस्थाओं तथा इनके संवादी सूक्ष्म जगतों का ज्ञान अपने आप विभिन्न भवितव्यताओं, उनकी पारस्परिक ओतप्रोतता तथा उनकी संयुक्त और प्रधान क्रिया को देखने की योग्यता भी प्रदान कर देता है। उच्चतर भवितव्यताएं, प्रत्यक्ष ही, विश्व के केंद्रीय सत्य के अधिक निकट होती हैं और यदि उन्हें बीच में क्रिया करने का अवसर मिलता है तो वह जरूर ही शुभ होता है। इसलिये जीवन-कला का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने आपको अपनी उच्चतम चेतना की अवस्था में स्थित रखे ताकि उसकी उच्चतम भवितव्यता अन्य भवितव्यताओं को जीवन और कर्म में प्रभावित तथा अधिकृत कर सके। बिना किसी भूल की आशंका के हम कह सकते हैं–सदा अपनी चेतना के शिखर पर रहो और तुम्हारे लिये सदा सर्वोत्तम बात ही घटित होगी। पर यह तो एक आदर्श है जिसे चरितार्थ करना आसान नहीं। लेकिन जब कभी यह आदर्श पूरा न हो सके तब व्यक्ति, भयावह तथा द्विधासंकुल अवस्था आने पर, यथासंभव अपनी सर्वोच्च भवितव्यता का, भागवत इच्छाशक्ति के प्रति अभीप्सा, प्रार्थना तथा विश्वासपूर्ण समर्पण द्वारा आवाहन कर सकता है। इस आवाहन की सच्चाई के अनुपात में, यह उच्च भवितव्यता व्यक्ति की सामान्य भवितव्यता पर लाभजनक तरीके से क्रिया करती है और घटनाक्रम को, जहां तक यह उसके व्यक्तित्व से संबंध रखता है, बदल देती है। ऐसी ही, वास्तव में, वे घटनाएं होती हैं जिन्हें बहिर्मुखी चेतना चमत्कार तथा दिव्य कर्म के रूप में अनुभव करती है।

–श्री माताजी

(Bulletin of Physical Education, February 1950)

(मूल फ्रेंच से अनूदित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'थोड़ी देर बाद' का पथ*

"थोड़ी देर बाद का पथ और कल का मार्ग
हमें केवल शून्य के दुर्ग की ओर ले जाते हैं।"

पथ के दोनों ओर खिले रंग बिरंगे फूल आंखों को लुभा रहे हैं। छोटे छोटे पेड़ों की गठीली डालियों पर लाल फल चमक रहे हैं और सुदूर खेतों में देदीप्यमान सूर्य अन्न की पकी बालों को सुनहरा बना रहा है।

एक युवा पथिक प्रातःकाल की निर्मल वायु में सुखपूर्वक श्वास लेता हुआ सावधान पगों से आगे बढ़ रहा है। वह प्रसन्नचित्त प्रतीत होता है—भविष्य की ओर से बिलकुल निश्चित। जिस रास्ते पर वह चल रहा है वह एक चौराहे पर समाप्त होता है। वहां से कई रास्ते भिन्न भिन्न दिशाओं में फट जाते हैं।

युवक को सर्वत्र पदचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं; ये एक दूसरे को काटते हुए चारों ओर निकल गये हैं। आकाश में सूर्य लगातार चमक रहा है; पेड़ों पर पक्षी चहचहा रहे हैं; दिन निश्चय ही अत्यंत सुन्दर है। बिना सोचे विचारे पथिक सबसे निकट का मार्ग पकड़ लेता है और वह उसे अधिक सुगम भी प्रतीत होता है। एक क्षण के लिये वह सोचता है कि वह कोई और मार्ग भी तो चुन सकता था पर फिर वह कहता है कि यदि इस रास्ते ने उसे कहीं नहीं पहुंचाया तो वापिस मुड़ने का समय तो सदा ही रहेगा। एक ध्वनि उसे ऐसा कहती प्रतीत होती है—

"लौट आ, वापिस लौट आ, तू ठीक रास्ते पर नहीं है।" परंतु चारों ओर का वातावरण उसे आकर्षक और सुखद लगता है। उसे कुछ समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। बिना कुछ निश्चय किये वह चलता ही जाता है। उसी क्षण में वह रस ले रहा है। ध्वनि को वह उत्तर देता है—

"थोड़ा और, थोड़ा और। मैं फिर सोचूंगा, अभी तो बहुत समय है।" उसके चारों ओर की जंगली घास उसके कान में फुसफुसाती है—

"थोड़ी देर बाद।"

थोड़ी देर बाद, हां थोड़ी देर बाद। अहा, इस सुगंधित वायु में श्वास लेना कितना सुखप्रद है जब कि सूरज अपनी उष्ण किरणों से हवा में एक मीठी गरमाहट ला रहा हो! थोड़ी देर बाद, थोड़ी देर बाद। यात्री अभी भी चलता जाता है; रास्ता लंबा हो रहा है। दूर से आवाजें सुनाई पड़ती हैं—

"अभागे, तू कहां जा रहा है? तुझे सूझता नहीं कि तू विनाश के पथ पर है? तू तो

---

*श्री माताजी की कहानियों का क्रम समाप्त होता है। उनकी कहानियों की पुस्तक Belles Histoires हम लगभग सारी की सारी यहां दे चुके हैं और वह पुस्तक-रूप में (सुन्दर कहानियां) अब हिंदी में भी प्राप्य है।

उसके स्थान पर अब हम माताजी के लेखों का एक और क्रम शुरू करते हैं। Paroles d'autrefois (कभी पहले के वचन) माताजी की एक और पुस्तक है जिसमें उनके बहुत वर्ष पहले के निबंध अथवा वक्तव्य संगृहीत हैं। विषय अत्यंत विभिन्न हैं और सभी जीवन के महत्त्वपूर्ण तथा गंभीर पक्ष रोचक और शिक्षाप्रद शैली में निरूपित करते हैं। यह इस क्रम का पहला लेख है।—सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी युवक है। आ, हमारी ओर आ। सत्य की ओर आ; शिव की ओर आ; सुन्दर की ओर आ। आसान और लुभावने पथ के फेर में न पड़। वर्त्तमान में ही न सो जा, भविष्य की ओर बढ़।" –"थोड़ी देर बाद, थोड़ी देर बाद", यात्री उन अप्रिय ध्वनियों को एक ही उत्तर देता है। फूल उसकी ओर मुस्कराते हैं और बार बार कहते हैं, "हां, थोड़ी देर बाद।" मार्ग लंबा होता जा रहा है। सूर्य चोटी पर पहुंच गया है। दिन लुभावना है। रास्ता एक चौड़ी सड़क में बदल गया है।

सड़क सफेद और धूमिल है; किनारों पर चीड़ के पेड़ खड़े हैं; पास में एक छोटी नदी के बहने का मंद स्वर सुनाई पड़ रहा है। वह व्यर्थ ही चारों ओर खोजता है। उस अनंत पथ का कोई सिरा उसे दिखाई नहीं पड़ता।

युवक को अब एक अस्पष्ट व्याकुलता सी अनुभव होती है, वह चिल्ला पड़ता है-"मैं कहां हूं? कहां जा रहा हूं? पर कोई हर्ज नहीं। क्यों सोचूं, क्यों कुछ करूं? आज तो इस कभी समाप्त न होनेवाले पथ पर चलने दो, बढ़ने दो; सोचूंगा कल।"

वे छोटे पेड़ भी अब अदृश्य हो गये। सड़क के किनारों पर अब बलूत के वृक्ष हैं। दोनों ओर एक सकरी घाटी नाला सा बना रही है। यात्री को थकावट का नामनिशान नहीं; वह अचेतन सी अवस्था में आगे बढ़ता जाता है।

घाटी और गहरी हो गई है; बलूत के वृक्षों का स्थान अब सनोवर ने ले लिया है। सूर्य ने नीचे उतरना शुरू कर दिया है। यात्री व्याकुल भाव में चारों ओर निहारता है। घाटी में लोटती हुई, सनोवर के पेड़ों, ढालू चट्टानों और जमीन से बाहर निकली जड़ों के साथ चिपटी हुई मानुषी आकृतियों की ओर उसकी दृष्टि उठती है। उनमें से कुछ ऊपर उठने का बहुत प्रयत्न कर रही हैं, पर सिरे के पास पहुंचते ही वे अपना सिर घुमा लेती हैं और फिर वे नीचे की ओर गिर पड़ती हैं। मंद ध्वनियां यात्री को अब भी कह रही हैं-

"इस स्थान से बच निकल; वापिस उसी चौराहे पर पहुंच जा। अभी भी समय है।" युवक कुछ दुविधा में पड़ता है, फिर उत्तर देता है–"कल।" वह अपना मुंह हाथों से ढक लेता है जिससे वह घाटी में लोटती हुई मूर्त्तियों को न देख सके और पथ पर दौड़ पड़ता है। एक अदम्य प्रेरणा उसे आगे ही आगे लिये जा रही है। वह यह भी नहीं जानना चाहता कि उसे कुछ प्राप्ति होगी या नहीं। माथे पर सिलवटें पड़ गई हैं, वस्त्र अस्तव्यस्त हो गये हैं, पर वह अंधाधुंध भागता ही जा रहा है। अंत में जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह उस भयावने स्थान से बहुत आगे निकल गया है तो वह अपनी आंखें खोल देता है। अब सनोवर के पेड़ भी कहीं नहीं हैं। सर्वत्र रूखी नंगी चट्टानें धूलिधूसरित सी पड़ी हैं। सूर्य क्षितिज के पार अदृश्य हो चुका है; रात्रि का आरंभ है। सड़क एक असीम मरुभूमि में विलीन हो गई है। निराश यात्री, अपनी लंबी दौड़ से हारा-थका, अब ठहरना चाहता है, पर उसे आगे बढ़ना ही है। उसके चारों ओर उजाड़ खंडहर पड़ा है। कुछ दबी घुटी आवाजें सुनाई पड़ रही हैं; उसके पैर कंकालों से ठोकरें खा रहे हैं। दूर में घना कुहासा भयावने रूप धारण कर रहा है। उसके सामने बड़े बड़े काले खंडों के खाके बन बिगड़ रहे हैं। किसी भद्दी और अशुभ बात के होने का आभास मिल रहा है। यात्री चलकर नहीं दौड़कर उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है जो उसके सामने ही प्रतीत होता है पर बार बार निकल जाता है। बेढंगी चिल्लाहटें उसके पगों को चला रही हैं। वह प्रेत-छायाओं के साथ टकरा रहा है।

अंत में उसे सामने एक बड़ा गढ़ सा दिखाई पड़ता है–अंधेरा, उजाड़ और मनहूस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे मकानों के बारे में ही लोग दुःखपूर्वक कहा करते हैं–"यह तो भुतहा मकान है।" पर वह युवक उस स्थान की उदासी के बारे में नहीं सोचता; वे काली विशाल दीवारें भी उसपर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। वह धूसरित जमीन और भयावने बुर्ज भी उसे कंपायमान करने में समर्थ नहीं हो पाते। उसके मन में केवल एक विचार है कि वह लक्ष्य पर पहुंच गया है; वह अपनी थकावट और उदासी सब भूल जाता है। गढ़ के पास पहुंचकर वह एक दीवार के साथ टकराता है जो फौरन ढह जाती है। उसी समय उसके चारों ओर का सब कुछ ढेर हो जाता है; बुर्जियां, मुंडेरे और चारों ओर की दीवारें सब भूमिसात् हो जाती हैं। उनका मलवा जमीन पर पहले से पड़ी हुई मिट्टी के ऊपर जमा हो जाता है।

सर्वत्र उल्लू, कौए और चमगीदड़ कर्कश आवाज करते हुए उड़ रहे हैं। कभी कभी तो वे बेचारे पथिक के सिर के ऊपर ही मंडराने लगते हैं जो चकित सा, म्लानमुख, हारा-थका मानों जमीन के साथ चिपक गया है, हिलने डुलने की शक्ति भी उसकी जाती रही है। इतने पर ही बस नहीं हुआ, अकस्मात् वह अपने सामने अब भयानक आकृतियां देखने लगा–विनाश, नैराश्य और जीवन के प्रति घृणा। और तो और खंडहरों के बीच में भी उसे गहरे गढ़े के ऊपर खड़ी हुई, अंधेरी और धुंधली आत्महत्या की मूर्ति दिखाई दी। इन सब द्रोही प्रेतात्माओं द्वारा वह घेर लिया गया और वे सब उससे लिपट गईं। वे उसे खुली ढालू घाटी की ओर ढकेलती जा रही थीं। बेचारा पथिक उस अदम्य शक्ति का सामना करने का प्रयत्न करता है। अब वह पीछे हटना, वहां से भाग निकलना चाहता है। वह अब इन अदृश्य बाहुओं से, जो उसे चारों ओर से जकड़े हुई हैं, अपने आपको छुड़ा लेने का प्रयास करता है। पर अब बहुत देर हो चुकी है। वह लगातार उस विनाशकारी गढ़े की ओर बढ़ रहा है। वह उससे खिचा, मंत्रित किया हुआ सा अनुभव करता है। वह पुकारता है; कोई आवाज उसकी पुकार का उत्तर नहीं देती। वह उन आकृतियों को जोर से पकड़ता है पर वे सब उसके पास ही ढेर हो जाती हैं। उसकी विक्षिप्त फटी सी आंखें चारों ओर के शून्य को निहारती हैं। वह पुकारता है, विनती करता है; उत्तर में एक अशुभ और भयंकर हंसी गूंज उठती है।

पथिक अब गढ़े के किनारे तक पहुंच गया है। उसके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं। एक घोर छटपटाहट के बाद वह गिर पड़ता है...अपने पलंग से नीचे।

एक युवा विद्यार्थी को अगले दिन के लिये एक लेख लिखना था। दिन के काम से वह कुछ थका हुआ था। घर लौटने पर उसने कहा–"अह, थोड़ी देर बाद लिखूंगा।" कुछ देर के पश्चात् उसने सोचा कि यदि मैं जल्दी सो जाऊं तो जल्दी ही उठ बैठूंगा और तब मैं अपना काम समाप्त कर लूंगा। सो उसने कहा–"अब तो मैं सोता हूं, कल मैं अधिक अच्छी तरह काम करूंगा। रात्रि एक अच्छी परामर्शदात्री भी है।" उसका कथन इतना सत्य सिद्ध होगा यह उसने कभी नहीं सोचा था। ऊपर जो कुछ हमने कहा है वह एक डरावना स्वप्न था जिसने उसकी नींद में व्याघात पहुंचा दिया था। उसके गिर पड़ने ने उसे एकदम चौंका-कर जगा दिया। जो कुछ उसने स्वप्न में देखा था उसपर विचार करता हुआ वह बोल उठा–"कितनी सीधी सी बात है। यह पथ 'थोड़ी देर बाद' का पथ है; यह मार्ग 'कल' का मार्ग है और यह दुर्ग 'शून्य' का दुर्ग है।" अपनी चतुरता से प्रसन्न होता हुआ वह अपने काम में लग गया। उसने अपने मन में पक्का निश्चय कर लिया कि जो काम वह आज कर सकता है उसे वह कल पर कभी नहीं छोड़ेगा।

(श्री लीलावती जी द्वारा मूल फ्रेंच से अनूदित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्दवाणी–

विशेष वचन

अतिमानस के अवतरण का मानवजाति पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

तब, भला हमारी पार्थिव सत्ता में अतिमानस का अवतरण होने पर मनुष्यजाति के लिये उसका क्या परिणाम होगा, इस जाति के लिये उसका क्या परिणाम होगा जो अज्ञान और निश्चेतना के जगत् में उत्पन्न हुई है पर जो अपनी चेतना का ऊर्ध्वमुखी क्रमविकास साधित करने तथा आध्यात्मिक पुरुष और आध्यात्मिक प्रकृति की ज्योति और शक्ति और आनंद की ओर आरोहण करने में समर्थ है? यह नहीं हो सकता कि पार्थिव जीवन में अतिमानस और उसकी सत्य-चेतना–ऋत्चित् जैसी एक परम सर्जनात्मिका शक्ति के अवतरण का केवल यही अर्थ हो कि इस जीवन में एक नया पहलू या नया अंग जुड़ जाय अथवा इसके अग्रभाग में स्थापित हो जाय पर उसका और कोई महत्त्व न हो अथवा केवल एक सीमित महत्त्व हो जो बाकी पार्थिव प्रकृति पर गभीर प्रभाव डालनेवाला कोई फल उत्पन्न न करे; विशेषकर यह अवतरण सामूहिक रूप से समस्त मनुष्यजाति पर अपना महान् प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, यहां तक कि यह यहां, इस पृथ्वी पर के उसके जीवन के स्वरूप और भावी आशा-संभावना में भी मूलगत परिवर्तन ले आ सकता है, भले ही, जिस जड़ जगत् में हस्तक्षेप करने के लिये यह शक्ति अवतरित होगी, उसपर उसका कोई दूसरा विशेष प्रभाव न भी उत्पन्न हो। इस निर्णय पर हमें पहुंचना ही होगा कि इस अवतरण का प्रभाव, इसके द्वारा साधित परिवर्तन सुदूरव्यापी होगा, यहांतक कि अपार होगा; यह अवतरण इस पृथ्वी पर केवल अतिमानस और अतिमानवों की एक जाति को ही स्थापित नहीं करेगा; यह स्वयं मन में भी और, उसके अनिवार्य फलस्वरूप, मनोमय प्राणी मनुष्य की चेतना में भी एक प्रकार का ऊपर उठानेवाला और रूपांतरकारी परिवर्तन ले आ सकता है और उसी तरह उसके रहन-सहन के सिद्धांतों और ढंगों में, उसकी कार्यपद्धतियों में और उसके जीवन की समूची गठन और धारा में भी एक मूलगत और रूपांतरकारी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। निश्चय ही यह अवतरण मनुष्य के लिये अतिमानसिक चेतना और अतिमानसिक जीवन प्राप्त करने का मार्ग खोल देगा, क्योंकि हमें यह मानना ही होगा कि एक ऐसा रूपांतर होने पर ही अतिमानवों की एक जाति उत्पन्न हो सकेगी, ठीक उसी तरह जिस तरह कि इससे पहले इससे कम पूर्ण रूप में पर पर्याप्त मात्रा में चेतना के उन्नत और विशाल होने पर तथा शरीररूपी यंत्र और उसकी अंतरीय विकसनशील मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों और सामर्थ्यों के रूपांतरित होने पर ही आदि पशु-स्थिति में से स्वयं यह मानवजाति प्रकट हुई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मंत्र १५, १६)

(शेषांश)

उच्चतर लोक

स्वयं-चित् सत्ता का वह समस्त संगठन जो कि शुद्ध अस्तित्व की एकता को अपने आधार के तौर पर ग्रहण करता है उच्चतम सृष्टि के जगत् से, परार्ध से, आत्मा के लोकों से संबंध रखता है। हम निम्न तीन मुख्य रचनाओं की कल्पना कर सकते हैं।

जब तपस् अर्थात् स्वयं-चित् की शक्ति अपने आधार के तौर पर सत् पर अर्थात् शुद्ध अस्तित्व पर ठहरती है तो परिणाम होता है सत्यलोक अर्थात् सत्य अस्तित्व का लोक। सत्यलोक में आत्मा सारतत्त्व की एकता द्वारा इसकी समस्त अभिव्यक्तियों के साथ एक होता है और इसलिये आत्मचिति में तथा आत्मचिति की शक्ति में और आनंद में भी एक होता है।

जब तपस् अपने आधार के तौर पर चित् की सक्रिय शक्ति पर ठहरता है तो परिणाम होता है तपोलोक अर्थात् स्वयंचित् की शक्ति का लोक। तपोलोक में आत्मा इस शक्ति के अंदर की समस्त अभिव्यक्तियों के साथ एक होता है और इसलिये उनके आनंद की समग्रता में भी एकता का उपभोग करता है तथा उनके सारतत्त्व की एकता को समान रूप से अविकृत करता है।

जब तपस् अपने आधार के तौर पर सत्ता के सक्रिय आनंद पर ठहरता है तो परिणाम होता है जनलोक अर्थात् सर्जनकारी आनंद का लोक। जनलोक में आत्मा सत्ता के आनंद में समस्त अभिव्यक्ति के साथ एक होता है और उस आनंद के द्वारा सचेतन शक्ति में तथा सत्ता के सारतत्त्व में भी एक होता है।

ये सब चेतना की वे अवस्थाएं हैं जिनमें एकता और बहुविधता अभी तक एक दूसरे से पृथक् नहीं हुई हैं। वहां सब सबमें है, प्रत्येक सबमें और सब प्रत्येक में है, और यह है स्वभावतः, सचेतन सत्ता के अपने स्वभाव से ही, विभावन के किसी प्रयत्न के या बोध के किसी परिश्रम के बिना ही। वहां कोई रात्रि नहीं, अंधकार नहीं। और नाहीं वहां, ठीक ठीक कहें तो, प्रकाश-कारक सूर्य की कोई प्रमुख क्रिया है। कारण, चेतना का समस्त भाग ही वहां स्वतः-प्रकाशयुक्त है और अपने आपसे भिन्न किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं रखता। ईश या पुरुष की एकता के अंदर वहां सूर्य का पृथक् अस्तित्व खोया जाता है; वह प्रकाशमय एकत्व ही सूर्य का सबसे अधिक कल्याणकारी, कल्याणतम, रूप है।

निम्नतर सृष्टि

निम्नतर सृष्टि में भी तीन तत्त्व हैं, स्थूल जड़, प्राण और मन। सत् अर्थात् विशुद्ध अस्तित्व यहां फैले हुए द्रव्य के तौर पर अर्थात् स्थूल जड़त्व के तौर पर दिखाई देता है; संकल्प या बल उस प्राण के रूप में दिखाई देता है जो कि अपने स्वभाव में सर्जनकारी या अभिव्यक्तिकारक शक्ति है और वह शक्ति अपने स्वभाव में एक स्वयं-चित् संकल्प है जो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी सृष्टि के रूपों के अंदर निर्वर्तित तथा अंधकाराच्छन्न पड़ा है। इस निवर्तन तथा अंधकाराच्छन्नता से इसे मुक्ति प्राप्त कराई जाती है सत्ता के आनंद के द्वारा जो कि इच्छा और संवेदन के अंदर अपने आपसे सचेतन बनने के लिये संघर्ष कर रहा है; परिणाम होता है मन का प्रादुर्भाव। कम से कम ऐसा ही यह हमें प्रतीत होता है आरोहण करती हुई या विवर्तनकारी गति के अंदर।

जहां कहीं जड़तत्त्व है वहां प्राण और मन भी निर्वर्तित या विवर्तमान होते हुए विद्यमान हैं। इसी प्रकार यह भी है कि प्राण और मन किसी प्रकार के स्थूल रूप को भी, अपनी सक्रियता की शर्त के तौर पर, रखते हैं। ये तीन त्रयात्मक के रूप में नहीं प्रतीत होते, किंतु ये, अविद्या के विभाजक सिद्धांत द्वारा उनके शासित होने के कारण, त्रिगुणित प्रतीत होते हैं।

चेतना के इस संगठन के अंदर जिससे हमारा संबंध है, तपस् अपने आधार के तौर पर स्थूल जड़तत्त्व पर स्थित है। हमारी चेतना निर्धारित होती है अपने प्रतीयमान रूपों के अंदर फैले हुए स्थूल द्रव्य की विभाज्यता के द्वारा। यह है भूर्लोक, स्थूल लोक, साकार संभूति का लोक।

पर हम एक ऐसे लोक की कल्पना कर सकते हैं जिसमें क्रियाशील प्राण-शक्ति, उसमें प्रादुर्भूत हो चुके संवेदन के सहित, आधारभूत है और जो उन रूपों को जिन्हें वह धारण करेगी, जड़तत्त्व की स्थूल बाधा के बिना, स्वतंत्रतया निर्धारित करती है। चेतना के इस संगठन के लिये क्षेत्र है भुवर्लोक, स्वतंत्र प्राणमय आकारान्वित संभूति के लोक।

हम चेतना की एक ऐसी संगठित अवस्था की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें मन स्थूल संवेदन की अधीनता से अपने आपको मुक्त कर लेता है और शासक बनकर अपने रूपों को स्वयं निर्धारित करता है, इसके स्थान पर कि वह स्वयं उन रूपों द्वारा निर्धारित होता रहे जिनमें वह अपने आपको प्राण-विवर्तन के परिणामस्वरूप पड़ा हुआ पाता है। यह रचना है स्वर्लोक अर्थात् स्वतंत्र, शुद्ध तथा प्रकाशमय मनःस्थिति का लोक।

इन निम्नतर लोकों में चेतना सामान्यतया खण्डित और विभक्त होती है। सूर्य, सत्य, का प्रकाश अवचेतना की रात्रि में बंदी बना पड़ा होता है अथवा सीमित केंद्रों के अंदर केवल प्रतिबिंबित होता हुआ दिखाई देता है या उन केंद्रों द्वारा इसकी किरणें ग्रहण की जाकर उनके वैयक्तिक स्वभाव के अनुसार ही उपयुक्त हो रही होती हैं।

मध्यवर्ती लोक

इन दो सृष्टियों के बीच में, इन दोनों को जोड़नेवाला, एक लोक या चेतना का संगठन है जिसका आधार है वस्तुओं का असीम सत्य। वहां पहुंच जाने के बाद प्रबल व्यक्तिभेद सर्वव्यापी आत्मा पर बलात् अधिकार नहीं जमाता और वहां चेतना का आधार है इसकी अपनी विशाल समग्रता, अपने आपमें व्यक्तिभावापन्न गतियों को व्यवस्थित करती हुई विशाल समग्रता—और ये व्यक्तिभावापन्न गतियां अपनी सर्वांगीणता की चेतना को तथा सब अन्यों के साथ पूर्ण एकता को कभी नहीं छोड़तीं। वहां पहुंचने के बाद बहुविधता प्रबल नहीं होती और विभाजन नहीं करती, किंतु अपनी गतियों की जटिलता तक में सदा तात्त्विक एकता तथा अपनी समूची समग्रता की ओर ही संकेत करती है। इसलिये यह लोक कहलाता है महर्लोक अर्थात् विशाल चेतना का लोक।

महर्लोक का तत्त्व है विज्ञान, विचार (धी)। परंतु यह विज्ञान है अन्तर्ज्ञानमय, बल्कि विज्ञानमय विचार*, न कि बौद्धिक विभावन। अंतर यह है कि बौद्धिक विभावन न केवल आकार

***अन्तर्ज्ञान (स्वतःप्रकाश, अन्तःप्रेरणा, अन्तर्ज्ञानमय बोध, अन्तर्ज्ञानमय विवेक) है वह**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर प्रवृत्त होता है किंतु अपने आपको भी विचार के आकार के अंदर ही निर्धारित करता है और एवं एक बार निर्धारित हो चुकने पर यह अपने आपको अन्य विभावनों से तीव्रतया विभिन्न करता है, स्पष्ट पृथक् करके पहचानता है। परंतु शुद्ध अन्तर्ज्ञानमय या विज्ञानमय विचार (धी) अपने आपको सत्ता में भी देखता है, जैसे कि संभूति में। यह उस अस्तित्व के साथ एक है जो कि अपने में से अपने प्रतीक के तौर पर आकार को बहिर्गत करता है और इसलिये यह अपने साथ सदा आकार के पीछे विद्यमान सत्य के ज्ञान को भी लिये रहता है। यह अपने स्वभाव से ही एक की सत्ता और शक्ति के साथ स्वयं-चित् है, अपनी समग्रता से सदा अभिज्ञ है, अतएव समस्त सत्ता की समग्रता से प्रवृत्त होनेवाला तथा इसके अंदर की सब वस्तुओं का सीधा बोध करनेवाला है। इसका स्वभाव है 'दृष्टि', देखना, न कि विभावन (विचार) करना। यह है दर्शन (Vision) एक ही साथ सारतत्त्व का और प्रतिमा का। यह अन्तर्ज्ञान या विज्ञान ही है जो कि वैदिक सत्य है, सूर्य का आत्म-दर्शन तथा सर्व-दर्शन है।

सत्य का धर्म

इस सत्य का मुख, मानो एक चमकदार ढाल से, मानो एक सुनहरे ढकने से, ढका हुआ है; इसका तात्पर्य है कि यह ऐसा ढका हुआ है कि हमारी मानव चेतना की दृष्टि से ओझल है। कारण, हम मनोमय सत्ता हैं और हमारी उच्चतम साधारण मनोमय दृष्टि मन के विभावनों तथा बोधों से ही बनी है, जो वस्तुतः ज्ञान का एक साधन हैं, सत्य की किरणें हैं, किंतु अपनी प्रकृति से ही अस्तित्व का सत्य नहीं, केवल आकार का सत्य हैं। उनके द्वारा हम वस्तुओं की प्रतीतियों के अपने ज्ञान को व्यवस्थित करते हैं और पीछे विद्यमान सत्य का केवल अनुमान करने का यत्न करते हैं। सच्चा ज्ञान है अस्तित्व का सत्य, सत्यम्, न कि केवल आकार या प्रतीति का सत्य।

सच्चे सत्य पर हम तभी पहुंच सकते हैं जब कि सूर्य हमारे अंदर विभावनों और बोधों की इस चमकीली रचना को हटाने के लिये कार्य करता है तथा इनके स्थान पर आत्म-दर्शन तथा सर्व-दर्शन प्रदान कर देता है।

इसके लिये यह आवश्यक है कि सत्य का धर्म (नियम) और क्रिया हमारे अंदर अभिव्यक्त हों। वस्तुओं को देखना जैसी कि वे हैं, अपने आपको देखना जैसे कि हम हैं, यह हमें अवश्य सीखना है। हमारा वर्तमान कर्म ऐसा कर्म है जिसमें कि आत्मज्ञान और संकल्प विभक्त हुए हुए हैं। हम एक मौलिक मिथ्यात्व को लेकर चलते हैं, कि हमारा अस्तित्व अन्यों से पृथक् है, और पृथक् सत्ताओं के संबंधों को उनकी पृथक्ता के अंदर जानने का यत्न करते हैं और फिर इस प्रकार बने ज्ञान के आधार पर, वैयक्तिक उपयोगिता के लिये, हम कार्य करते हैं। सत्य का धर्म (नियम) हमारे अंदर तब कार्य करेगा जब कि हम अपने अस्तित्व की उस समग्रता को जो कि अन्य सबों को धारण किये है देखेंगे, इसके रूपों (आकारों) को समग्रता की क्रिया द्वारा रचित देखेंगे, इसकी शक्तियों को समग्रता की क्रिया में और इस क्रिया द्वारा कार्य

विज्ञान जो कि मन के अंदर मन की शर्तों के अधीन तथा मन के रूपों में कार्य कर रहा है। असली विज्ञान या सच्चा अतिमानस तत्त्व है मन से ऊपर की एक शक्ति जो अपने ही नियम के अनुसार, परम आत्मा की प्रत्यक्ष तदात्मता में से, कार्य कर रही है, उसका निरपेक्ष स्वयं-सचेतन सत्य अपने आपको अपनी ही निरपेक्ष प्रकाश की शक्ति के द्वारा, अन्वेषण की—यहां तक कि अतिशय-प्रकाशयुक्त अन्वेषण की भी—किसी आवश्यकता के बिना ही, जान रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती हुई देखेंगे। हमारी आन्तर और बाह्य क्रिया तब स्वभावतः और सीधी हमारी आत्म-सत्ता में से, वस्तुओं के ठेठ सत्य में से प्रवाहित होगी, न कि किसी मध्यवर्ती तत्त्व की अनुवर्तिनी होकर जो (तत्त्व) कि अपनी प्रकृति से मिथ्यात्वजनक प्रतिबिंब होता है।

मनुष्य में सूर्य की पूर्णार्थता

तो भी हमारी सामान्य क्रिया तक में सत्य का प्रारंभ या कम से कम उसका बीज विद्यमान है जो कि हमें अवश्य मुक्ति दिलावेगा, दिलाकर रहेगा। प्रत्येक क्रिया और बोध के पीछे एक अन्तर्ज्ञान है, एक सत्य है जो कि, यदि यह आकार में (रूप में) सतत रूप से मिथ्याकृत हो रहा है, तो भी तत्त्वतः अपने आपको सुरक्षित रख रहा है और अभिव्यक्ति में सत्य तक हमें पहुंचाने के लिये, प्रकाश और विशालता के बढ़ाने द्वारा, कार्य कर रहा है। विभिन्नीकरण और विभाजन के इस सब घोर प्रयास के पीछे एक प्रबल और दृढ़ एकीकारक प्रवृत्ति है जो कि, यद्यपि वह भी सतत रूप से पृथक् परिणाम में मिथ्याकृत हो रही है, पर तो भी ज्ञान में, सत्ता में तथा संकल्प में हमारी अंतिम सर्वांगपूर्णता की ओर साग्रह हमें ले जा रही है।

सूर्य 'पूषा' है, पोषक या बढ़ानेवाला है। उसका कार्य होना चाहिये विभाजित आत्म-बोध तथा संकल्प की क्रिया को वृद्धिगत करके सर्वांगीण संकल्प और ज्ञान के अंदर ले आने का, इस वृद्धि को संपन्न करने का। वह 'एक ऋषि' है और ज्ञान के अन्य रूपों के स्थान पर अपनी एकीकारक दृष्टि को स्थापित करने द्वारा वह हमें अंत में एकत्व पर पहुंचने के लिये समर्थ बनाता है। समग्रता की वह अन्तर्ज्ञानमयी दृष्टि, सबमें एक और एक में सबकी दृष्टि, हमारे अंदर क्रिया के उचित नियम की, सत्य के धर्म की नियामक बन जाती है। क्योंकि सूर्य 'यम' है, नियामक या नियंत्रण करनेवाला है जो कि नियम को, धर्म को सुनिश्चित कर देता है। इस प्रकार हम अपने अंदर प्रकाशमय की क्रिया की पूर्णता को पहुंच जाते हैं, सत्य-चेतना की संपूर्णता को सिद्ध कर लेते हैं। तब हम यह देखने में समर्थ हो जाते हैं कि सूर्य की सत्ता में, विज्ञान में–जो लोकों की रचना करता है–जो कुछ धृत या अन्तर्भूत है वह सब एक सत्ता में, संपूर्ण भूत-भाव के एक ईश्वर, पुरुष, सच्चिदानंद में सत्ता का भूतभाव है, संभूति है। सब संभूति उस एक सत्ता में उत्पन्न हुई है जो स्वयं सब संभूतियों को अतिक्रमण किये हुए है और उनकी ईश है, प्रजापति है।

सूर्य के दिव्य दर्शन के प्रकट हो जाने द्वारा सच्चा ज्ञान रचित हो जाता है। इस रचना में उपनिषद् दो क्रमिक क्रियाओं की ओर संकेत करती है। पहली क्रिया है सूर्य की किरणों का व्यूहन या उनको व्यवस्थित करना; तात्पर्य यह हुआ कि हमारे विभावनों और बोधों के पीछे छिपे हुए सत्यों को प्रतिमा के तथा प्रतिमा के सारतत्त्व के पृथक् पृथक् अन्तर्ज्ञानों के द्वारा बाहर लाया जाता है और उन्हें उनके एक दूसरे के साथ सत्य सबंधों में व्यवस्थित किया जाता है। इस प्रकार हम अन्तर्ज्ञानमय ज्ञान की समग्रताओं को पहुंच जाते हैं और अंततः परे जाकर एकता को प्राप्त कर सकते हैं। यह (दूसरी क्रिया) है सूर्य के प्रकाश का समूहन, सम्यक्तया एकत्रीकरण। यह दोहरी गति इसलिये आवश्यकीय होती है क्योंकि हमारे मनों की रचना ही ऐसी है कि यह (हमारा मन), मूलभूत सत्य-चेतना की भांति, ऐसा नहीं कर सकता कि एकदम समग्रता से ही चल सके और इसकी अन्तर्भूत वस्तुओं को अंदर से ही देख सके। मन एकता का विभावन, कल्पना नहीं कर सकता सिवाय इसके कि वह उसे एक विविक्त वस्तु, एक संकलन या शून्य के रूप में लेवे। इसलिये इसे इसके अपने तरीके से उस तरीके तक जो कि इसे अतिक्रमण करता है धीरे धीरे ले जाया जाना है। इसे व्यवस्थित करने की अपनी क्रिया को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जो इसका विशेष गुण है) जारी रखना है, किंतु उच्चतर शक्ति की सहायता के साथ और उसके व्यापार के द्वारा, पहले की तरह स्वेच्छाचारितापूर्वक नहीं, किंतु स्वयं सत्ता के सत्य की क्रिया का ही अनुसरण करते हुए। पीछे से, अपनी ही विशेषगुणीय क्रिया के तरीके को इस प्रकार धीरे धीरे सुधारने द्वारा वह स्वयं उस विशेषगुणीय क्रिया को ही पलट देने में सफल हो सकता है और समग्र से अन्तर्भूत पदार्थों की ओर चलना सीख सकता है, इसके स्थान पर कि वह 'अंशों'* से (जिन्हें भूल से वस्तुएं समझा जाता है) प्रतीयमान समग्रता (जो फिर भी एक 'अंश' है और जिसे फिर भी वस्तु समझे जाने की भूल की जा रही है) की ओर चलता रहे।

एक अस्तित्ववान्

इस प्रकार सूर्य की क्रिया द्वारा हम परम अतिचेतन के उस प्रकाश पर पहुंच जाते हैं जिसमें कि समग्र दर्शन पर आधारित, वस्तुओं के सत्य का अन्तर्ज्ञानमय ज्ञान भी एक सत्तावान् के स्वयं-प्रकाशमान आत्म-दर्शन में समाविष्ट हो जाता है–एक सत्तावान् जो कि उस एक आत्म-अनुभूति की समस्त असीम जटिलताओं में एक है जो अपनी एकता को या अपनी आत्मप्रकाशमयता को कभी नहीं खोती। क्योंकि यह परम प्रकाश, परम संकल्प, सत्ता का परम आनंद है।

यह है ईश, पुरुष, आत्मसचेतन सत्ता। जब हमें यह दर्शन होता है, तब संपूर्ण आत्मज्ञान, पूर्ण दर्शन (देखना) प्राप्त हो जाता है जिसे उपनिषद् की महान् पुकार 'सोऽहम्' में प्रकट किया गया है। 'वहां वहां जो पुरुष है वह मैं हूं'। ईश अपने आपको गतियों में अभिव्यक्त करता है और अनेक आकारों में निवास करता है, परंतु वह एक है जो कि सबमें निवास करता है। यह आत्मा की आत्मसचेतन सत्ता, यह वास्तविक 'मैं' जिससे साकार व्यक्तित्वापन्न मानसिक सत्ता अपने सच्चे रूप में अभिज्ञ है–यह वह है। यह सर्व है, और यह वह है जो कि सर्व को अतिक्रमण करता है।

ऋषि का स्वरूप

ऋषि अर्थात् मनीषी, द्रष्टा। वह मनुष्य जिसने मानव जीवन पूर्ण रूप से बिताया है और अतिबौद्धिक, अतिमानसिक, आध्यात्मिक सत्य का शब्द उपलब्ध कर लिया है। वह निम्न सीमाओं के ऊपर उठकर सभी चीजों और सभी प्राणियों को ऊपर से देख सकता है, परंतु साथ ही वह उनके आयास-प्रयास एवं दुःख-कष्ट से सहानुभूति रखता है और उन्हें भीतर से देख सकता है; वह पूर्ण अंतर्ज्ञान तथा उच्चतर परा विद्या से संपन्न होता है। अतएव, जिस प्रकार ईश्वर दिव्य ढंग से संसार को संचालित करते हैं उसी प्रकार ऋषि इसे मानवीय तौर पर मार्ग दिखा सकता है, क्योंकि भगवान् के समान वह संसार के जीवन में रहता हुआ भी इसके ऊपर अवस्थित होता है।

–श्रीअरविन्द

---

*यथार्थ में अंश कोई नहीं है, अस्तित्व तो अविभाज्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ एक विशेष पत्र (२)

अतिमानस का अवतरण

अतिमानस का अवतरण एक सुदीर्घ प्रक्रिया है, या कम से कम एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे पूर्व लंबी तैयारी की आवश्यकता होती है, और इस बीच कोई केवल इतना ही कह सकता है कि कार्य हो रहा है–कभी तो समाप्ति के लिये प्रबल दबाव के साथ, कभी नीचे से उठनेवाली चीजों के कारण मंद मंद गति से, जिन चीजों का कुछ उचित उपाय कर लेने पर ही और आगे प्रगति की जा सकती है। वह प्रक्रिया (आध्यात्मिक) विकासात्मक प्रक्रिया है, वह, पूरी शक्ति लगाकर, थोड़े समय में संपन्न की जाती है; वह किसी और प्रकार से (जिसे मनुष्य दिव्य मध्यस्थता समझते) केवल तभी की जा सकती थी यदि मानव मन आज की अपेक्षा अधिक सुनम्य और कम अज्ञानग्रस्त होता। अतिमानस का जो स्वरूप हमारी दृष्टि में है उसके अनुसार वह पहले कुछ थोड़े से लोगों में ही अभिव्यक्त होगा और फिर औरों में फैलेगा, परंतु यह संभव नहीं कि वह एक ही क्षण में सारे भू-मण्डल पर छा जायगा। इस विषय पर अत्यधिक वाद-विवाद करना उचित नहीं कि अति-मानस क्या कुछ करेगा और उसे किस तरह करना चाहेगा, क्योंकि ये तो ऐसी चीजें हैं जिन्हें वह अपने अंदर के उस भागवत सत्य के द्वारा कार्य करते हुए स्वयं नियत करेगा, और मन को उसके घूमने की गरारियां नियत करने का यत्न कदापि नहीं करना चाहिये। स्वभावतः ही, अवचेतन अविद्या से और व्याधि से मुक्ति, यथेष्ट आयुष्य और शरीर के व्यापारों में परिवर्तन–ये सब अतिमानसिक परिवर्तन के चरम सत्यों में से होंगे; परंतु इन विषयों की सूक्ष्म बातें तो अतिमानसिक शक्ति पर छोड़ देनी होंगी ताकि वह अपनी प्रकृति के सत्य के अनुसार उन्हें चरितार्थ करे।

वस्तुस्थिति की अटल मांग के अनुसार, विज्ञान का अवतरण अवश्यंभावी नियति है और अतएव सुनिश्चित है। परंतु क्योंकि लोग अतिमानस के स्वरूप को नहीं समझते और न ही वे अवचेतन जड़प्रकृति के जगत् में चेतना के उदय की सार्थकता अनुभव करते हैं, अतएव वे अतिमानस की अवश्यंभाविता को हृदयंगम करने में असमर्थ हैं। मेरा ख्याल है कि यदि, पृथ्वी की प्रारंभिक अवस्था में निष्प्राण जड़प्रकृति के अपरिवर्तनशील बोझल शासन के समय कोई प्रत्यक्षतथ्यवादी द्रष्टा विद्यमान होता तो वह जड़ मिट्टी, पत्थर और खनिज के जगत् में प्राण के आविर्भाव की आशामात्र की इस प्रकार आलोचना करता कि यह निरर्थक प्रलाप तथा शशशृङ्गकल्पना है; इसी प्रकार, वह इस भूल को फिर दुहराकर पशुजगत् में विचार तथा तर्कणा के प्रादुर्भाव को वृथाप्रलाप तथा आकाशपुष्प समझता। वही बात आज मानव चेतना तथा उसकी तर्कशील अविद्या के जगत् की स्खलनशील मानसिक अवस्था में अतिमानस के उदय के संबंध में भी कही जा सकती है। मुझे मालूम नहीं कि अवतरण साधकों की तैयारी पर निर्भर है या नहीं। संभवतः यों कहना अधिक ठीक होगा कि ये चीजें नीचे के बजाय ऊपर से निर्धारित होती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमानसिक सत्य-शक्ति की क्रिया

तुमने अपनी निज की जानी हुई बातें जुटाकर अपनी निजी विषम समस्या पैदा कर ली है। अतिमानस के संबंध में हवाई बात कुछ भी नहीं है; इसकी क्रिया यावत्संभव अत्यंत यथार्थता पर निर्भर करती है। जहां तक ठोसपन का प्रश्न है, क्योंकि एक बार में अति निम्नतर शक्तियों से अनेक ठोस चीजें प्राप्त कर चुका हूं अतः मैं नहीं समझता कि क्यों उच्चतर शक्तियां हमें केवल कुहरा ही कुहरा देंगी। परंतु मानव मन की स्थिति यह मालूम होती है कि जो वस्तु पार्थिव है वही ठोस है, जो उच्च है वह धुंधली तथा अवास्तविक ही होगी—कृमि तो वास्तविक चीज है, और गरुड़ केवल भाप!

तो भी, मैंने 'न' व्यक्ति से यह नहीं कहा है कि मैं एक एक सीढ़ी करके चढ़ता रहा हूं या उड़ान लेता रहा हूं—इसके विपरीत, मैं अत्यंत यथार्थ क्रियात्मक तथ्यों से बरतता रहा हूं। मैंने तो उससे केवल यही कहा था कि मुझे कठिनाई के समाधान का एक सूत्र प्राप्त हो चुका है, वह गत नवम्बर से मुझे सहारा देता आ रहा है और उसे मैं कार्यान्वित कर रहा हूं।

अब पुनः प्रकृत पर आवें: अतिमानस केवल साक्षात् स्वयंभू सत्य-चेतना और साक्षात् स्वतःसमर्थ सत्यशक्ति है। अतः इस विषय में जादूगरी का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। जो सत्य नहीं है वह अतिमानसिक भी नहीं। जहां तक स्थिरता एवं शांति का प्रश्न है, इसे प्राप्त करने के लिये अतिमानस की कुछ भी आवश्यकता नहीं। इसे तो मनुष्य उच्चतर मन के स्तर पर भी प्राप्त कर सकता है जो कि मानवी बुद्धि के ऊपर का एकदम अगला स्तर है। मैंने ये चीजें १९०८ में, २७ वर्ष पहले, प्राप्त कर ली थीं और मैं तुम्हें विश्वास दिला सकता हूं कि वे निःसंदेह काफी ठोस तथा काफी अद्भुत थीं तथा उन्हें और अधिक ऐसा बनाने के लिये अतिमानसिकता की कोई आवश्यकता नहीं। पुनश्च, "एक ऐसी स्थिरता जो क्रिया एवं गति जैसी दीख पड़ती है" एक ऐसा दृग्विषय है जिसके संबंध में मैं कुछ नहीं जानता। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है वह है स्थिरता या निश्चलनीरवता—इसका प्रमाण यह है कि मन की पूर्ण नीरवता में से मैंने ४ महीने "वंदे मातरम्" का संपादन किया तथा "आर्य" के ६ खण्ड लिखे, तब से मैंने जो इतने सारे पत्र और संदेश इत्यादि लिखे हैं उनका तो कुछ हिसाब ही नहीं। यदि तुम कहो कि लिखना कोई कर्म या गति नहीं है वरन् केवल एक ऐसी चीज है जो इस जैसी दिखाई देती है, चेतना की एक माया है,—अच्छा, तो भी उस स्थिरता तथा निश्चलनीरवता में से मैंने एक विशेष आयासपूर्ण राजनीतिक आंदोलन चलाया और एक आश्रम की व्यवस्था में भी योगदान किया है जो आश्रम कम से कम स्थूल इंद्रियों को ठोस तथा भौतिक दृष्टिगोचर होता है। यदि तुम इन चीजों को भौतिक या ठोस मानने से इन्कार करो (जैसा कि तुम दार्शनिक तौर पर अवश्य ही कर सकते हो), तब तुम धम से शंकर के मायावाद में गिर पड़ोगे, और वहां मैं तुम्हें छोड़ दूंगा।

परंतु तुम कहोगे कि जिस चीज ने मुझे इन साकार गतियों और कर्म में सहायता दी वह अतिमानस नहीं वरन् अधिक से अधिक अधिमानस है। किंतु पारिभाषिक रूप में अतिमानस मन या अधिमानस की अपेक्षा महत्तर शक्तिशाली क्रिया है। मैं कह चुका हूं कि जो सत्य नहीं वह अतिमानसिक नहीं; इसके साथ मैं इतना और कहूंगा कि जो चीज अकार्यक्षम है वह अतिमानसिक नहीं। अंत में मैं यह कहकर उपसंहार करता हूं कि मैंने 'न' व्यक्ति से यह नहीं कहा है कि मैंने अतिमानस को पूर्णतः अधिकृत कर लिया है—मैं केवल यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानता हूं कि मैं इसके अतिनिकट हूं। परंतु "अतिनिकट" तो, आखिरकार, सभी मानवी शब्दों की भांति एक सापेक्ष शब्द है।

मुझे मालूम नहीं कि तुम्हें 'र' व्यक्ति को कैसे उत्तर देना चाहिये। शायद तुम मे दो सूत्रों द्वारा दे सकते हो, पर यह संदिग्ध है। या शायद तुम उसे बता सकते हो कि अतिमानस निश्चलनीरवता है–हां, यह बात होगी मिथ्या। अतः मैं तुम्हें तुम्हारी द्विविधा ही छोड़े देता हूं–और कोई गति ही नहीं। कम से कम जब तक मैं अतिमानस पर भौतिक अधिकार प्राप्त करके मनोमय जीवों एवं मनुष्यों के पास आकर उन्हें उसकी बात सुना सकूं–निःसंदेह, एक ऐसी भाषा में जो उनकी समझ में आने योग्य हो,–तब तक मु मूक रहना होगा, क्योंकि अब तक मेरे लेखों द्वारा जो कुछ थोड़ा सा व्यक्त हुआ है उ भी उन्होंने बिल्कुल गलत समझा है।

२३. ८. १९३५

अतिमानसिक प्रक्रिया

नहीं, अतिमानस शरीर में या जड़प्रकृति में नहीं उतरा है–यह केवल ठीक उस स्थिति है जहां ऐसा अवतरण संभव ही नहीं वरन् अनिवार्य हो गया है; निःसंदेह, मैं अप अनुभव के बारे में ही कह रहा हूं। परंतु क्योंकि मेरा अनुभव अन्य सभी अनुभवों का के और नियामक है अतः वह आश्वासन के लिये पर्याप्त है।

मेरी कठिनाई यह है कि तुम सब एक प्रकार के चमत्कारक, परियों की कहानी के परिवर्तन की आशा करते दिखते हो और यह नहीं अनुभव करते कि मेरी साधना का लक्ष ही है द्रुत तथा समाहृत विकास और यह कि इसके लिये कोई प्रक्रिया अवश्य होनी चाहिये निम्नतर में उच्चतर की क्रिया और सभी आवश्यक मध्यवर्ती अवस्थाओं से बर्ताव अवश्य होना चाहिये–यह नहीं कि सृष्टि की आकस्मिक करामात से प्रत्येक चीज नियत तिथि पर पूरी हो जाय। यह अतिमानसिक प्रक्रिया है पर तर्कविरुद्ध प्रक्रिया नहीं। जो कुछ किया जाना है वह पूरा होगा ही–शायद महावेग से भी–पर सुसमाहित ढंग से, परियों की कहानियों के अनुसार नहीं।

१४. ११. १९३३

अतिमानसिक अवतरण की अवश्यंभाविता

तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि मैं स्वयं बुद्धिवादी रहा हूं तथा संशयों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हूं–माताजी और मैं दोनों के मन का एक पार्श्व क्रियात्मक परिणामों के बारे में वैसा ही प्रत्यक्षवादी तथा आग्रहशील रहा है जैसा कि कोई भी रसेल, वरंच उससे भी कहीं अधिक जैसा कि कोई भी रसेल हो सकता है। हम उन चमकीले विचारों और वचनों से कभी संतुष्ट नहीं हो सकते थे जिन्हें कोई रोलां या कोई और व्यक्ति सत्य का सुनहरा सिक्का समझता है। हमें अच्छी तरह मालूम है कि आंतरिक अनुभूति और क्रियाशील बहिर्गामी तथा कार्यसाधिका शक्ति में क्या अंतर है। अतएव चाहे हममें श्रद्धा है, (और किसने भला अपने ध्येय में या अपने पीछे क्रिया करते हुए परम सत्य में श्रद्धा रखे बिना संसार में कभी कोई बड़ा काम किया है?) तो भी हम अपने आपको केवल श्रद्धा पर नहीं बल्कि ज्ञान के महान् आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं जिसका हम अपने जीवनभर विकास तथा परीक्षा करते रहे हैं। मेरे विचार में मैं कह सकता हूं कि जितनी सूक्ष्मता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई वैज्ञानिक अपने सिद्धांत या अपनी विधि को भौतिक स्तर पर परखता है उससे भी अधिक सूक्ष्मतापूर्वक मैं कितने ही वर्षों तक दिनरात अपने ज्ञान को परखता रहा हूं। इसी कारण मैं अपने चारों ओर के जगत् के स्वरूप से भयभीत नहीं होता और न ही उन विरोधी शक्तियों के प्रायः सफल प्रकोप से विक्षुब्ध होता हूं जिनका क्रोध वैसे वैसे बढ़ता ही जाता है जैसे जैसे प्रकाश पृथ्वी तथा जड़प्रकृति के क्षेत्र के अधिकाधिक समीप आता जाता है।

यदि मैं केवल इसकी संभावना में ही नहीं बल्कि सुशक्यता में विश्वास करता हूं, यदि मैं अतिमानसिक अवतरण के संबंध में व्यवहारतः निश्चयवान् अनुभव करता हूं (मैं कोई तिथि तो निश्चित नहीं करता) तो, इसका कारण यह है कि ऐसे विश्वास के लिये मेरे पास आधार हैं, यह कोई हवाई विश्वास ही नहीं है। मुझे ज्ञात है कि अतिमानसिक अवतरण अवश्यंभावी है–अपने अनुभव को दृष्टि में रखते हुए मुझे विश्वास है कि वह काल अभी हो सकता है और होना चाहिये, किसी सुदूर युग में नहीं... परंतु चाहे मुझे यह पता लगता कि यह सुदूर काल की बात है तो भी मैं अपने पथ से विचलित न होता और न ही अपने पुरुषार्थ में निरुत्साहित होता या ढीला पड़ता। पहले मैं निरुत्साहित हो सकता था पर 'अब'–इतना सब रास्ता तै कर चुकने के बाद–नहीं। जब कोई सत्य के संबंध में निश्चयात्मा होता है, अथवा जब कोई अपनी अनुसृत वस्तु को एकमात्र संभव समाधान मानता है तब वह अविलंब सफलता की शर्त नहीं रखता, वह साहसकार्य के प्रत्येक संकट को सर्वथा सार्थक समझकर उसका सामना करता हुआ प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। तथापि तुम्हारी तरह मैं भी अभी, इसी जीवन में इसकी प्राप्ति का आग्रह करता हूं, किसी और जन्म में या परलोक में नहीं।

३०. ८. १९३२

भौतिक स्तर तक पूर्णता

जहां तक रोग का प्रश्न है, निःसंदेह भौतिक स्तर तक पूर्णता प्राप्त करना योग के आदर्श का अंग है, पर यह अंतिम वस्तु है और, जब तक शरीर से संबंध रखनेवाली स्थूल चेतना में मौलिक परिवर्तन संपादित न हो जाय तब तक, मनुष्य शरीर में मुक्ति प्राप्त किये बिना अन्य स्तरों पर कुछ थोड़ी सी पूर्णता अधिगत कर सकता है। हमने पूर्णता की खोज अपने पृथक् स्वार्थ के लिये नहीं की है बल्कि सार्वभौम परिवर्तन के अंग के रूप में–दूसरों के लिये पूर्णता की संभावना पैदा करने के लिये की है। यदि हम उपलब्धि और रूपांतर की कठिनाइयों को स्वीकार करके उनका सामना न करते तथा अपने लिये उनपर विजय प्राप्त न करते तो यह कार्य किया ही न जा सकता। यह अन्य स्तरों पर पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका है–पर भौतिक स्तर के अत्यंत जड़ भाग पर अभी तक नहीं। जब तक यह कार्य पूर्ण न हो जाय, संघर्ष जारी रहेगा और, यद्यपि यौगिक क्रिया और आत्मरक्षा की शक्ति उपस्थित हो सकती है और है भी, तथापि पूर्ण मुक्ति नहीं हो सकती। माताजी की कठिनाइयां अपनी निज की नहीं हैं; वे दूसरों की कठिनाइयों को वहन करती हैं तथा उन कठिनाइयों को भी जो रूपांतर के लिये की जानेवाली सामान्य क्रिया में तथा उसकी प्रणाली में अंतर्निहित हैं। यदि ऐसा न होता तो बात बिल्कुल कुछ और ही होती।

अगस्त, १९३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष और युद्ध

परंतु फिर तुम्हारे वैसे ही अतिविचित्र विचार !–कि मैं अतिमानसिक स्वभाव को लेकर जन्मा था और कि मुझे कठोर वास्तविकताओं का कुछ भी पता नहीं ! राम राम ! मेरा सारा जीवन कठोर वास्तविकताओं के साथ संघर्षरूप रहा है–इंगलैंड में कष्ट-क्लेश, क्षुत्पीड़ा, सतत संकट तथा भीषण कठिनाइयों से लेकर यहां पांडीचेरी में लगातार सिर उठानेवाली, अति गुरुतर, बाहरी तथा भीतरी कठिनाइयों तक से मुझे संघर्ष करना पड़ा है। मेरा जीवन प्रारंभिक वर्षों से ही युद्धरूप रहा है और अभी भी युद्धमय है : यह तथ्य कि अब मैं इसे उपरली मंजिल के कमरे में बैठा हुआ आध्यात्मिक एवं अन्यान्य बाहरी साधनों से चलाता हूं, इसके स्वरूप में कुछ अंतर नहीं डालता। परंतु निःसंदेह क्योंकि हम इन चीजों के बारे में चिल्लाते नहीं रहे हैं अतएव मेरी समझ में यह स्वाभाविक ही है कि दूसरे लोग ऐसा सोचें कि मैं एक महनीय, ऐन्द्रजालिक, सुखमय स्वप्नलोक में निवास कर रहा हूं–जहां जीवन या विश्वप्रकृति के विषम तथ्य उपस्थित ही नहीं होते। परंतु यह कैसा भ्रम है !

साधना में सच्ची गति

तुम ध्यान किसे कहते हो ? आंखें मूंदकर एकाग्रता करना ? यह सच्ची चेतना को नीचे पुकार लाने के लिये केवल एक विधि है। सच्ची चेतना से जुड़ जाना, योगयुक्त होना या उसका अवतरण अनुभव करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और यदि यह रूढ़ पद्धति के बिना प्राप्त हो जाय, जैसे यह सदा ही मुझे प्राप्त हुई, तो बहुत ही उत्तम होगा। ध्यान केवल एक साधन या उपाय है, सच्ची गति तो वह है जब मनुष्य चलते-फिरते, काम-काज करते या बोलते-चालते भी साधना में रहे।

१०. ६. १९३३

माताजी की ओर उद्घाटित होना

उद्घाटित होने का सीधा-सादा अर्थ यही है कि माताजी की ओर अभिमुख हुए रहना जिससे उनकी शक्ति तुममें इस प्रकार कार्य कर सके कि कोई भी चीज उनकी क्रिया का निषेध न करे और उसमें बाधा न डाले। यदि मन अपने ही विचारों में आबद्ध है तथा माताजी को प्रकाश एवं सत्य का प्रवेश नहीं करने देता, यदि प्राण अपनी इच्छाओं से चिमटा रहता है तथा माताजी की शक्ति से जनित सच्ची प्रवर्तना एवं प्रेरणाएं नहीं अपनाता, यदि शरीर अपने इच्छामूलक आयासों एवं जड़ता में आबद्ध है तथा प्रकाश एवं बल को अपने अंदर घुसने तथा काम करने नहीं देता तो, मनुष्य खुला हुआ नहीं है। एक साथ सभी चेष्टाओं में पूरी तरह खुले होना संभव नहीं, परंतु प्रत्येक अंग में केंद्रीय उद्घाटन आवश्यक है और साथ ही एकमात्र माताजी की "क्रियाओं" को स्वीकार करने के लिये (केवल मन में ही नहीं) अंग अंग में बलवती अभीप्सा का संकल्प आवश्यक है; तब और सब कुछ उत्तरोत्तर होता चला जायगा।

२८. १०. १९३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमानस और मनुष्यजाति

अतिमानस के अवतरण से मानव-मन का मौलिक रूपांतर

तब, भला हमारी पार्थिव सत्ता में अतिमानस का अवतरण होने पर मनुष्यजाति के लिये उसका परिणाम क्या होगा, इस जाति के लिये उसका क्या परिणाम होगा जो अज्ञान और निश्चेतना के जगत् में उत्पन्न हुई है पर जो अपनी चेतना का ऊर्ध्वमुखी क्रमविकास साधित करने तथा आध्यात्मिक पुरुष और आध्यात्मिक प्रकृति की ज्योति और शक्ति और आनंद की ओर आरोहण करने में समर्थ है? यह नहीं हो सकता कि पार्थिव जीवन में अतिमानस और उसकी सत्य-चेतना–ऋत-चित् जैसी एक परम सर्जनात्मिका शक्ति के अवतरण का केवल यही अर्थ हो कि इस जीवन में एक नया पहलू या नया अंग जुड़ जाय अथवा इसके अग्रभाग में स्थापित हो जाय पर उसका और कोई महत्त्व न हो अथवा केवल एक सीमित महत्त्व हो जो बाकी पार्थिव प्रकृति पर गभीर प्रभाव डालनेवाला कोई फल उत्पन्न न करे; विशेषकर यह अवतरण सामूहिक रूप से समस्त मनुष्यजाति पर अपना महान् प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, यहां तक कि यह यहां, इस पृथ्वी पर के उसके जीवन के स्वरूप और भावी आशा-संभावना में भी मूलगत परिवर्तन ले आ सकता है, भले ही, जिस जड़ जगत् में हस्तक्षेप करने के लिये यह शक्ति अवतरित होगी, उसपर उसका कोई दूसरा विशेष प्रभाव न भी उत्पन्न हो। इस निर्णय पर हमें पहुंचना ही होगा कि इस अवतरण का प्रभाव, इसके द्वारा साधित परिवर्तन सुदूरव्यापी होगा, यहां तक कि अपार होगा; यह अवतरण इस पृथ्वी पर केवल अतिमानस और अतिमानवों की एक जाति को ही स्थापित नहीं करेगा; यह स्वयं मन में भी और, उसके अनिवार्य फलस्वरूप, मनोमय प्राणी मनुष्य की चेतना में भी एक प्रकार का ऊपर उठानेवाला और रूपांतरकारी परिवर्तन ले आ सकता है और उसी तरह उसके रहन-सहन के सिद्धांतों और ढंगों में, उसकी कार्य-पद्धतियों में और उसके जीवन में की समूची गठन और धारा में भी एक मूलगत और रूपांतरकारी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। निश्चय ही यह अवतरण मनुष्य के लिये अतिमानसिक चेतना और अतिमानसिक जीवन प्राप्त करने का मार्ग खोल देगा, क्योंकि हमें यह मानना ही होगा कि एक ऐसा रूपांतर होने पर ही अतिमानवों की एक जाति उत्पन्न हो सकेगी, ठीक उसी तरह जिस तरह कि इससे पहले इससे कम पूर्ण रूप में पर पर्याप्त मात्रा में चेतना के उन्नत और विशाल होने पर तथा शरीररूपी यंत्र और उसकी अंतरीय विकसनशील मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों और सामर्थ्यों के रूपांतरित होने पर ही आदि पशु-स्थिति में से स्वयं यह मानवजाति प्रकट हुई थी। परंतु ऐसा कोई पूर्ण रूपांतर अगर न भी साधित हो तो भी हम आज यहां जिस तत्त्व को देख रहे हैं, जो तत्त्व मूल अज्ञान का एक तत्त्व है, जो ज्ञान की खोज करता है और केवल आंशिक ज्ञान ही प्राप्त करता है, उसके स्थान पर एक सत्य का तत्त्व इस प्रकार स्थापित हो सकता है कि अपने निज स्वरूप को प्राप्त किया हुआ मानव-मन ज्योति की और ज्ञान की शक्ति बन जाय, अब केवल मध्यवर्त्ती गोधूलि का ही अधिवासी अथवा अज्ञान का ही सेवक और सहायक तथा सत्य और भूल-भ्रांति के संमिश्रण का ही पोषक न रह जाय। मन अपने मूल स्वरूप में जो कुछ है वही वह मनुष्य के अंदर भी बन सकता है–अतिमानस की एक गौण, सीमित और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्ट क्रिया, सत्य को धारण करनेवाला पर्याप्त ज्योतिर्मय एक पात्र बन सकता है, और कम से कम उसकी क्रिया में से सब प्रकार का मिथ्यापन दूर हो जा सकता है।

अतिमानस विकासक्रम को भंग नहीं करेगा

यहां तुरत यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ऐसा होने पर तो समूचा विवर्त्तन-क्रम और उसकी समतोलता ही भंग हो जायगी और उसकी परिपूर्णता में एक अलंघ्य व्यवधान उत्पन्न हो जायगा; मनुष्य और पशु के बीच एक दुस्तर खाई रह जायगी और विकासात्मक आवेग को–विवर्त्तन की क्रिया को ऐसा कोई रास्ता ही नहीं मिलेगा जिससे कि वह पशुता से दिव्यता की ओर चेतना की प्रगति साधित करने के लिये इस खाई के ऊपर से यात्रा कर सके; क्योंकि प्रस्तावित रूपांतर के अंदर एक प्रकार की दिव्यता निहित होगी। साथ ही यह तर्क उपस्थापित किया जा सकता है कि विवर्त्तन की यथार्थ प्रक्रिया है–पहले से वर्तमान क्रम में एक नया तत्त्व, सोपान या स्तर जोड़ देना, न कि पहले से स्थापित किसी पहलू में कोई फेर-फार करना। मनुष्य उत्पन्न हुआ पर पशु पशु ही बना रह गया, उसने अर्ध-मनुष्यत्व की ओर कोई प्रगति नहीं की : मनुष्य के संसर्ग से या मनुष्य के द्वारा शिक्षा पाने के कारण अगर पालतू पशुओं की चेतना में, उनकी क्षमताओं और आदतों में कोई मामूली परिवर्तन आया है तो वह केवल उनकी पशुबुद्धि में ही एक सामान्य परिवर्तन है। पेड़-पौदे, इससे भी कहीं कम, पशु-चेतना की ओर अग्रसर हो सकते हैं अथवा जड़तत्त्व अवचेतन रूप से या अर्द्ध-अवचेतन रूप से भी अपने विषय में अत्यल्प मात्रा में सचेतन हो सकता है अथवा प्रत्युत्तर देने योग्य या प्रतिक्रिया करने योग्य बन सकता है। विश्व-व्यवस्था में मौलिक भेद बने ही रहते हैं और ज्यों के त्यों, बिना किसी परिवर्तन के बने ही रहने चाहियें। परंतु इस आपत्ति के पीछे यह मान्यता वर्तमान है कि नई मनुष्यजाति पूरी की पूरी बस एक स्तर की ही होगी; वास्तव में इस जाति में भी चेतना के विभिन्न स्तर हो सकते हैं और ये स्तर सबसे कम विकसित मनुष्यों और उच्चतर पशु-ओं के बीच की दूरी को भर देंगे। कारण, उच्चतर पशु यद्यपि अर्द्ध-मनुष्य की कोटि में नहीं जा सकते, फिर भी ये एक प्रकार की उच्चतर पशुबुद्धि की ओर प्रगति कर सकते हैं; क्योंकि, कुछ प्रयोगों से पता चलता है कि ये एकदम पूर्ण रूप से अनुन्नतिशील नहीं होते। चेतना की यह क्रमपरंपरा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण करने के कार्य में उसी तरह सहायता पहुंचायेगी जिस तरह कि वर्तमान क्रम के अंदर सबसे कम विकसित मनुष्य सहायता करते हैं और कोई इतना चौड़ा अंतर रह ही नहीं जायगा जो विश्व के विवर्तनक्रम को भंग कर दे। एक पर्याप्त अंतर, जैसा कि है, दिखायी दे सकता है जो विभिन्न स्तरों को अलग कर सके, जैसे, जड़ और उद्भिद्, उद्भिद् और निम्न कोटि के पशु, दो अलग-अलग कोटि के पशुओं के बीच का अंतर तथा उच्चतम पशु और मनुष्य के बीच बराबर रहनेवाला और पर्याप्त विशाल अंतर। अतएव विवर्तनक्रम के अंदर कोई ऐसा दरार नहीं हो जायगा जो भरा न जा सके, मानव-मन और पशु-मन के बीच, नए प्रकार के मनुष्य और पुराने पशु-स्तर के बीच ऐसी कोई दूरी नहीं रह जायगी जो पार न की जा सके अथवा कोई ऐसी खाई उत्पन्न नहीं होगी जिसपर पुल न बांधा जा सके और अधिक विकसित पशु-जीव नई मनुष्यजाति की सबसे कम विकसित कोटि में संक्रमण करने में असमर्थ हो। एक व्यवधान, एक अंतर अवश्य रहेगा जैसा कि अभी है; पर यह पशुत्व और दिव्यत्व के बीच में नहीं रहेगा, पशु-मन से लेकर अतिमानस तक फैला हुआ नहीं रहेगा;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि यह पशु-मन और मानव-मन के बीच में रहेगा—पशु-मन जो अत्यंत ऊंची अवस्था तक विकसित होकर मानवोचित संभावनाओं की ओर उन्मुख है—क्योंकि इसके बिना पशु से मनुष्ययोनि में जाना संभव नहीं हो सकता—तथा मानव-मन जिसने अपनी निजी उच्चतर पर अप्राप्त सामर्थ्यों और क्षमताओं को अभी पूर्ण रूप से अधिगत तो नहीं किया है किंतु जो उन्हें उपलब्ध करने की संभावना के प्रति जाग्रत् हो गया है।

पार्थिव प्रकृति में अतिमानस का हस्तक्षेप होने पर, परम सर्जनात्मिका दिव्य सत्य-शक्ति का अवतरण होने पर उसका एक फल निश्चय ही यह हो सकता है कि क्रमविकास के नैसर्गिक नियम, उसकी कार्यपद्धति और उसकी व्यवस्था में ही एक परिवर्तन हो जाय, ज्ञान के भीतर से होनेवाले क्रमविवर्तन की विधिव्यवस्था का कोई विशालतर तत्त्व भौतिक जगत् की शक्तियों के अंदर प्रविष्ट हो जाय। यह तत्त्व नई सृष्टि के एकदम प्रथम प्रारंभ से ही अपने आपको प्रसारित कर सकता है और विकासक्रम पर अपना वर्द्धमान प्रभाव डाल सकता है—यह विकासक्रम अभी संपूर्ण रूप में अज्ञान में होनेवाला क्रमविकास है और निःसंदेह यह निश्चेतना के परिपूर्ण अज्ञान से यात्रा आरंभ करता और उस ओर अग्रसर होता है जो उसकी ज्ञानप्राप्ति की सर्वोच्च अवस्था में भी अपेक्षाकृत कम अज्ञान ही माना जा सकता है, क्योंकि वह ज्ञान पर सीधा और पूर्ण आधिपत्य नहीं होता, बल्कि ज्ञान का एक प्रतिरूप होता है। अगर मनुष्य एक प्रकार की परिपूर्णता के साथ उच्चतर ज्ञान की शक्तियों और साधनों को विकसित करना आरंभ कर दे, अगर विकसनशील पशु सचेतन विचारों और प्रारंभिक युक्तितर्क का आना प्रारंभ होने के लिये अपने मन का दरवाजा खोल दे—अपनी उच्चतम स्थिति में वह आज भी ऐसा करने में एकदम असमर्थ नहीं है—, अगर उद्भिद अपनी प्रथम अवचेतन प्रतिक्रियाओं को विकसित करे और एक प्रकार की प्रारंभिक स्नायविक संवेदनशीलता को प्राप्त कर ले, अगर जड़तत्त्व जो आत्मतत्त्व का ही एक अंधा रूप है, अपने अंदर छिपी हुई शक्ति से कहीं अधिक सतेज हो उठे और अधिक आसानी के साथ वस्तुओं के गुप्त अर्थ को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करे, जिन गुह्य सद्वस्तुओं को वह छिपा रखता है उन्हें हमारे सामने खोल दे,—उदाहरणार्थ, भूतकाल की स्मृति जिसे वह अपनी मूक अचेतनता की अवस्था में भी बराबर ही सुरक्षित रखता है, अथवा उसके अंदर निहित शक्तियों और उसकी अदृश्य गतियों की क्रिया, जो जड़ प्रकृति में छिपी हुई शक्तियों को नई मानवबुद्धि की सूक्ष्मतर सर्वसामान्य बोधशक्ति के सामने प्रकट करती है,—तो यह एक महान् परिवर्तन होगा जो भविष्य में और भी महत्तर परिवर्तन होने की आशा बंधायेगा; परंतु इसका बस यही अर्थ होगा कि विश्वव्यवस्था में एक प्रकार की उन्नति हो गई है, यह नहीं कि उसमें कोई गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है। स्वयं क्रमविकास भी विकसित हो जायगा, पर वह अस्तव्यस्त या नष्टभ्रष्ट नहीं हो जायगा।

मन का वास्तविक स्वभाव

इस तरह मैंने यहां यह संकेत किया है कि अतिमानसिक सत्यचैतन्य के नेतृत्व के अधीन स्वाभाविक रूप से एक परिवर्तन घटित होगा और मानव-मन रूपांतरित हो जायगा; सिद्धांततः इस बात की धारणा करना अथवा व्यवहारतः इसकी संभवनीयता को स्वीकार करना हमारे लिये कठिन है, क्योंकि मन के विषय में हमारी धारणा मानव-मन की इस जगत् में होनेवाली अनुभूति पर आश्रित है, परंतु यह जगत् निश्चेतना से रवाना होता है और एक आदिम लगभग पूर्ण अचेतनता और धीरे धीरे कम होनेवाले एक अज्ञान के भीतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से होकर, केवल आंशिक रूप से सज्जित ज्ञान की ओर जाता है--वह ज्ञान उच्च कोटि का तो होता है पर उसका विस्तार बराबर ही सीमित और उसकी कार्यपद्धति अपूर्ण होती है और वह उस चेतना की आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से पूरी नहीं करता जो अपनी ही अभी तक असीम रूप से दूरस्थ निर्विशेष अवस्था की ओर अग्रसर होने का बराबर प्रयास करती है। आज यहां, क्रमविकास की वर्तमान अवस्था में हम मन की जो अपूर्णताएं और सीमाएं देखते हैं उन्हें हम उसके निजी स्वभाव का ही अंग मानते हैं; पर वास्तव में देखा जाय तो मन अभी तक जिन सब चौहद्दियों के अंदर बंद है वे सब केवल सामयिक-अस्थायी सीमाएं हैं; वे सब ऐसे घेरे हैं जो क्रमविवर्तन के अंदर अभी मन की पूर्ण प्रगति न होने के कारण उत्पन्न हुए हैं। मन की पद्धतियों और साधनों में जो दोष-त्रुटियां हैं वे उसकी अपरिपक्वता के दोष हैं, उसकी सत्ता की बनावट के लिये स्वाभाविक नहीं हैं। मन ने जो कुछ सिद्धियां पाई हैं, वे यद्यपि पार्थिव शरीर में रहनेवाले अपने करणों के बोझ से दबी हुई मनोमय सत्ता की बाधक अवस्थाओं के भीतर असाधारण ही कही जायंगी तथापि अपने आलोकित भविष्य के अंदर मन के लिये जो कुछ करना संभव है उससे परे की नहीं, बल्कि बहुत अधिक नीचे की ही ये सब चीजें हैं। क्योंकि मन अपने निज स्वभाव में भूल-भ्रांतियों का स्रष्टा नहीं है, झूठी बातों का जनक नहीं है, मिथ्यापन के प्रति ग्रहणशील होने के लिये बंधा हुआ नहीं है, अपनी भूलों का चिरसंगी नहीं है और ठोकरें खाते हुए अग्रसर होनेवाले जीवन का अगुआ नहीं है जैसा कि अभी वह हमारी मानवोचित त्रुटियों के कारण बहुत अधिक मात्रा में दिखाई देता है। वह अपने मूल रूप में ज्योति का तत्त्व है, अतिमानस से प्रकट होनेवाला एक यंत्र है; और चाहे सीमाओं के अंदर कार्य करने के लिये और यहां तक कि सीमाएं उत्पन्न करने के लिये वह नियुक्त किया गया है, फिर भी ये सीमाएं एक विशिष्ट क्रिया के लिये निर्मित ज्योतिर्मय सीमाएं हैं, स्वेच्छाकृत और उद्देश्यपूर्ण सीमाएं हैं, अनंत की दृष्टि के नीचे अपने आपको सदा प्रसारित करनेवाले सांत का एक सेवा-कार्य हैं। अतिमानस का स्पर्श होने पर मन का यही स्वभाव प्रकट होगा और मानव-मन को अतिमानसिक ज्ञान का एक अंग और एक गौण करण बना देगा। मन के लिये यहां तक भी संभव हो जायगा कि वह अब बुद्धि से सीमित न रहे और एक प्रकार का मनोमय ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सके, एक संकुचित क्रिया के द्वारा परम ज्ञान को एक ज्योतिर्मय रूप में पुनः प्रकाशित कर सके और इस तरह केवल अपने ही स्तर तक नहीं, बल्कि चेतना के निम्नतर स्तरों तक भी दिव्य ज्योति की शक्ति को फैला सके जिससे वे भी अपने आपको अतिक्रम करने के लिये ऊपर उठने में समर्थ हों। अधिमानस, संबोधि, आलोकित मन और जिसे मैं उच्चतर मन कहता हूं, ये सब तथा अध्यात्मभावापन्न और मुक्त मन के दूसरे दूसरे स्तर समुन्नत मानव-मन के अंदर तथा उसकी विशुद्ध और उन्नीत अनुभूति और जीवनी-शक्ति और क्रिया के अंदर अपनी शक्तियों का कियदंश प्रतिफलित कर सकेंगे और इस तरह अंतरात्मा को आरोहणशील सत्ता की अपनी निजी अधित्यकाओं और चोटियों तक आरोहण के लिये तैयार कर सकेंगे। मूलतः इसी परिवर्तन की हम आशा कर सकते हैं जो नए क्रमविवर्तन की धारा के द्वारा साधित होगा और इसका अर्थ होगा स्वयं क्रमविवर्तन के क्षेत्र का प्रचुर प्रसार और फिर यही इस प्रश्न का उत्तर भी दे देगा कि पार्थिव प्रकृति के अंदर अतिमानस के आगमन का मनुष्यजाति के लिये क्या फल होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमानस के स्पर्श से मानवजाति की उन्नति

यद्यपि मन मूलतः अतिमानस से आया है और स्वयं अतिमानस की ही एक शक्ति है, ज्योति का एक तत्त्व और ज्योति की एक शक्ति है अथवा ज्ञान की एक ऐसी क्रिया-शक्ति है जो एक गौण अभिप्राय की सिद्धि के हेतु एक विशेष प्रकार की क्रिया करने के लिये निर्धारित की गई हैं, तथापि जब यह इस अभिप्राय को कार्यान्वित करने के लिये अतिमानसिक ज्योति से, अतिमानसिक तत्त्व की निकटवर्त्ती शक्ति और धारक ज्योति से अपने आपको क्रमशः पृथक् करता है, तब यह एक दूसरा ही रूप ग्रहण कर लेता है। और जब यह इस दिशा में अपने निजी उच्चतम सत्य से अधिकाधिक दूर चला जाता है तभी यह अज्ञान का स्रष्टा या जनक बन जाता है और अज्ञानमय जगत् की एक उच्चतम शक्ति हो जाता अथवा प्रतीत होता है। यह स्वयं अज्ञान के अधीन हो जाता है और केवल आंशिक और अपूर्ण ज्ञान को ही प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। इसके इस पतन का कारण यह है कि अतिमानस इसका उपयोग प्रधानतया विभेद उत्पन्न करने के लिये ही करता है और, अगर कोई सृष्टि करनी हो और कोई विश्व उत्पन्न करना हो तो, यह विभेद उत्पन्न करना आवश्यक है। स्वयं अतिमानस के अंदर, उसकी समस्त सृष्टि के अंदर यह विभेद उत्पन्न करनेवाली शक्ति विद्यमान है, वहां एक में 'बहु' और 'बहु' में 'एक' का प्रकाश है; परंतु 'एक' कभी अपने 'बहुत्व' के अंदर विस्मृत या लुप्त नहीं हो जाता और 'बहुत्व' बराबर ही ज्ञानपूर्वक शाश्वत 'एकत्व' पर आश्रित होता है और कभी भी उससे प्रमुख पद ग्रहण नहीं करता। इसके विपरीत, मन में विभेद, 'बहुत्व' प्रधान हो जाता है और विश्वव्यापी एकत्व का सज्ञान बोध खो जाता है और प्रत्येक पृथक् इकाई के विषय में ऐसा मालूम होता है मानों कि उसका अस्तित्व स्वयं अपने लिये और अपने द्वारा ही एक स्वतःसमर्थ आत्मसचेतन अखंड राशि के रूप में है अथवा निर्जीव वस्तुओं में एक निश्चेतन अखंड राशि के रूप में है। जो हो, यहां पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि मनोमय जगत् या स्तर अज्ञान का ही राज्य हो जहां मिथ्यापन, भूल-भ्रांति या अचेतनता को अवश्य स्थान प्राप्त होगा; वह केवल ज्ञान का अपने लिये एक स्वेच्छाकृत सीमाबंधन हो सकता है। यह एक ऐसा जगत् हो सकता है जहां मन द्वारा निर्धारित होने योग्य सभी संभावनाएं काल-प्रवाह के अंदर अपने आपको अभिव्यक्त कर सकती हैं और अपने कार्य का यथार्थ स्वरूप और क्षेत्र, अपना निजी अभिव्यंजनात्मक आकार, अपना विकास करने की क्षमता, एक प्रकार की अपनी सिद्धि, अपने निज स्वरूप का पता पा सकती हैं। ठीक ठीक यही चीज हम उस समय पाते हैं जब हम अपनी आंतरिक अनुभूति में अवतरण की धारा का अनुसरण करते हैं जिसके द्वारा क्रमनिवर्तन घटित होता है और अंत में जड़तत्त्व तथा स्थूल विश्व की सृष्टि होती है। यहां हम जो कुछ देखते हैं वह सब अवरोहण के स्तर या लोक नहीं हैं जिनमें मन और प्राण अपने निजी सत्य का कुछ अंश और आत्मा की ज्योति का कुछ अंश, अपनी शुद्ध और यथार्थ सत्ता का कुछ अंश बनाये रख सकते हैं; यहां हम एक आदिम निश्चेतना को देखते हैं और यह देखते हैं कि जड़ निश्चेतना में से और तज्जनित अज्ञान के अंदर विकसित होने के लिये प्राण और मन और आत्मा संघर्ष करते हैं जिससे वे अपने आपको प्राप्त करें तथा अपनी संपूर्ण क्षमता और उच्चतम सत्ता की प्राप्ति की ओर अग्रसर हों, वर्द्धित हों। अगर मन इस प्रयास में सफल हो तो फिर कोई कारण नहीं कि वह अपना सच्चा स्वभाव, अपनी सच्ची विशेषता न ढूंढ़ निकाले और फिर एक बार ज्योति का तत्त्व और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति न बन जाय और अपने निजी तरीके से ही सच्चे और पूर्ण ज्ञान की क्रियाओं में सहायता न पहुंचाये। अपनी उच्चतम स्थिति में यह अपनी सीमाओं को पार कर अतिमानसिक सत्य में पहुंच सकता है और अतिमानसिक ज्ञान का अंग और कार्य-व्यापार बन सकता है अथवा कम से कम उस ज्ञान के साथ ऐक्य बनाये रखकर विभेद उत्पन्न करने का गौण कार्य पूरा कर सकता है। अतिमानस से नीचे अपनी निम्नतर स्थिति में यह एक मनोमय ज्ञान, एक आध्यात्मिक अथवा अध्यात्मभावापन्न बोध, अनुभव, कर्म और संवेदन हो सकता है जो अज्ञान का नहीं, बल्कि ज्ञान का कार्य कर सकता है। उससे भी और नीचे के स्तर पर यह वर्द्धमान ज्योति का पथ हो सकता है जो ज्योति से ज्योति में, सत्य से सत्य में ले जाय और अब पहले की तरह अर्द्ध-सत्य और अर्द्ध-अचेतनता की भूल-भुलैयां का चक्कर न बना रहे। यह सब एक ऐसे जगत् में होना संभव नहीं जहां अभी अरूपांतरित मन या मानव-मन ही नेता अथवा क्रमविकास का सबसे ऊंचा फल हो—ऐसा मानव-मन जो आज की तरह ही अपनी बाधक अयोग्यताओं के बोझ से दबा हुआ हो। परंतु यदि अतिमानस नेतृत्व और कार्यसंचालन करनेवाली शक्ति हो तो यह सब अच्छी तरह घटित हो सकता है और यहां तक कि यह मानव-जगत् में उसके अवतरण का और मनुष्यजाति के मन पर होनेवाले उसके स्पर्श का एक फल और प्रायः अनिवार्य फल भी माना जा सकता है।

परंतु कितनी दूर तक इसका प्रभाव होगा? क्या समूची मनुष्यजाति ऐसा स्पर्श प्राप्त करेगी या इस परिवर्तन के लिये तैयार उसका केवल एक अंश ही इसे प्राप्त करेगा? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि विश्व के वर्तमान क्रम के अंदर क्या अभीप्सित या संभव है। अगर क्रमविवर्त्तन का पुराना तत्त्व और क्रम सुरक्षित रखना ही हो तब तो जाति का केवल एक भाग ही आगे की ओर बढ़ सकेगा, बाकी भाग चेतना की आरोहणशील परंपरा के अंदर मनुष्य के पुराने स्थान, स्तर और कार्य को बनाये रखेगा। परंतु फिर भी मनुष्यों के और इन दो स्तरों या श्रेणियों के बीच एक पथ या पुल अवश्य होना चाहिये जिसके द्वारा क्रमविवर्तन एक में से दूसरे में संक्रमण कर सके; वहां मन इस योग्य होगा कि वह अतिमानसिक सत्य का संस्पर्श प्राप्त कर सके और उसके द्वारा परिवर्तित हो सके और इस तरह वह अंतरात्मा की ऊर्ध्वमुख गति का साधन बन सकेगा; वहां मन की एक ऐसी स्थिति अवश्य होगी जिसमें वह अतिमानस तक न पहुंचने पर भी उसकी ओर जाने के लिये ज्योति को ग्रहण करने और ज्योति के अंदर वर्द्धित होने में अवश्य समर्थ होगा; उसके द्वारा, एक महत्तर सत्य का प्रकाश अज्ञान के अंदर रहनेवाले जीव की मुक्ति और उन्नति के लिये अपनी किरणें नीचे भेजेगा, जैसा कि एक अस्पष्टतर माध्यम के द्वारा थोड़ा थोड़ा आज भी होता है। अतिमानस यहां एक पर्दे के पीछे छिपा हुआ है और यद्यपि वह अपने निजी विशिष्ट कार्य के लिये सुसंगठित नहीं है तथापि वह यहां की समस्त सृष्टि का सच्चा कारण है, सत्य और ज्ञान की वृद्धि करनेवाली तथा गुप्त सद्वस्तु की ओर अंतरात्मा का आरोहण करानेवाली यथार्थ शक्ति है। परंतु जिस जगत् में अतिमानस प्रकट हो चुका है वहां दूसरों से विच्छिन्न एक पृथक् अंग के रूप में वह कभी नहीं रह सकता, वह अनिवार्य रूप से केवल अतिमानवों की ही सृष्टि नहीं करेगा, बल्कि मनुष्यों को भी परिवर्त्तित और समुन्नत करेगा। मनोमय तत्त्व के परिपूर्ण परिवर्तन की बात को, जिसका यहां संकेत किया गया है, असंभव कहकर एकदम उड़ाया नहीं जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन का वर्तमान स्वरूप

मन को जैसा हम जानते हैं उसके अंदर चेतना की एक ऐसी शक्ति है जो अतिमानस से सर्वथा भिन्न है, एक और ही प्रकार की है; अब इसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो अतिमानस से उत्तराधिकार के रूप में हस्तगत हुई हो, उससे संबद्ध और उसपर आश्रित हो; बल्कि इसमें एक ऐसी शक्ति है जो वास्तव में अपने ज्योतिर्मय मूल से विच्छिन्न हो गई है और इसमें बहुत सी ऐसी विशेषताएं आ गई हैं जिन्हें हम इसके स्वभाव के सच्चे चिह्न मानते हैं। परंतु इनमेंसे कुछ विशेषताएं अतिमानस में भी हैं और भेद केवल उनके कार्य के प्रकार और सीमा में है, उनके मूल सत्त्व या तत्त्व में नहीं है। भेद यह है कि मन संपूर्ण ज्ञान की शक्ति नहीं है और जब यह अपने आपको अतिक्रम कर आगे बढ़ता है केवल तभी यह प्रत्यक्ष ज्ञान की शक्ति बनता है। यह सत्य की किरणें ग्रहण करता है पर सूर्य में निवास नहीं करता। यह मानों चश्मे से देखता है और इसका ज्ञान अपने यंत्रों के रंग से रंगा होता है। यह सूर्य को अपनी नंगी आंखों से नहीं देख सकता अथवा सूर्य की ओर सीधा नहीं ताक सकता। मन के लिये यह संभव नहीं कि वह सौर केंद्र में अथवा उस जाज्वल्यमान पिंड के अंदर किसी भी जगह में अथवा यहां तक कि पूर्ण सत्य के वृत्त की चमकती परिधि के ऊपर ही कहीं जा खड़ा हो और अभ्रांत और निरपेक्ष ज्ञान का अधिकार अर्जन करे या उसमें हिस्सा बंटावे। जब वह अतिमानस की ज्योति के समीप पहुंच जाय तभी उसके लिये यह संभव होगा कि वह कहीं उस सूर्य के समीप, उसकी किरणों के पूर्ण प्रकाश में, सत्य के संपूर्ण और सीधे आलोक के किसी भाग में निवास कर सके; अपनी उच्चतम स्थिति में भी मानव-मन इससे बहुत दूर होता है, वह अधिक से अधिक केवल एक सीमित वृत्त के अंदर विशुद्ध अंतर्दृष्टि, और प्रत्यक्ष दर्शन की किसी संकीर्ण प्रारंभिक स्थिति में निवास कर सकता है और, अपने आपको अतिक्रम करने के बाद भी, उसे उस सीमित सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के एक स्वप्न का कृत्रिम और खंडित प्रतिबिंब प्राप्त करने में भी बहुत समय लगेगा जो एक प्रतिनिधिस्वरूप दिव्यत्व को, एक देवता को, एक विश्वकर्मा को विशेष रूप से प्राप्त है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिये वह एक शक्ति है, परंतु वह या तो परीक्षणात्मक और अनिश्चित होता है और अच्छा संयोग प्राप्त होने या परिस्थिति के अनुकूल होने पर सफल होता है अथवा, यदि वह व्यावहारिक योग्यता या प्रतिभा की किसी शक्ति के द्वारा संरक्षित हो तो भी, भूल करने या अनिवार्य सीमाओं के अंदर आबद्ध रहने के लिये विवश होता है। उसका सर्वोच्च ज्ञान भी प्रायः अव्यावहारिक होता है और उसमें ठोस–वास्तविक पकड़ का अभाव होता है। उसे लक्ष्य तक पहुंचने के लिये सुविधाजनक उपायों और अनिश्चित साधनों का उपयोग करना पड़ता है, वह युक्ति, तर्क-वितर्क और वाद-विवाद पर, अनुमानों, कल्पना तथा न्यायशास्त्र की अनुमान-प्रमाण की सुनिश्चित पद्धति पर निर्भर करता है, केवल उसी अवस्था में सफल होता है जब कि उसे ठीक ठीक और पूरी की पूरी विषय-सामग्री दे दी जाती है और फिर भी उसमें यह संभावना होती है कि वह उसी सामग्री के आधार पर विभिन्न परिणामों और पृथक् पृथक् निर्णयों पर पहुंचे। उसे एक ऐसी पद्धति के साधनों को व्यवहृत करना और परिणामों को स्वीकृत करना पड़ता है जो अपनी असंदिग्धता का दावा करने पर भी कष्टसाध्य होती है और जिसकी उसे उस समय कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी जब वह प्रत्यक्ष या अतिबौद्धिक ज्ञान प्राप्त कर लेगा। यहां अब इससे अधिक वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं; यही बस हमारे पार्थिव अज्ञान का ठीक ठीक स्वरूप है और इसकी छाया ज्ञानियों और ऋषियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विचार और दर्शन पर भी पड़े बिना नहीं रहती और इससे हम तभी बच सकते हैं जब कि एक सत्य-सचेतन अतिमानसिक ज्ञान का तत्त्व अवतरित हो और पार्थिव प्रकृति के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ले।

मन-प्राण-शरीर दिव्य जीवन के आधार बन जायंगे

जो हो, यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि क्रम-निवर्तनशील अवतरण के सबसे नीचे के भाग में भी, जड़-तत्त्व में चेतना को सर्वग्रास ग्रहण लगने या उसके अंधतमसाच्छन्न होने पर भी, ठीक निश्चेतना की क्रिया के क्षेत्र तक में एक अव्यर्थ शक्ति के सतत प्रयास के एक गुप्त चेतना और उसकी प्रेरणाओं के धक्के के चिह्न दिखाई पड़ते हैं, मानों स्वयं निश्चेतना भी प्रत्यक्ष और निरपेक्ष ज्ञान से युक्त एक दिव्य शक्ति के द्वारा गुप्त रूप से उद्बुद्ध और परिचालित हो रही हो। इसके सर्जन-कार्य सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हमारे मानव-मन के कार्यों से अथवा जीवनी-शक्ति के साधारण कार्यों से भी अनंतगुना अधिक निश्चित होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि जड़तत्त्व को, अथवा यों कहें कि जड़तत्त्व में वर्तमान शक्ति को कहीं अधिक सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त है, अपनी निजी क्रिया में अधिक निर्भ्रांत होने की क्षमता उपलब्ध है और एक बार यदि इसका यंत्र कार्य में लगा दिया जाय तो फिर अधिकांश में उसपर यह विश्वास रखा जा सकता है कि वह अपने कार्य को ठीक ठीक और अच्छी तरह से पूरा करेगा। यही कारण है कि आज मनुष्य अपने निजी उद्देश्यों की सिद्धि के लिये एक जड़शक्ति को अधिकृत कर उसे यंत्ररूप में व्यवहृत करने में समर्थ हुआ है और यह विश्वास करता है कि समुचित अवस्थाओं के अंदर उसके लिये वह अपना काम अवश्य करेगी। आत्म-सर्जनशील प्राण-शक्ति, जो आश्चर्यजनक प्रचुरता के साथ आविष्कार और कल्पना-जल्पना करती है, कहीं और भी अधिक भूल-भ्रांति, विच्युति और असफलता की ओर खुली हुई मालूम होती है, ऐसा मालूम होता है मानों इसकी महत्तर चेतना में ही भूल-भ्रांति करने की महत्तर क्षमता भरी हुई हो; फिर भी, साधारणतया अपनी क्रियाओं में यह काफी निश्चित है; परंतु ज्यों ज्यों जीवन के विभिन्न रूपों और क्रियाओं में चेतना बढ़ती जाती है त्यों त्यों गड़बड़ियां भी बढ़ती जाती हैं, और जब मन प्रवेश करता है तब तो गड़बड़ियां बहुत ही अधिक बढ़ जाती हैं मानों चेतना की वृद्धि होने से केवल प्रचुर संभावनाएं ही न उत्पन्न हुई हों बल्कि ठोकरों, भूल-भ्रांतियों, दोष-त्रुटियों और असफलताओं की भी अधिक संभावनाएं आ गई हों। मन में, मनुष्य में, हम इस विरोध के शिखर पर पहुंचे हुए प्रतीत होते हैं, जितना ही महत्तर, उच्चतर, विशालतर क्षेत्र और सिद्धि चेतना को प्राप्त हुई है उतनी ही अधिक मात्रा में अनिश्चयता, दोष-त्रुटि, असफलता और भूल-भ्रांति भी बढ़ गई है। हम यहां अनुमान कर सकते हैं कि इसका कारण यह है कि निश्चेतन प्रकृति में शक्ति का एक सत्य कार्य कर रहा है जो बिना भूले-भटके अपने निजी विधान का, स्व-धर्म का अनुसरण करता है, एक ऐसी शक्ति कार्य कर रही है जो आंखें बंद करके बिना ठोकर खाये सीधे चल सकती है, क्योंकि सत्य का अपने आप कार्य करने वाला विधान उसके अंदर विद्यमान है और जब उसके कार्य में बाहर से कोई हस्तक्षेप या विघ्न-बाधा न हो तो, बिना किसी विच्युति या भूल-चूक के, वह निश्चित रूप से कार्य करता है। परंतु इहजीवन की सभी सहज-स्वाभाविक प्रक्रियाओं में यह विधान कार्य कर रहा है: यहां तक कि शरीर को भी अपने विषय में एक प्रच्छन्न ज्ञान प्राप्त है, किन्तु विशेष सीमाओं के अंदर उसे अपने कार्य के विषय में एक ठीक ठीक सहजबोध प्राप्त है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जब प्राण की कामनाएं और मन की भूलें इसमें कोई बाधा नहीं पहुंचातीं तब यह एक हद तक बिल्कुल ठीक ठीक और निश्चित रूप में कार्य कर सकता है। परंतु एकमात्र अतिमानस को ही पूर्ण रूप में सत्य-चेतना प्राप्त है और, अगर यह नीचे उतरकर हस्तक्षेप करे तो मन, प्राण और शरीर भी अपने निजी सत्य की पूर्ण शक्ति तथा अपनी पूर्णता की संपूर्ण संभावना प्राप्त कर सकते हैं। निःसंदेह, मन, प्राण और शरीर ऐसी स्थिति तुरत-फुरत नहीं प्राप्त कर लेंगे, बल्कि इस ओर एक विकसनशील प्रगति आरंभ हो जायगी और वह अपनी पूर्णता की ओर अधिकाधिक तीव्रता से अग्रसर होगी। भले ही सभी मनुष्य बहुत दिनों तक उस पूर्णता को न पहुंच सकें, फिर भी मानव-मन पूर्णत्व प्राप्त कर ज्योति के अंदर खड़ा हो सकेगा और एक नई मनुष्यजाति नवीन क्रम के अंग के रूप में प्रतिष्ठित हो जायगी। यही वह संभावना है जिसका हमें विचार करना है। अगर इसका चरितार्थ होना दैवनिर्दिष्ट हो, अगर बराबर अज्ञान का ही दास बने रहना मनुष्य के भाग्य में न बदा हो तो मानव-मन की जिन सब अयोग्यताओं की चर्चा हमने ऊपर की है, वे ऐसी नहीं हैं जो बिना किसी सुधार के बराबर अपना अधिकार जमाये रखें और अनिवार्य रूप से लदी रहें। मानव-मन उच्चतर साधनों और यंत्रों को विकसित कर सकता है, अज्ञान की अंतिम सीमाओं को पार कर उच्चतर ज्ञान में जा सकता है, इतना बलवान् बन सकता है कि पशु-प्रकृति उसे पकड़कर पीछे नहीं रख सकती। एक मुक्त मन आविर्भूत होगा जो अज्ञान से निकलकर ज्योति में चला जायगा, अतिमानस के साथ अपने अंतरंग संबंध को जानेगा, अतिमानस का स्वाभाविक प्रतिनिधि होगा और अतिमानसिक प्रभाव को सत्ता के निम्नतर स्तरों के अंदर उतार लाने में समर्थ होगा, ज्योति के अंदर सृष्टि करेगा, गहराइयों में पैठकर खोज करेगा, अंधकार में प्रकाश फैलायेगा और संभवतः एक गुप्त अतिचेतना की किरणों से निश्चेतना तक को भर देने में सहायता करेगा। एक नई मनोमय सत्ता भी उत्पन्न होगी जो केवल प्रदीप्त होकर अतिमानस के प्रकाश में खड़ी होने में ही समर्थ न होगी, बल्कि अतिमानस की ओर और अतिमानस के अंदर ज्ञानपूर्वक आरोहण करने में भी सक्षम होगी, प्राण और शरीर को भी अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और आनंद का कुछ अंश धारण करने और प्रतिफलित करने की शिक्षा देगी, आत्मशोध और आत्मसिद्धि और आत्मस्थिति के अंदर गुप्त दिव्यत्व को उन्मुक्त करने की अभीप्सा रखेगी, भागवत चेतना की ओर आरोहण करने की अभीप्सा करेगी, दिव्य ज्योति और शक्ति के अवतरण को ग्रहण और वहन करने में समर्थ होगी और अपने को दिव्य जीवन का आधार बनने के योग्य बनायगी।

—श्रीअरविन्द

१३. १. १९५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध–

आलोक के पथ पर

५

अधिकार या कर्त्तव्य

आज सभी चाहते हैं–हरेक चाहता है–अपने-अपने अधिकार–व्यक्तिगत रूप से भी, समष्टिगत रूप से भी।

प्रत्येक मनुष्य, मनुष्यों की विभिन्न गोष्ठियां–श्रेणी, जाति, दल–अथवा गोष्ठियों के समवाय–नेशन–प्रत्येक अपने अपने दावे को पूरा कराने में तत्पर है। कहा जाता है कि जीवन की सजीवता, सार्थकता का परिचय ही यही है।

प्रत्येक का दावा है जीने का, विद्यमान रहने का, भोग करने–पुष्ट-समृद्ध होने का। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति मानों एक-एक मूर्त्तिमान् क्षुधा के समान है। जिसके पास नहीं है वह तो चाहता ही है, जिसके पास है वह भी अधिकतर चाहता है।

किन्तु मनुष्य के सामने सार्थक जीवन के लिये केवल यही एकमात्र पथ हो सो नहीं। सर्वदा और सर्वत्र ऐसी स्थिति थी भी नहीं; यह विशेष रूप से आधुनिक और यूरोपीय धारा है।

प्राचीनतर और पूर्व की धारा इससे दूसरे प्रकार की थी। मनुष्य का लक्ष्य अधिकार नहीं, कर्त्तव्य है; मनुष्य की सार्थकता अधिकार के भोग में नहीं कर्त्तव्य-संपादन में है।

मैं यह नहीं देखूंगा कि मेरा अधिकार क्या है, मैं कौनसा दावा पेश कर सकता हूं–मैं देखूंगा कि मेरा कर्त्तव्य क्या है। व्यक्ति के सिवाय समाज की भी जितनी स्वाभाविक गोष्ठियां हैं–जन्मगत, कर्मगत, शिक्षागत, पद के हिसाब से, अर्थ की हैसियत से–कोई भी अपने अधिकार के लिये उन्मत्त न होगी; प्रत्येक धीर और स्थिर भाव से नियुक्त रहेगी अपने अपने कर्त्तव्य-निर्णय और कर्त्तव्य-संपादन में।

जब यह कर्त्तव्यबोध नहीं रहता या लुप्त हो जाता है तभी मनुष्य उठ खड़ा होता है अपने अधिकारबोध को लेकर। उसी का फल होता है प्रतियोगिता, द्वंद्व, संघर्ष, विनाश। यह हुआ राजसिक आसुरिक पथ। मनुष्य यदि कल्याण चाहता है तो उसे इस पथ से निवृत्त होना ही होगा; यह असंभव है, अधिकार-भोग की स्पृहा को छोड़ मनुष्य की और कोई बलवत्तर प्रेरणा ही नहीं हो सकती, ऐसा हम नहीं मानते।

*　　　　　*

फरासीसी विप्लव के मंत्र–मनुष्यके अधिकार (Rights of man) की अपेक्षा कहीं महत्तर और श्रेयस्कर है माट्सीनी का मंत्र–मनुष्य के कर्तव्य (Duties of man)।

प्राचीन काल में, विशेषकर प्राच्य समाजगठन, राष्ट्रगठन की (व्यक्तिगत शिक्षा-दीक्षा की भी) यही मूल भित्ति और नीति थी।

हां, कर्त्तव्य की एक और भी सुन्दरतर संज्ञा थी–धर्म, स्वधर्म। अपनी अपनी प्रकृति को जानना–बाह्य-स्थूल प्रकृति को नहीं, अंतरात्मा की प्रकृति को, अंतःप्रकृति को अर्थात् स्वभाव को जानना–उसी प्रकृति के ज्ञान एवं प्रेरणा से कर्म करना–यही स्वभाव-नियत कर्म है, इसी का नाम धर्म है।

प्रत्येक–व्यक्ति के नाते हो अथवा समूह के नाते–अपने धर्म का पालन करता हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलेगा, तभी मानव-समाज एक नवीन रूप प्राप्त करेगा, नवनिर्मित होगा—संघर्ष पर नहीं, समवाय के आधार पर।

मनुष्य में, मनुष्य की विभिन्न श्रेणियों में जाग्रत् करना होगा युयुत्सु श्रेणीगत स्वाधिकार-बोध को नहीं, बल्कि उसकी विशिष्ट स्वधर्मचेतना को, स्वधर्मप्रेरणा को।

* *

यह सच है कि कर्त्तव्यबोध का अनुशीलन केवल एक पक्षविशेष में होने से ही नहीं चलता, सभी पक्षों में कर्त्तव्यबोध चाहिये। समाज एक अखंड परिपूर्ण सामंजस्य की जीवन-धारा को तभी प्राप्त करता है जब सब में, समाज के अंग-प्रत्यंग में यही बोध जाग्रत् रहता है, सब इसी की प्रेरणा से परिचालित होते हैं। फलतः जब समाज इसी भाव से अनुप्राणित होता है, इसी जलवायु से ओतप्रोत होता है, तभी उसका प्रत्येक अंग समग्र समाज के धर्मानुसार अपना विशिष्ट धर्म अर्जन करता है, पालन करता है—किसी जीवन्त, पूर्ण जीवदेह के समान।

स्वस्थ समृद्ध समाज बहुतर गोष्ठियों और श्रेणियों के समवाय का नाम है। अस्वस्थता तभी आती है जब कोई एक गोष्ठी या श्रेणी सर्वेसर्वा हो बैठती है—केवल एक ही अंगमात्र की अतिपुष्टि के लिये समाज की समस्त जीवनीशक्ति नियोजित होने लगती है। राजा और राजपरिषद्, अभिजातसंप्रदाय, धनिसंप्रदाय, योद्धसंप्रदाय अथवा मध्यवित्त या कृषक या फिर मजदूरश्रेणी इनमेंसे कोई भी (या कुछ मिलकर किसी दूसरे के विरुद्ध) जब केवल अपना ही प्रभुत्व स्थापन करने के इच्छुक हुए हैं अथवा होते हैं, तब इसी से सामाजिक पीड़ा और परिणामतः विश्रृंखला एवं व्यर्थता की सृष्टि हुई है।

अतीत अथवा वर्तमान काल में समाज में जिस तरह का श्रेणी-विभाग या स्तर-विभाग हुआ है, भविष्य में भी ठीक वही बना रहेगा, हम ऐसा नहीं कहते। किंतु श्रेणी-विभाग और स्तर-विभाग रहेगा अवश्य; केवल वह विभाग किसी ऊर्ध्वतर और गभीरतर विधि के अनुसार सृष्ट तथा नियंत्रित होगा।

जन्म से ही सब मनुष्य समान हैं या जन्म से ही सब मनुष्य स्वाधीन हैं—अधिकार के दावे का यह मंत्र केवल उतना ही और उसी हिसाब से सत्य है, जितना और जिस हिसाब से वह इस बृहत्तर और महत्तर मंत्र का अनुगत है कि सभी मनुष्य स्व-रूप में भगवान् हैं ('तत् त्वमसि')।

मनुष्य का साम्य, स्वाधीनता और सौभ्रात्र्य उसकी भागवत सत्ता में प्रतिष्ठित है। यह सत्ता उससे बहुत दूर है, अनधिगम्य है अथवा संदेह का विषय है—यह कहने से नहीं चलेगा। वही मानवजाति के उद्धार का एकमात्र पथ है,—अन्य सब पथ परखे जा चुके हैं, वे सभी विपथ हैं।

भारत का जागरण इसी पथ-निर्देश के लिये है। इस पथ पर अपनी सिद्धि का दृष्टांत प्रस्तुत करके जगत् को अपने साथ चलाये लिये जाना ही उसका व्रत है। अन्यथा भारत की स्वाधीनता और समृद्धि का कोई विशेष अर्थ नहीं होता—यदि उसे दूसरे राष्ट्रों की तरह जीवन-यापन करना पड़े—सर्वभुक् अथवा सर्वभुक्त होकर।

भारत की सामाजिक, राजनीतिक, अर्थनीतिक समस्त व्यवस्था को इसी महाव्रत के प्रयोजन के अनुसार गढ़ना होगा। जो नेता हैं, दिग्दर्शक हैं, अग्रणी हैं, उनका दायित्व महान् है: वे नवयुग के विधाता, भावी कालपुरुष के हाथों के यंत्र बनकर रहेंगे या प्रति-रोधी बनकर?

—नलिनीकांत गुप्त

(अनुवादक—श्री मोहनलाल वाजपेयी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों की प्रार्थनाएँ

गुरु नानक ने बाला या मर्दाना से एक बार गांव में जाकर भिक्षा लाने को कहा और निर्देश किया कि घर देख लेना, पवित्र हो। लौटकर भक्त ने भिक्षा सामने रखी और कहा, "महाराज, बड़े पवित्र घर का अन्न है, स्त्री-पुरुष धार्मिक हैं और बच्चा उनके यहां कोई है नहीं।" गुरु नानक ने सरलता परंतु गंभीरता से कहा, "जिस घर में बच्चा नहीं उसे मैं पवित्र नहीं मानता।"

दृष्टांत कई प्रकार से विचारणीय है। गृहस्थ-जीवन सामान्यतः सफल संतान से होता है और जिस व्यक्ति के घर में बच्चा नहीं उसका गार्हस्थ्य असफल ही रहा। परंतु इसके अतिरिक्त एक यह भी दृष्टि है कि बच्चा स्वभाव से सरल और निर्दोष होता है और वह इन गुणों को सहज ही अपने वातावरण को भी प्रदान करता है। अब जिस घर में बच्चा नहीं, बच्चे की सरलता और निर्दोषता नहीं, वह पवित्र कैसे?

बालप्रकृति के संबंध में यह परंपरागत तथा प्रतिष्ठित विचार है। कई शिक्षा-शास्त्रियों ने भी बालप्रकृति के इस रूप को अत्यंत गंभीरता से अनुभव किया है और इसी कारण उनके लिये शिक्षा का आदर्श है बच्चे को अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार विकसित होने देना, उसके ऊपर अपने विचार न लादना। दृष्टांत के लिये 'किन्डरगार्टन' शैली के रचयिता फरोवल का आग्रह है कि बच्चे को आप एक पौधे के समान समझिये। जैसे पौधे को आप उचित भूमि दे देते हैं और पीछे जल देते रहते हैं, जिसकी उसे आवश्यकता है, बाकी पौधा उगता अपने आप है, वैसे ही बच्चे को भी उपयुक्त वातावरण दे दीजिये फिर सीखने उसे अपने आप दीजिये।

आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के लिये बाल-प्रकृति का यह रूप और विचार अग्राह्य है। मनोविज्ञान बालक को एक प्राणी अर्थात् प्राणमय अस्तित्व के रूप में मानता है, जो कुछ एक जन्मजात प्रवृत्तियों से प्रचालित है। ये प्रवृत्तियां हैं भूख, प्यास, क्रीड़ा, जोड़ना तोड़ना आदि। ये सामान्य पशुमात्र की प्रवृत्तियां हैं और इनके व्यवहार में एक प्रकार की स्वाभाविक सरलता है। मनोविश्लेषण अचेतन मन की खोज के आधार पर आग्रहपूर्वक कहता है कि बालक की प्रकृति को निर्दोष कहना भूल है। उसके अंदर द्वंद्व होते हैं, दुविधा होती है, कपट होते हैं, परंतु शायद प्रौढ़ जीवन की अपेक्षा कम। इसी लिये बालजीवन सरल मालूम पड़ता है।

बालप्रकृतिसंबंधी इन सब विचारों में आंशिक तथ्य जरूर हैं। परंतु इनका यथार्थ समन्वय तथा बालप्रकृति का एक संतुलित विचार, प्रत्यक्ष ही, अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि हम घर में बालक को यथार्थ रूप में देख सकें, उसके साथ फिर वैसे ही व्यवहार करें, तो यह उसके विकास के लिये हितकर होगा और एक महत्त्वपूर्ण विषय में यथार्थ दृष्टिकोण लेने से हम स्वयं भी विकास और उन्नति लाभ करेंगे।

श्रीअरविंद आश्रम में पिछले कुछ वर्षों में बच्चे काफी बढ़ गये हैं और लेखक उन्हें विशेष रुचि से इस वातावरण में रहते-सहते तथा विकसित होते देखता रहा है। इसी निरीक्षण में उसे बालप्रकृति का एक नया तथ्य प्राप्त हुआ है। वह यह कि बालक शायद अधिक सरलता से अंतरात्मा (psychic) को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। ऐसा बार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार देखने में आता है कि इस स्वतंत्रता और आध्यात्मिक वातावरण में श्री माताजी के संपर्क से बच्चे ठीक उस स्थिति और व्यवहार को प्रदर्शित करने लगते हैं जो कि सामान्य मन-प्राण की अवस्था नहीं बल्कि अन्तरात्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति के स्वरूप का वर्णन हम यहां नहीं कर सकते हैं, परंतु यदि यह अभिव्यक्ति, वास्तव में, अन्तरात्मा की है तब यह बालप्रकृति की यथार्थ भावना बनाने के लिये अत्यंत आवश्यक तत्त्व है।

अवश्य ही, बाल-व्यक्तित्व प्रौढ़-व्यक्तित्व के समान ही शरीर, प्राण, मन और अन्तरात्मा अथवा आत्मा का संगठन है। फर्क यह है कि सामान्यतया प्रौढ़ का जीवन प्रधान रूप में समाजजनित आदर्श, उद्देश्यादि मानसिक रचनाओं से परिचालित होता है, जब कि बच्चे का जन्मजात प्रवृत्तियों से। प्रौढ़ की मानसिक रचनाएं बड़ी दृढ़ होती हैं इसी से शायद अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति कठिन हो जाती है। बच्चे के व्यक्तित्व में यह कठोर मानसिक आवरण अभी नहीं बना होता। इसी से शायद वह आसानी से अन्तरात्मा का स्पर्श अनुभव कर पाता है और उसे अभिव्यक्त करने लगता है।

आध्यात्मिक साधना में सरलता प्रथम और अनिवार्य गुण है। "बच्चे की तरह बन जाओ" यह एक प्रामाणिक आध्यात्मिक निर्देश है। इसकी सार्थकता, वास्तव में, स्पष्ट है। अवश्य ही, जब तक मनुष्य समाजजनित विचारों में निवास करता है तब तक वह अपनी चेतना के ऊपरी भाग पर खड़ा रहता है। अन्तरात्मा की गहराई में उतरने के लिये उसके इस आवरण में सरलता आनी चाहिये। इसके लिये बालप्रकृति सुलभ्य नमूना है, जिसका यथोचित मान करके प्रौढ़ अपने जीवन में सरलता संपादित कर सकता है तथा बालक के अंदर अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति को पहचानकर, जो कि बहुत कठिन नहीं, वह उसे अपनी सरलता तथा स्वाभाविकता के वातावरण में विकसित होने में सहायता दे सकता है।

बच्चा अपने प्राणिक और मानसिक व्यवहार में भी सरल होता है परंतु जब कभी अन्तरात्मा अभिव्यक्त होती है तब जो सरल और सौम्य भाव तथा शुद्ध विश्वास और भरोसा देखने में आते हैं वे अपूर्व होते हैं। वह, निश्चित ही, एक आध्यात्मिक अनुभव होता है।

कुछ समय हुआ माताजी ने आश्रम के खिलाड़ियों के भिन्न भिन्न दलों को उनकी अपनी अपनी वर्दी प्रदान की थी। वह एक विशेष अवसर था। उस समय बच्चों के तीन दलों ने जो प्रार्थनाएं की थीं तथा माताजी ने आशीर्वादरूप में जो शब्द उनसे कहे थे वे यहां विशेष स्मरण आते हैं। उस समय का वातावरण अत्यंत गंभीर और सुन्दर था, आन्तरात्मिक था।

सबसे छोटे बच्चों (६ वर्ष तक के) की प्रार्थना थी :–

हे हमारी प्रिय माता! तूने हमारे लिये मार्ग को सब विपत्तियों और कठिनाइयों से सुरक्षित कर रखा है, उस मार्ग को जो निश्चित रूप में लक्ष्य की ओर ले जाता है और जो जब अंतिम विजय प्राप्त हो जायगी तब अपने आप 'अनंत' की प्राप्ति का मार्ग बन जायगा।

प्रिय माता, हमें सदा ताजा रख, जिससे हम इस मार्ग पर, जो तूने इतने परिश्रम से हमारे लिये तैयार किया है, बिना रुके आगे बढ़ते जायं।

माताजी का आशीर्वाद था :–

मेरे नन्हे बच्चो! तुम आशा हो, तुम भविष्य हो। तुम अपनी इस अभिनवता को बनाये रखो। यह प्रगति करने की शक्ति है। ऐसा करने पर तुम्हारे लिये 'असंभव' शब्द ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थहीन हो जायगा।

उससे बड़े बच्चों (६ से १० वर्ष तक के) की :–

प्रिय माता! हम तेरी अंतिम विजय के लिये युद्ध करनेवाले तेरे आज्ञाकारी सैनिक बनना चाहते हैं।

जय हो प्रिय माता की!

माताजी का आशीर्वाद :–

मैं तुम्हारा अभिनंदन करती हूं, मेरे प्यारे छोटे सैनिको। तुम उस विजय में सम्मिलित होने के लिये निमंत्रित हो।

१० से १४ वर्ष के बच्चों की :–

भगवान्! अपने श्रेष्ठ कार्यकर्त्ताओं को समस्त अज्ञान से मुक्त कर और उनकी पवित्रता की पताका को छोटे से छोटे मार्ग से सिद्धि की ओर ले चल।

हम प्रार्थना करते हैं कि तेरी इच्छा पूरी हो, न कि हमारी।

माताजी का आशीर्वाद :–

भगवान् उन कार्यकर्त्ताओं को "श्रेष्ठ" का नाम देगा जो अपने अंदर समस्त पाशविकता को जीत लेंगे तथा अतिक्रांत कर लेंगे। आओ, पहले हम उसके सच्चे और आज्ञाकारी कार्य-कर्त्ता बनें और जब यह छोटा काम पूरा हो जायगा तब हम अपने आपको बड़ी चरितार्थता के लिये तैयार करेंगे।

१४ से १८ वर्ष तक के बच्चों की :–

प्यारी मां, हम तेरे वीर योद्धा बनना चाहते हैं। हम अंतिम विजय तक तेरा अनुसरण करेंगे।

माताजी का आशीर्वाद :–

एक ही सच्चे दिल से हम सब विजय चाहते हैं, परंतु यह अंश अंश में ही चरितार्थ की जा सकती है। अनुशासन का सजग पालन पहला कदम है। मैं चाहती हूं कि तुम्हारी यह नई वर्दी इसकी पूर्त्ति का प्रतीक बने।

छोटे बच्चों का जीवन, अवश्य ही, आदर और अध्ययन की चीज है। उनकी सरलता प्रौढ़ जीवन के लिये अत्यंत हितकर सजीव उपदेश है। और यदि हम सजगता से आदर-भाव में उनके जीवन का निरीक्षण करें तो हम समय समय पर उनमें अन्तरात्मा की अलौकिक छटा भी देख सकेंगे।

–बालप्रकृति का एक विद्यार्थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव एकता का आदर्श

(श्रीअरविन्द की The Ideal of Human Unity —मानव एकता का आदर्श—नामक पुस्तक जो पहले 'आर्य' पत्रिका में लेखमाला के रूप में प्रकाशित हुई थी, अब अलग छपने जा रही है। इसमें उन्होंने एक उपसंहार-रूप अध्याय बढ़ाया है, जो Advent में स्वतंत्र रूप में प्रकाशित हो गया है। यह अध्याय वर्तमान जागतिक स्थिति की गंभीर विवेचना है जो कि आज की विषम अवस्था में एक गंभीर दृष्टि प्रदान करती है। मूल निबंध काफी लंबा है। उसे संक्षेप में हम यहां दे रहे हैं।—सं०)

प्रकृति में एक प्रवृत्ति है—"मानव जीवन की अधिकाधिक बड़ी इकाइयों की ओर" बढ़ने की, विकसित होने की। आज मानव का राष्ट्रीय जीवन सुव्यवस्थित और संगठित है परंतु अंतर्राष्ट्रीय जीवन में धांधली है। कई कारणों से इस समय यह धांधली विकट रूप धारण कर रही है। इस अवस्था में प्रकृति हमसे मांग करती है कि हम वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय दुरवस्था में नियम और मर्यादा चरितार्थ करें, इसमें "एक इच्छित और सु-विचारित नियत आयोजन" को वास्तविक बनावें, ऐसे आयोजन और क्रम को जो "अंत में पृथ्वी के सब लोगों के सामान्य हितों को पूरा करनेवाली सच्ची एकता" बन सके। प्रकृति की यह मांग आज मानों विशेष बलवती हो रही है, जिसका उत्तर वर्तमान पीढ़ी को अथवा अधिक से अधिक आगामी पीढ़ी को देना होगा।

प्रकृति की यह मांग अथवा मानव समाज की अधिकाधिक बड़ी इकाइयां चरितार्थ करने की प्रवृत्ति इस समय एक निर्णायक अवस्था को प्राप्त हो रही है। यही अवस्था मानव के लिये संकट बन रही है। तृतीय महायुद्ध तथा नए विध्वंसक वैज्ञानिक साधनों द्वारा संस्कृति, सभ्यता और जाति का सर्वनाश तक सामने खड़ा दिखाई देता है। ये सब खतरे इस स्थिति में जरूर मौजूद हैं। परंतु प्रकृति की विकासात्मक प्रवृत्ति बाधाओं को मूलतः दूर करके बृहत्तर रचना का रास्ता साफ करने के लिये भी उन्हें उघाड़कर सामने खड़ा कर दिया करती है। "प्रकृति के व्यवहार में उसका आशय संभवतः उन कठिनाइयों को जिन्हें वह स्वयं खड़ा करती है विजित करने तथा हमेशा के लिये दूर कर देने का होता है।" व्यक्तिगत यौगिक साधना में भी ठीक ऐसा ही करना होता है। "व्यक्ति को अपनी प्रकृति की उन निहित मनोवैज्ञानिक संभावनाओं को उठाना होता है जो कि आध्यात्मिक पूर्णता और सफलता के मार्ग में बाधक होती हैं। बल्कि प्रसुप्त संभावनाओं को भी उठाया जा सकता है जो भविष्य में खड़ी होकर प्रकृति के काम को खंडित कर सकती हों। आशय उन्हें दूर कर देने का होता है।" इस प्रकार वर्तमान अवस्था का एक महान् पक्ष भी है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि खतरे नहीं हैं। खतरे हैं, परंतु यदि मानव उन्हें जीत लेता है तो, निश्चय ही, वह महत्तर सांस्कृतिक विकास साधित करेगा।

जिस मानव एकता के प्रश्न को आज प्रकृति बलपूर्वक हमारे सामने उपस्थित कर रही है उसे चरितार्थ करने का पहला प्रयास ही "राष्ट्रों की समिति" (League of Nations) थी जो कि पहले महायुद्ध की समाप्ति पर उसी युद्ध की अवस्थाओं में से पैदा हुई थी। वह पृथ्वी के जगत्-राज्य (World-State) की ही एक कल्पना थी, यद्यपि वह शुरू से ही भावना तथा प्रेरणा में अशुद्ध थी और यह आशा नहीं की जा सकती थी कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह चिरजीवी तथा सफल होगी। वह, वास्तव में, थोड़े से महान् राज्यों का गुट था (छोटे राज्य तो पिछलग्गुमात्र थे) जो "संपूर्ण जगत् के सामान्य हित की जगह अपनी नीतियों की सफलता के लिये" उस संगठन को काम में लाता था। अपने निर्णयोंसंबंधी उसका सर्वसम्मतता का नियम भारी बाधा थी। बहुत कम विषयों पर ही सर्वसम्मति बन पाती है, फलतः वह संस्था अधिकांश में अकर्मण्य बन गई। अमरीका और रूस की अनुपस्थिति से वह और भी जल्दी असफल हो गई।

परंतु उस पहले प्रयास की असफलता से प्रकृति की विकासात्मक प्रवृत्ति ठंडी नहीं पड़ सकती थी। दूसरे महायुद्ध के विनाश के बाद अंतर्राष्ट्रीय जीवन का एक बृहत्तर आयोजन बना। सानफ्रांसिस्को का अधिवेशन ओजस्वी था और उसने, निश्चय ही, एक दृढ़तर संगठन को जन्म दिया। 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' में 'राष्ट्रों की समिति' के दोष न थे। परंतु इसमें भी पांच महान् सत्ताओं को सुरक्षा-परिषद् में जो विशेषाधिकार का स्थान दिया गया वह अनुचित था। फिर निषेधाधिकार (Veto) तो संघ की कार्य-क्षमता और सफलता की आशा पर कुठाराघात था। युद्धोत्तर अवस्था की दृष्टि से शायद यह अनिवार्य था। परंतु संघ-विधान के इन उपबंधों से कठिनाइयां ही पैदा हुई हैं।

आज हम संयुक्त-राष्ट्र-संघ से निराश और उदासीन होते जा रहे हैं। परंतु "इस निराशावाद में पड़ना न आवश्यक है, न ही बुद्धिमत्ता है, क्योंकि ऐसी मानसिकता जिन परिणामों की आशंका करती है उन्हें पैदा करने में वह स्वयं सहायक होती है अथवा उनका घटित होना वह संभव बनाती है जो वैसे शायद बिल्कुल भी घटित न हों।" प्रत्यक्ष ही, वर्तमान विधान में दोष हैं और अंत में हमें, जरूर ही, ऐसे सार्वभौम राज्य का संगठन बनाना होगा, जिसमें संसार के सभी राज्य सम्मिलित होंगे और सबमें समानता स्वीकार की जायगी। जो विशेष प्रभावशाली हैं वे अपने स्वाभाविक प्रभाव का अंतर्राष्ट्रीय मर्यादा के अंदर अन्य प्रकार से उपभोग कर सकेंगे। "अटल न्याय, मौलिक समानता तथा अधिकारों और हितों का समन्वय इस जगत्-राज्य के प्राण तथा इसके संपूर्ण संगठन के आधार होंगे।"

परंतु वर्तमान संगठन को हम बलात् नहीं परिवर्तित कर सकते। इससे इसके खंडित हो जाने की आशंका है, जिसके परिणाम बहुत बुरे हो सकते हैं। संसार के राष्ट्र-नेताओं की आज बड़ी जिम्मेदारी है। उन्हें "असुविचारित नीतियों तथा घातक भूलों" से सावधान रहना चाहिये और इस संगठन के दोषों को दूर करने का यत्न करना चाहिये। "यदि यह संगठन आसानी से तथा जल्दी से पूर्ण नहीं भी बनाया जा सकता तो भी इस दिशा में प्रगति होनी ही चाहिये और संसार की आशा को किसी प्रकार भी खण्डित नहीं होने देना चाहिये।"

प्रत्यक्ष ही संयुक्त-राष्ट्र-संघ का विकास और सफलता मानव के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके रास्ते में विशेष बाधा, वास्तव में, इसके विधानसंबंधी दोषों की अपेक्षा संसार के राष्ट्रों का दो गुटों में विभक्त होना है। ये गुट एक दूसरे के विरोधी हैं और किसी समय भी प्रत्यक्ष शत्रु बन सकते हैं। इसका मूल कारण यह है कि सोवियत रूस का जन्म द्रुतगामी विकास के रूप में नहीं हुआ था बल्कि एक अत्यंत उग्र क्रांति द्वारा। इस क्रांति का आधार वर्गयुद्ध है, जिसमें श्रमिक-वर्ग अन्य सब वर्गों को "निपटाकर" सर्वेसर्वा बन जाता है। इस विकासक्रम से सोवियत मानसिकता में निरंतर संघर्ष की भावना विशेष अंकित हो गई है और वह पृथ्वी के राष्ट्रों पर अपने आदर्श और विचार थोपना चाहती है। वह पुरानी जीवन-शैली की जगह सर्वत्र अपनी शैली का विस्तार और अधिकार चाहती है।

परंतु ऐसा उग्र भाव सदा के लिये नहीं बना रह सकता। आज भी उग्रता शायद आदर्शों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण नहीं। आदर्श तो जगदाधिपत्य के लिये साधन बनाये जा रहे हैं। वास्तव में, रूस और अमरीका की जीवन-शैलियां और आदर्श सर्वथा विरोधी भी नहीं कहे जा सकते। आज संसार में सर्वत्र ही राज्य का जनता पर अधिकार और नियंत्रण बढ़ रहा है और यह किसी तरह भी असंभव नहीं कि एक तरफ समाजवादी राष्ट्र और दूसरी तरफ संशोधित पूंजीवादी राष्ट्र आपस में मैत्रीपूर्ण संबंध पैदा कर लें। बल्कि ऐसा जगत्-राज्य भी सर्वथा संभव है जिसमें ये दोनों अपनी अपनी शैली की संस्थाओं को रखते हुए इकट्ठे काम कर सकें। संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना का ध्येय ही, वास्तव में, ऐसा सफल परिणाम था।

जहां आज संसार में सर्वत्र ही राज्य का प्रजा पर अधिकार और नियंत्रण बढ़ रहा है वहां कम्यूनिस्ट सिद्धांत में भी संशोधन और परिवर्तन असंभव नहीं। वास्तव में, समष्टि-वाद के लिये व्यक्तिगत स्वतंत्रता को दबाना अनिवार्य नहीं। यह एक साथ ही "व्यक्ति की परिपूर्णता तथा समष्टि की सर्वांगीण समरसता का साधन हो सकता है।" आज जो राज्य कम्यूनिस्ट कहलाते हैं वे वस्तुतः "असाधारण रूप में कठोर शासनगत समाजवाद (inordinately rigid State Socialism)" मात्र हैं। इस प्रकार रूस और अमरीका की दो जीवन-शैलियों में ऐसे परिवर्तन और रूपांतर संभव हैं जिनसे इनका आपसी विरोध कम हो जाय और ये आपस में सहयोग और सहकारिता अनुभव करने लगें।

आज संसार के सामने क्रियात्मक प्रश्न इन्हीं दोनों शैलियों के सहयोग का है। अमरीका को कम्यूनिस्ट विचारधारा और जीवन-शैली सहन नहीं हो रही है और रूस अमरीका से भारी भय मान रहा है। इन दोनों सत्ताओं का आपसी विरोध किसी से छुपा नहीं। फिर भी इनके बीच शक्ति-संतुलन ऐसा है कि ये दोनों संयुक्त-राष्ट्र-संघ का आश्रय लिये हुए हैं और हर प्रकार का मतभेद होते हुए भी उसी संगठन द्वारा अपना अपना संतोष प्राप्त करने का यत्न करते हैं। यह अनिवार्यता ही समय पाकर संभवतः एक परिवर्तित संघ को जन्म दे सकती है जो राष्ट्रों के बीच के सब प्रकार के मतभेदों को दूर करने में सफल हो सकेगा। यह वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का तीसरा प्रयास होगा और जगत्-राज्य का एक निश्चित रूप होगा। हमारे विचार में संयुक्त-राष्ट्र-संघ से निराश होने की आवश्यकता नहीं। प्रकृति की अधिकाधिक बड़े मानव-संगठन चरितार्थ करने की प्रवृत्ति तथा मानवजाति की स्वरक्षा की वृत्ति प्रस्तुत विरोध का कोई न कोई कार्यवाहक समाधान निकाल डालेंगी और जगत्-राज्य का आदर्श चरितार्थ होकर रहेगा। हमारे विचार में यह जगत्-राज्य "स्वतंत्र राज्यों का संघ (Federation) होना चाहिये जिसमें से सब प्रकार की परतंत्रता, जबरदस्ती की असमानता तथा एक दूसरे की अधीनता हट जायंगी। और यद्यपि कुछ राज्यों का स्वाभाविक प्रभाव अधिक होगा, फिर भी सबकी वैधानिक स्थिति समान होगी।" Confederacy के (राज्य-मण्डल के) ढंग के संगठन में राज्यों को स्वतंत्रता अधिकतम होगी परंतु उससे उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल सकता है। अतः संघीय व्यवस्था ही उचित होगी। ऐसा संगठन अधिकतम स्थायी हो सकता है। मानवीय इतिहास में साम्राज्यों का विकास भी बृहत् मानव-संगठन बनाने का ही एक प्रयास था। रोमन साम्राज्य ऐसी ही एक विशेष सत्ता थी, परंतु रोमन लोग कुछ समय में विलास में पड़ गये और उनका साम्राज्य नष्ट हो गया। वर्तमान समय में यह भी आशा की जाती रही है कि अमरीका या रूस में से यदि कोई एक उत्कृष्ट रूप में शक्तिशाली हो जाय तो जगत्-राज्य की स्थापना सरल हो जाय। परंतु ऐसा जगत्-राज्य भी स्थिर नहीं रह सकेगा। जगत्-राज्य अपेक्षाकृत स्थिर वही रह सकेगा जिसमें सब राज्य स्वतंत्र रूप में समानता के आधार पर सम्मि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लित होंगे। जगत्-राज्य निश्चित रूप से अनिवार्य है। यह प्रकृति की मांग है। वर्तमान परिस्थितियां इसके लिये हमें बाधित कर रही हैं। मानवजाति के वर्तमान और भविष्य के लिये यह आवश्यक है। इसमें विघ्न आ सकते हैं, पर इसे रोका नहीं जा सकता। और जगत्-राज्य के स्थापित हो जाने पर मानव एकता व्यावहारिक तथ्य बन जायगी, जिसे फिर सुरक्षित रखना संयुक्त मानवजातियों का कर्त्तव्य होगा। ऐसी मानव एकता की समृद्धता तथा भावी विकास को फिर हम उन महत्तर शक्तियों के हाथों में विश्वासपूर्वक छोड़ सकेंगे जो अदृश्य रूप में जगत् और मानव की गतिविधि को संचालित करती हैं।

—इन्द्रसेन

'धर्म' शब्द का वास्तविक अभिप्राय

धर्म शब्द धारणार्थक "धृ" धातु से बना है, अतः इसका अर्थ है "धारण करना"। धर्म वह है जिसे हम धारण करते हैं और जो हमारी आंतर तथा बाह्य क्रियाओं को एक साथ धारण किये रहता है, अर्थात् स्वभाव, कर्म और जीवन का विधान, आदर्श एवं नियम। आचार-व्यवहार के धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नियम का समुच्चयात्मक भारतीय विचार धर्म शब्द से ही द्योतित होता है। जैसा कि गीता में बताया गया है, धर्म का अभिप्राय है—हमारे स्वभाव की मूल प्रकृति द्वारा नियत कर्म। धर्मविषयक अत्यंत पूर्ण, गंभीर और व्यापक भावना के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ हो सकता है एक प्रकार का आंतर और बाह्य दिव्य विधान। उसी विधान के द्वारा भागवत संकल्प और ज्ञान मानवजाति का आध्यात्मिक विकास साधित करते हैं और जाति के जीवन में उस विकास की अवस्थाएं एवं परिणाम संपादित करते हैं। अपने प्राथमिक अर्थ में इसका अभिप्राय है हमारी प्रकृति का वह मौलिक नियम जो हमारे सभी कर्मों का गुप्त नियामक है; दूसरे, एक ऐसी दिव्य प्रकृति का भी अस्तित्व है जिसे हमारे भीतर विकसित और व्यक्त होना है, इस अर्थ में धर्म का तात्पर्य है उन आंतर क्रियाओं का नियम जिनसे हमारी सत्ता में दिव्य प्रकृति का विकास होता है; तीसरे, धर्म उस नियम को कहते हैं जिससे हम अपने बहिर्मुख विचार, कर्म और पारस्परिक संबंधों का इस प्रकार निर्धारण करते हैं कि हम दिव्य आदर्श की ओर अपनी तथा मानवजाति की प्रगति में अधिक से अधिक सहायक हो सकें।

अर्थात् मत-संप्रदायों का प्राकृतिक नियम और उनकी मूल भावना; प्रकृति की क्रिया का नियम; यथार्थ नैतिक नियम। बौद्धमत में, अष्टांग मार्ग के अंतर्गत आत्मसंयम और पुरुषार्थ का नियम।

—श्रीअरविन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या आप जरा जरा सी बात बहुत महसूस करते हैं ?

एक मनोवैज्ञानिक प्रश्नावलि

योग और मनोविज्ञान में घनिष्ट संबंध है। दोनों ही का क्षेत्र अनुभव है, एक का ऐन्द्रियक और मानसिक अनुभव और दूसरे का आत्मिक अनुभव। परंतु ऐन्द्रियक और मानसिक अनुभव धीरे धीरे आत्मिक अनुभव की ओर निर्देश करने लगते हैं और आत्मानुभव की दृष्टि से ऐन्द्रियक और मानसिक अनुभव करण हैं, यंत्र हैं, जिनके द्वारा आत्मा बाह्य जगत् पर क्रिया करती है। श्रीअरविन्द योग को अधिक विकसित मनोविज्ञान ही बतलाते हैं। इस दृष्टि से मनोविज्ञान योग की भूमिका बन जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान की यथार्थ मर्यादा को, वास्तव में, हम तभी समझ सकते हैं जब कि इसे हम योग के संबंध से देखें। इसके बिना मन और इन्द्रियों के व्यवहार का किंचित् ज्ञान, जो मनोविज्ञान इकट्ठा कर पाया है, पूर्ण ज्ञान का रूप धारण कर लेता है। आज मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक विचारधाराएं मिलती हैं। एक अवचेतन मन की चेष्टा-क्रिया पर अधिक बल देती है। एक व्यवहार को ही विशेष मानती है। मनमात्र, चेतन और अवचेतन दोनों की उपेक्षा करती है। एक और जाग्रत् अवस्था को अन्तर्निरीक्षण द्वारा देखना-भालना ही अपना ध्येय अंगीकार करती है। और एक और मन और व्यवहार को प्रयोगशाला की शैली से परीक्षणों द्वारा जांचना चाहती है। इनके अतिरिक्त और भी कई विचारधाराएं हैं और इन सबमें आंशिक सत्यता जरूर है। परंतु, बुद्धि की माया, इनमेंसे लगभग हर एक ही अपने आपको पूर्ण मानती है। परिणाम, आज मनोविज्ञान मन का समन्वित ज्ञान नहीं, अधिकतर विवादों का अखाड़ा है। यह अवस्था, वास्तव में, कुछ वर्ष पहले थी। आज किसी अंश में एक समन्वय का रूप निखरता आ रहा है। परंतु इस समन्वित रूप को भी जब तक योग के साथ और समन्वित न किया जाय तब तक वास्तविक मनोविज्ञान का जन्म नहीं हो सकता।

परंतु ऐसे विशालतर मनोविज्ञान की भावना भी आधुनिक मनोविज्ञान के सत्यांशों को आंकने में सहायक हो सकती है।

परीक्षणात्मक मनोविज्ञान ने मानसिक वृत्तियों और भावनाओं को जांचने के कई उपाय निकाले हैं। उनमेंसे एक है प्रश्नावलि का। जिस वृत्ति को जांचना हो उसकी प्रेरक स्थितियों की कल्पना करके मनोवैज्ञानिक एक प्रश्नावलि बनाते हैं और फिर बहुत सारे व्यक्तियों पर परीक्षण करके प्रमाणीकरण की शैली से उसे मर्यादित कर देते हैं। ऐसी मर्यादित प्रश्नावलि तब एक मानसिक 'गज' बन जाती है जिससे व्यक्तियों को नापा जा सकता है। इन प्रश्नावलियों के यथार्थ प्रयोग के लिये मनोवैज्ञानिक की सहायता अनिवार्य होती है, लेकिन व्यक्ति स्वयं भी उन्हें अपनी वृत्तियों के जांचने के काम में ला सकते हैं और कुछ एक प्रश्नावलियां तो विशेष रूप से होती ही इस शैली की हैं।

नीचे हम इसी प्रकार की एक प्रश्नावलि देते हैं जिसे पाठक विचारार्थ लेने से पहले जरा स्वस्थ होने का यत्न करें। मानसिक उद्वेग अथवा उतावली के भाव को दूर करें, और यथासंभव निष्पक्ष भाव बनावें। फिर एक एक प्रश्न को बारी बारी से विचारें और उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर जिस रूप में मन में प्रकट हो उसे शुद्ध रूप में नोट कर लें। यह परीक्षण कुछ कुछ दिन छोड़कर कई बार भी किया जा सकता है। फिर उन उत्तरों को आपस में मिलाकर अपनी वृत्ति अथवा वृत्तियों का स्वरूप निश्चित करने का यत्न करें। श्रीअरविंद-योग के साधक के लिये यह ज्ञान एक गंभीरतर वर्जन (rejection) का प्रेरक हो सकता है तथा एक अधिक बलवती अभीप्सा को प्रोत्साहित कर सकता है। दोनों अवस्थाएं ही भगवत्कृपा को आहूत करेंगी और वृत्ति के रूपांतर का उपक्रम बनेंगी।

इस प्रश्नावलि का विषय है अतिसंवेदनशीलता। व्यक्ति को, अवश्य ही, अपनी भावनाओं में स्थूल नहीं, सूक्ष्म होना चाहिये, परंतु यह होना चाहिये समतापूर्वक। अतिसंवेदनशीलता की अवस्था अथवा वृत्ति में व्यक्ति अनावश्यक रूप में जरा जरा सी बात बहुत ज्यादा महसूस करता है और उद्विग्न हो उठता है। आत्मिक समता, जो कि आध्यात्मिक जीवन का आधार है, बहुत बड़ी चीज है, परंतु सामान्य मानसिक समता तो जीवन के सामान्य सुख के लिये भी अनिवार्य है। इसे संपादित करना आत्मिक समता और शांति की आवश्यक तैयारी है। यही इस प्रश्नावलि का लक्ष्य है और इसके भिन्न भिन्न प्रश्न आपको अपनी अतिसंवेदनशीलता की गति-विधि से विशेष सचेत कर सकते हैं।

प्रश्नावलि

१. क्या आप, जब आपको काम करते आपका कोई अधिकारी देख रहा हो, तो घबरा जाते हैं?

२. क्या आपको अजनबियों से बातचीत शुरू करने में संकोच होता है?

३. क्या आप अपने विचारों को प्रकट करने में संकोच कर जाते हैं जब कि आपको आशंका हो कि सुननेवाले मुझसे असहमत होंगे?

४. क्या आप जब क्रोध में हों चीजें तोड़ते अथवा उन्हें इधर-उधर पटकते हैं?

५. क्या आप, जब लोग आपको चिड़ाने की कोशिश करें तो, क्रोध में आ जाते हैं?

६. क्या आप छोटी-मोटी शिकायत पर बहुत देर तक मन में दुःख मानते रहते हैं?

७. क्या आप बहुत बार ऐसे काम कर देते हैं जिनपर फिर आप तुरंत ही पछताने लगते हैं?

८. क्या आप, जब कोई आपको नाराज कर देता है तो, उसे आसानी से क्षमा नहीं करते?

९. क्या आप दिनरात की सामान्य स्थितियों में बहुत जल्दी घबरा उठते हैं?

१०. क्या आप यह अनुभव करते हैं कि आपकी अपेक्षा दूसरे लोगों के अधिक मित्र हैं?

११. अगर आपको अपनी तजवीज या आयोजना आखिरी क्षण में बदलनी पड़ जाय तो क्या आप बहुत उद्विग्न हो उठते हैं?

१२. क्या आप दूसरों को देखकर बहुत बार स्पर्धा अथवा ईर्ष्या अनुभव करते हैं?

१३. क्या आपको दुःखान्त पुस्तक अथवा चलचित्र से रोना आ जाता है?

१४. क्या आपको किसी को दुःख पहुंचाने की अपेक्षा झूठ बोल देना अच्छा लगता है?

१५. क्या आपको बहुत भय रहता है कि कहीं दूसरों के सामने मैं बेवकूफ न बन जाऊं?

१६. क्या लोग आपकी कमजोरी के कारण प्रायः अनुचित फायदा उठाने की कोशिश करते हैं?

१७. क्या आप बहुत यत्नशील रहते हैं कि दूसरों को किसी तरह भी नाराज न किया जाय?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८. क्या आप बहुत चिंतित रहते हैं कि पता नहीं लोग मेरे पीछे मुझे क्या क्या कहते रहते हैं ?

१९. क्या आप कई बार किसी काम को बीच में छोड़ देते हैं अथवा पूरा हो जाने पर उसे नष्ट कर देते हैं, क्योंकि उसमें कहीं जरा सी कमी रह गई है ?

२०. क्या आपने कभी किसी से बोलना छोड़ दिया है क्योंकि उसने आपकी कुछ आलोचना कर दी थी ?

इन प्रश्नों में जो अवस्थाएं कल्पित हैं वे थोड़ी अथवा बहुत सभी सामान्य मनुष्यों में मिलेंगी। यहां आशय है उनकी असाधारण अवस्था को निर्धारित करने का। निर्धारण का प्रयोजन होता है निराकरण और इस संबंध में योग का निर्देश है "अपनी समता तथा प्रसन्नता मत खोओ, उद्विग्न मत होओ", भगवान् की शक्ति के सामने कोई दोष ठहर नहीं सकता, सच्चे दिल से अभीप्सा करो, प्रसन्न चित्त से अभीप्सा करो, लगातार अभीप्सा करो। श्रीकृष्ण का आश्वासन हमें याद रहना चाहिये "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः" मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा, चिंता मत करो।

(प्रश्नावलि "Psychology" से साभार)

—एक मनोवैज्ञानिक

श्रीअरविन्द आश्रम

(४)

आधुनिक समय में मनोविज्ञान ने मनुष्य के दृष्टिकोण को विशेष रूप से प्रभावित किया है। जीवन के लगभग हर क्षेत्र में, शिक्षा, साहित्य और कला ही नहीं बल्कि उद्योग, व्यवसाय और युद्ध में भी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी व्यक्ति को जीवन में व्यवसाय के रूप में क्या काम करना चाहिये, यह मनोविज्ञान की एक बृहत् शाखा का विषय है। इस विज्ञान से क्रियात्मक लाभ उठाने के लिये अनेक राज्यों में सरकार की ओर से प्रयोगशालाएं बनी हुई हैं और विशेषज्ञ परीक्षक और परामर्शदाता नियुक्त हैं। इस विज्ञान का आधारभूत तथ्य यह है कि हर धंधे और पेशे में विशेष शारीरिक, मानसिक और नैतिक योग्यताओं की आवश्यकता है और कार्यकुशलता और सफलता की दृष्टि से उनमें केवल उन्हीं व्यक्तियों को जाना चाहिये जिनमें वे योग्यताएं हों, बिना सोचे-विचारे किसी धंधे को जीवन-कार्य के तौर पर स्वीकार नहीं कर लेना चाहिये। ऐसा करने से ही जीवन में असामंजस्य तथा संकट पैदा हो जाते हैं। इसलिये इस विज्ञान ने सभी पेशों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तैयार किया है और ऐसी व्यावहारिक युक्तियां निकाली हैं जिनसे व्यक्तियों की योग्यता को जानकर उन्हें उपयुक्त पेशे के लिये परामर्श दिया जाता है।

परंतु भारतीय अध्यात्मवाद एक नई ही दृष्टि उपस्थित करता है जो श्रीअरविन्द आश्रम में क्रियात्मक रूप में देखने को मिलती है। यहां आप देखेंगे कि जो पहले प्रोफेसर था अब बढ़ई-घर का अध्यक्ष है या घरों में जा जाकर बिजली के फ्यूज लगाता है; जो फौज में सार्जन्ट था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब स्कूल का अध्यापक है तथा जो अध्यापक था वह मकानों की मरम्मत करवा रहा है। सभी प्रकार के ऐसे चित्य तथा अचित्य संबंध आपको देखने को मिलेंगे। दर्शकों को इससे आश्चर्य होता है और उनमेंसे कई जानने का यत्न करते हैं कि इसमें वास्तविक विचार क्या है।

अंत में अध्यात्मवाद और व्यावसायिक मनोविज्ञान में अंतर यह है कि जहां व्यावसायिक मनोविज्ञान मन तथा शरीर और उनकी शक्यताओं को जांचता है वहां अध्यात्मवाद आत्मा को प्रेरित, जाग्रत् और परिचालित करना चाहता है। मन और शरीर की शक्यताएं सीमित हैं परंतु आत्मा विशाल है और मन और शरीर को नई प्रेरणा देकर उनमें नई शक्यताओं को भी प्रकट कर सकती है। इसलिये आश्रम में काम पूर्व अभ्यास अथवा योग्यता के आधार पर ही नहीं दिया जाता। यहां आशा यह की जाती है कि साधक अपने आपको असीम दिव्य शक्ति की ओर खोले, सदा नमनशील रहे और नए सामर्थ्यों के उद्भूत होने के लिये प्रतीक्षावान् रहे। इसलिये काम के संबंध में साधक की यह वृत्ति नहीं होती कि "अमुक काम तो मैं नहीं कर सकूंगा, उसकी तो योग्यता मुझमें नहीं, वह मैंने पहले कभी किया ही नहीं।" इसके विपरीत उसकी वृत्ति होती है अथवा होनी चाहिये "जो कुछ मुझे करने को दिया जायगा उसे मैं पूर्ण समर्पण से करूंगा, यदि आज वह नहीं हो पायगा तो कल, परसों अथवा अतरसों सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा और प्रेरणा से जरूर संभव हो जायगा।" भारतीय संस्कृति ने अपनी एतद्विषयक धारणा को इन शब्दों में "यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" खूब बलपूर्वक व्यक्त किया है। वास्तव में इस दृष्टिकोण, इस भाव में ही विशेषता है। वह यह कि आप अपने आपको सीमित स्वीकार करते हुए असीम शक्ति के प्रति खोलते हैं, उसके लिये अभीप्सा करते हैं। इस अभीप्सा की सत्यता और स्थिरता से एक संबंध स्थापित हो जाता है जो सारे व्यक्तित्व में एक प्रकार की स्वाभाविकता को जाग्रत् करता है और उससे उपेक्षित, दमित तथा प्रयोजनीय पूरक शक्यताएं प्रकट होती हैं।

व्यावसायिक मनोविज्ञान की पहली मान्यता ही ऐसे विकास के लिये बाधा है। यदि आप यह मानते हैं कि आपकी शक्यताएं स्थिर और निश्चित हैं और उन्हें आपने परीक्षणों द्वारा जान लिया है तो आप उन्हें ही विकसित करना चाहेंगे, नई शक्यताओं की संभावना से ही इन्कार कर देंगे। यह दृष्टिकोण नवीनतम मनोवैज्ञानिक खोज से भी अशुद्ध ठहरता है, क्योंकि मनोविज्ञान उत्तरोत्तर अनुभव करता जाता है कि अभी हम मानवी व्यक्तित्व को बहुत कम जानते हैं, हमें इसके बारे में हठ से कुछ भी नहीं कहना चाहिये।

अध्यात्मवाद के दृष्टिकोण के क्रियात्मक फल इस विषय के लिये आश्रम-जीवन की विशेष देन हैं। जो कविता से कोसों दूर प्रतीत होते थे उन्होंने कविता करने की प्रेरणा अनुभव की और खूब सफल कविता लिखी; जो अव्यावहारिक बुद्धि-सेवी थे उन्होंने अच्छी कार्य-कुशलता पैदा की। आश्रम-जीवन इस प्रकार के अनेक दृष्टांत उपस्थित करता है। अवश्य ही, ये हमारे आधुनिक विज्ञानवाद के लिये विशेष विचारणीय हैं।

कोई बड़े से बड़ा आश्रम भी संसार में एक छोटा सा ही संगठन हो सकता है। वह प्रायः एक सुरक्षित सा स्थान भी माना जाता है, जहां लोग जीवन-संघर्ष से चूर होकर अंतिम दिनों में कुछ आराम और कुछ सत्संग के लिये जाते हैं। श्रीअरविन्द-आश्रम में इस श्रेणी के लोग नहीं हैं यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन वास्तव में यह कोई सुरक्षा का स्थान नहीं। इसके विपरीत यह एक प्रयोगशाला है, जीवन-निर्माण की प्रयोगशाला। जैसे कोई कल-मशीन प्रयोगशाला में तैयार होती है और उसे सब प्रकार के परीक्षणों द्वारा जांचा जाता है, उन द्वारा भी जो शायद बाहर सामान्य व्यवहार में कभी न उपस्थित हों, इसी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन-निर्माण की प्रयोगशाला में भी सशक्त और वास्तविक जीवन विकसित करने के लिये सामान्य जीवन के सभी और कुछ अधिक परीक्षण प्रस्तुत करना जरूरी है। और ध्यान-पूर्वक देखने से पता चलेगा कि श्रीअरविन्द आश्रम के आयोजन में सर्वांगीण जीवन के विकास के लिये उस छोटे से क्षेत्र में ही बहुमुखी परिस्थिति मौजूद है जिसमें जीवन के लगभग सभी आकर्षण, संघर्ष तथा परीक्षण मौजूद हैं।

श्रीअरविन्द ने स्वयं एक बार कहा था "देखने में साधकों की कठिनाइयां प्रायः अधिक हैं अपेक्षा उनके जो बाहर हैं। कारण, उनपर आध्यात्मिक दबाव अधिक है और वे (परिवर्तन के लिये) बाध्य अधिक हैं।" उसी प्रकरण में कुछ और आगे फिर श्रीअरविन्द कहते हैं कि "साधकों के लिये अवसर भी विशेष हैं। उनके विकास के लिये उनपर जो शक्ति और प्रभाव उंडेले जा रहे हैं।"

प्रत्यक्ष ही, कम से कम श्रीअरविन्द आश्रम आराम करने का स्थान नहीं। इसका सूक्ष्म वातावरण ही आपको अभीप्सा के लिये, संघर्ष के लिये, आगे बढ़ने के लिये, प्रेरित करेगा, प्रोत्साहित करेगा, प्रचालित करेगा। संसार से लोहा लेने और दिग्विजयी बनने की अपेक्षा अपने आपसे मुठभेड़ होना और आत्मविजयी बनना कहीं अधिक कठिन है। श्रीअरविन्द तो व्यक्ति में, शरीर, प्राण और मन पर आत्मा का राज्य चाहते हैं तथा जगत् में वैश्व जड़, प्राण और मन पर भगवान् का प्रकट राज्य। इस अचिंत्य से ध्येय की अपनी कठिनाइयां असीम हैं। और होंगी भी। क्योंकि यहां तो मांग वास्तव में शुद्ध निरपेक्ष ब्रह्म स्वयं की है। इस मांग से ही अहंकार की वैश्व शक्तियां भयभीत होकर अपनी रक्षा के लिये संघर्ष करेंगी। ब्रह्म की खोज और प्राप्ति का मार्ग सरल नहीं हो सकता। सामान्य मानव समाज ऐसे आयोजन को अपने धर्म, नैतिकता तथा राष्ट्रीयता के मापदण्डों से जांचना चाहेगा। पर ब्रह्म जो सब मर्यादाओं का अंतिम आधार है वह तथा उसकी प्राप्ति का मार्ग भला सामान्य सामाजिक मर्यादाओं से कैसे निर्धारित हो सकते हैं। ऐसा होने से तो वह खोज ही दूषित हो जायगी। और यह खोज मूल में, जरूर ही, ब्रह्म स्वयं से प्रेरित होनी अनिवार्य है। उसके लिये, वास्तव में, कोई बाधा नहीं, न आन्तरिक न बाह्य। वह अपने शुभ समय में अपने आपको प्रकट करेगा और तभी मानव अपने चरम विकास को प्राप्त करेगा। श्रीअरविन्द आश्रम इसी प्रवृत्ति का प्रयास है।

—इन्द्रसेन

श्रीअरविन्द-प्रतिष्ठान

मेरा प्रस्ताव है कि एक श्रीअरविंद-प्रतिष्ठान की स्थापना करनी चाहिये जिसका कलकत्ते में एक स्थायी केंद्र हो, क्योंकि श्रीअरविंद आखिरकार बंगाल की संतान हैं। उस प्रतिष्ठान की शाखाएं सारे भारतवर्ष में तथा समस्त संसार में होनी चाहियें। उनके शांति तथा सद्भावना के संदेश को भारत की आत्मा कहकर वर्णित किया गया है और वह विश्व के कोने कोने में पहुंचा है .....श्रीअरविंद ने भारत को केवल राष्ट्रीयता ही नहीं अपितु आध्यात्मिक नवजन्म भी प्रदान किया है।

—डा. पी. एन. बैनर्जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मौनं व्याख्यानम्"

प्रायः लोग कौतूहल के साथ प्रश्न करते हैं—"क्या श्रीअरविन्द जब नियत दिवस पर दर्शन देने के लिये बाहर आते हैं तो कुछ बोलते-चालते भी हैं? दर्शनार्थियों या साधकों को वे तब कुछ उपदेश तो देते ही होंगे? कुछ संदेश सुनाते होंगे?" परंतु उनमेंसे बहुतों को यह जानकर वस्तुतः निराशा होती है, आश्चर्य तो होता ही है, कि श्रीअरविन्द दर्शन के समय भी कुछ बोलते नहीं, चुप बैठे रहते हैं, केवल दर्शनमात्र ही देते हैं।

"तो तुम लोग इतनी दूर से, इतना पैसा खर्च करके, केवल उनके क्षणिक और मौन दर्शन के लिये ही जाते हो?" वे आश्चर्य से कहते हैं। और उनके आश्चर्य का तब तो ठिकाना ही नहीं रहता जब उन्हें पता चलता है कि ऐसे लोग काफी हैं जो देहली, पंजाब, उत्तरप्रदेश आदि भारत के सुदूर प्रदेशों से प्रत्येक दर्शन पर (वर्ष में चार बार) दक्षिण में पांडिचेरी जाया करते हैं, तीन चार दिन की लगातार रेलयात्रा करके वहां पहुंचते हैं तथा ऐसे दर्शनार्थी यात्रियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।

इन में से बहुतों का आश्चर्य तो इस विचार से शांत हो जाता है कि भारत में अभी बहुत काफी अंधविश्वास भरा पड़ा है, पढ़-लिखकर भी भारतवासियों के हृदय में धार्मिक अंधविश्वास छिपा ही रहता है। कुछ अधिक 'तीक्ष्ण' बुद्धिवाले तो यह भी सोचते हैं कि पांडिचेरी के योगी तथा वहां की माताजी "हिप्नोटिज्म" जानती हैं। और इस सूझ के लिये मानो वे अपनी बुद्धि की प्रखरता की मन ही मन प्रशंसा करते हुए एक प्रकार की आत्म-संतुष्टि का सुख लाभ करते हैं। किंतु कुछ लोगों का आश्चर्य इतने से संतुष्ट नहीं होता, वे गहराई में जाना चाहते हैं और गंभीर विचार करना चाहते हैं।

*   *

"उन्हें हमारी तरह बोलने की आवश्यकता क्या है?" मैंने एक ऐसे आश्चर्य करनेवाले को इस बार दर्शन से लौटते हुए रेल में कहते सुना, "वे तो बोलने से जो किया जाता है, उसे वैसे ही कर देते हैं। वे बोलते नहीं हैं, कर देते हैं।"

तभी मुझे इस वर्ष, १९५०, का "माता" जी का उपदेश या "आदेश" (उसे इस वर्ष की "प्रार्थना" की जगह, इस वर्ष का "आदेश" कहना ही ठीक होगा) याद आ गया:-

बोलो नहीं, करो।
घोषणा नहीं करो, सिद्ध कर लो।

मैं सोचने लगा कि यह भी एक अंधविश्वास ही है, कि बोलना जरूरी है, कि बोलने के बिना कोई कार्य नहीं किया जा सकता है। यद्यपि यह स्पष्ट है (जैसा कि इस वर्ष के उपर्युक्त आदेश में ध्वनित है) कि कभी "बोलना" "करने" के लिये अनावश्यक ही नहीं होता किंतु उसमें बाधक भी होता है और इसी लिये बोलने को मना किया जाता है। हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध अवसरों पर अनेक प्रकार से कुछ ऐसा अनुभव भी करते हैं कि जो कम बोलते हैं वे करते अधिक हैं अथवा ज्यों ज्यों क्रियाशक्ति पूर्ण होती जाती है त्यों त्यों बोलना कम होता जाता है। तो भी यह "बोलने" का अंधविश्वास इतना अधिक हमारे मनों पर जमा हुआ है कि हम समझ नहीं पाते कि केवल "मौन-दर्शन"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कुछ उपयोगी हो सकता है, कुछ कर सकता है, कुछ समर्थ होता है, कुछ अद्भुत शक्ति रखता है।

* *

क्या हम नहीं जानते हैं कि जब कोई वस्तु अत्यंत तीव्र गति से घूम रही होती है तब वह स्थिर प्रतीत होती है? इसलिये श्रीअरविन्द का मौन उनके बोलने के (उनकी वाक्शक्ति के प्रयोग के) अभाव का ही द्योतक हो यह आवश्यक नहीं है। हो सकता है कि वे अत्यंत तीव्र गति में बोल रहे हैं, अपनी वाक्शक्ति का तीव्र वेग में प्रयोग कर रहे हैं। वे मौन दिखाई देते हैं, चुप मालूम पड़ते हैं, परंतु वास्तव में वे तीव्र, प्रबल, घन वाक्शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं।

क्या निम्न वचन कोरी "गप्प" या "कपोल-कल्पना" है?

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तूच्छिन्नसंशयाः॥

(अर्थात् गुरु ने तो मौन व्याख्यान दिया और उससे शिष्यों के सब संदेह निवृत्त हो गये)। जब शिष्यों के संदेह गुरु के बिना बोले ही निवृत्त हो जायं तो उन्हें गुरु को बुलवाने की क्या जरूरत?

जब मैं प्रथम बार १९३५ में श्रीअरविन्द आश्रम गया था तो वहां २०० साधक थे। पर अब वे बढ़ते बढ़ते ७०० तक पहुंच गये हैं। ये सब साधक एक ऐसे गुरु के चारों ओर क्यों इकट्ठे हो गये हैं, जो साल भर में चार बार कुछ क्षणों के लिये ही दीखते हैं, और तब भी बोलते कुछ नहीं? क्या इन साधकों को श्रीअरविन्द का कोई मौन व्याख्यान सुनाई देता है? वे क्यों वहां पड़े हुऐ हैं और ऐसे संतुष्ट हैं? अथवा हजारों बाहर के लोग दर्शनार्थ क्यों वहां जाते हैं?

आश्रम से संबंध रखनेवाले एक पत्रकार श्री विजयतुंगजी ने बहुत ठीक लिखा था, कि "हमें तो श्रीअरविन्द का वर्ष में चार बार दर्शन ही काफी से अधिक है।" मानों दर्शन के एक क्षण में वे हम दर्शनार्थियों को जो बोल देते हैं वही बहुत होता है।

उपर्युक्त संस्कृत का श्लोकार्ध तो हमारे प्राचीन भारतीयों की विशेष अनुभूति है।

* *

जिसे हम बोलना कहते हैं वह असल में वाणी का सर्वाधिक स्थूल, बाह्य और परिमित प्रयोग है। वाणी के तीन पाद तो हमारे अंदर छिपे रहते हैं, जो कि उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्म, आंतर तथा सीमारहित हैं। इन्हें क्रमशः "मध्यमा", "पश्यन्ती" और "परा" नाम से पुकारा गया है।

"मध्यमा" वह आंतरिक वाणी है जिसमें कोई भी ध्वनि, आवाज नहीं होती, यद्यपि वह भाषारूप में आई होती है—इसे मानसिक वाणी कह सकते हैं।

"पश्यन्ती" में भाषारूप में भी वह नहीं होती, यद्यपि जो कथनीय है उसे वह प्रकाशित रूप में देख रही होती है।

"परा" वाणी वह है जिसमें सब कुछ कह सकने की शक्ति गर्भित है। यह सबसे अधिक सूक्ष्म और आंतर वाणी है। अतएव असीम शक्ति से युक्त है।

चौथी और "बाह्य वाणी"—जिसे हम साधारणतया वाणी कहते हैं—"वैखरी" कहलाती है।

श्रीअरविन्द वास्तव में इस बाहरी "वैखरी" वाणी से न बोलकर दर्शनार्थियों से अंतर की मौन किंतु सूक्ष्म और प्रबल तथा असीम शक्ति रखनेवाली वाणियों में बोलते हैं। वे दर्शनार्थी की आत्मा से आत्मिक वाणी में बातचीत करते हैं, क्षण भर में ही न जाने कितना, बिल्कुल सीधा कह देते हैं। श्रीअरविन्द के मुख से निकलकर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे कान से प्रवेश करके वैखरी वाणी द्वारा उनकी आत्मा का जो संदेश हमारी आत्मा तक पहुंचाया जायगा वह तो सीधा नहीं पहुंचेगा, और यदि पहुंचेगा भी तो अपने स्थूल–बाह्य, अनघड़, मैले माध्यमों में से गुजरकर बहुत ही विकृत होकर पहुंचेगा। पर आंतर वाणी अधिक सीधी और साफ पहुंचती है, और अपना काम बहुत अधिक सफलतापूर्वक करती है।

हां, यह ठीक है कि अंदर की ऐसी वाणी सुनने के लिये अंतःकरण (अंदर के करण) कुछ खुले होने चाहियें, सुन सकनेवाले होने चाहियें।

एक बार मेरे एक आर्यसमाजी मित्र ने (जो मुझसे पहले से आश्रम से संबद्ध हैं) दर्शन करने के बाद जो कहा वह अत्यंत आश्चर्यजनक था। इस प्रकरण की भाषा में मानों उन्होंने कहा –

श्रीअरविन्द क्षण भर में इतना कह देते हैं, इतना व्याख्यान दे देते हैं, कि मनुष्य यही चाहता है कि काश वह उसे सहन कर सकता, उसे श्रवण कर सकता, उसे आत्मसात् कर सकता। (अपूर्ण)

–अभय

सुकेशा ऋषि का प्रश्न

भरद्वाज ऋषि के पुत्र सुकेशा के पुत्र सत्यकाम, सूर्य ऋषि के पौत्र गार्ग्य, अश्वल ऋषि के पुत्र कौशल, विदर्भ देश के भार्गव और कत्य ऋषि के पौत्र कबंधी–सभी एकत्र होकर एकनिष्ठ भाव से भगवान् की उपासना किया करते थे। धीरे धीरे उनकी परम ब्रह्म को जानने की इच्छा प्रवल हो उठी, पर अनेक तरह से अन्वेषण करने पर भी वे परम तत्त्व का संधान न पा सके। अंत में एक दिन सभी ने आपस में मिलकर परामर्श किया और हाथ में समिधा लेकर वे भगवान् पिप्पलाद ऋषि के चरणों में आ उपस्थित हुए।

पिप्पलाद ऋषि सच्चे ब्रह्मज्ञ थे, इसलिये उन लोगों का विश्वास था कि उनके निकट जाने से ही वे परम तत्त्व को जान सकेंगे। पर पिप्पलाद ऋषि ने उन्हें उपासनापरायण जानकर भी आदेश किया–तुम लोग फिर से श्रद्धा के साथ ब्रह्मचर्य और तपस्या का अनुष्ठान करते हुए इस आश्रम में एक वर्ष तक वास करो। उसके बाद जैसी तुम्हारी इच्छा होगी मुझसे प्रश्न करना। यदि मैं कुछ जानता हूंगा तो तुम्हें अवश्य उपदेश दूंगा।

आज्ञा शिरोधार्य करके वे ऋषि ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करके भगवान् पिप्पलाद की सेवा में रहने लगे।

इस प्रकार एक वर्ष बीत जाने के बाद उन ऋषियों ने वारी बारी से आकर प्रश्न किये और गुरु ने भी योग्य शिष्यों को ज्ञान-दान दिया। दोनों खूब आनन्दित हुए। अधिकांश प्रश्न थे प्राणशक्ति के विषय में।

परंतु भरद्वाज के पुत्र सुकेशा का प्रश्न विशेष था। प्रश्न के आरंभ में उन्होंने अपने जीवन की एक घटना का उल्लेख किया, जो उससे संबद्ध थी। सुकेशा ने कहा–भगवन्! कौशल देश के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने एक दिन मेरे निकट आकर जिज्ञासा की–भारद्वाज,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षोडशकल पुरुष को क्या आप जानते हैं ?

मैंने कुमार से कहा–मैं तो इसे नहीं जानता।

मेरी बात पर उसे विश्वास न हुआ, इसलिये वह मुझसे बहुत असंतुष्ट हुआ। ऐसा देख-कर मैंने उससे फिर कहा, कुमार तुम तो सब तरह से योग्य शिष्य हो, यदि मैं जानता होता तो तुम्हें क्यों नहीं बताता ?

इतने पर भी जब उसके मन का संदेह दूर न हुआ, तब मैंने कहा–कुमार, जो मनुष्य असत्य बोलता है, वह समूल नष्ट हो जाता है। जब मैं जानता ही नहीं, तो मैं तुमसे झूठ कैसे कहूं ?

यह बात सुनकर वह लज्जित हुआ और जैसे आया था वैसे ही चला गया। भगवन्, उस दिन उत्तर न दे सकने के कारण मेरे मन में बड़ी व्यथा हुई। वह प्रश्न आज भी कांटे की तरह मेरे हृदय में बिंधा हुआ है। आज मैं सौभाग्य से आपको प्रसन्न देख रहा हूं। आप कृपा करके कहें–वह षोडशकलाविशिष्ट पुरुष कौन है ?

पिप्पलाद ऋषि ने प्रश्न सुनकर सुकेशा से कहा–सौम्य, तुम्हारे अंतर में–इस शरीर के भीतर ही वह पुरुष विद्यमान है, उसीसे षोडश वासनाएं उत्पन्न हुई हैं। जो आत्मा है, वही वह पुरुष है। वह प्राण की सृष्टि करता है। प्राण से ही मन, इंद्रिय, ज्योति आदि अन्य पंद्रह कलाओं की सृष्टि हुई है। नदियां जिस तरह समुद्र में जाकर विश्राम लेती हैं, उनका कोई अलग नाम और रूप नहीं रह जाता उसी तरह षोडश कलाएं इस पुरुष को प्राप्त कर इसमें विलीन हो जाती हैं और उनका कोई अलग नाम-रूप नहीं रह जाता। रथ के पहिये की नाभि के आरों की तरह ये कलाएं जिस पुरुष के आश्रित रहती हैं, केवल उसी पुरुष को जानना होगा और उसे तुम अवश्य जानोगे। हे सुकेशा, ऐसा होने पर मृत्यु तुम्हें जरा भी व्यथित नहीं कर सकेगी। परब्रह्म की बात मैं यहीं तक जानता हूं। इसके बाद की नहीं जानता।

–अनूपलाल

ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय श्रीअरविन्द की भारत और संसार को सर्वाधिक स्थायी देन है। चाहे वे मौन हैं पर वे धीमे धीमे, अवर्णनीय कौशल के साथ, मौन की वाक्-शक्ति को हमारे सामने प्रकाशित कर रहे हैं। साधारण नर-नारियों के श्रोत्र उस उदात्त आशुकवित्व की लय शनैः शनैः पकड़ पायंगे। घृणा और भय, हिंसा और प्रति-हिंसा से विक्षिप्त शेष सारा जगत् अपने मन और अपनी आत्मा के स्वर को भारत के सना-तन संगीत के स्वर के साथ मिलाना सीखेगा।

–डा० कालिदास नाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताकुंज–

जीवन-ज्योति

जीवन मम ज्योतिर्मय कर दो !

तज निज लघुता यह लंपट मन
उड़े गगन में मुक्त विहग सम,
इसमें तुम वह बल भर दो !

बने हृदय यह उज्ज्वल आंगन
रवि किरणों का हो अभिवर्षण
शुष्क रूक्ष को पेशल कर दो।

प्राण बनें आनंदमय सुर सदन,
सुर-बालाओं का हो नर्तन
निज संपद से मम घर भर दो !

जड़ तन होवे इतना चेतन
उतर स्वतः आवें जग रंजन
वरद हस्त तुम सिर पर धर दो !

–नारायणप्रसाद

पिक के प्रति

कूक भर, कोकिल, कूक,
उषा के वन में कूक !
हृदय-कुंज में नीरव रव कर,
मुकुलों में अभिनव विकास भर,
धरा स्वर्ग-चेतना युक्त कर
हृत्तंत्री में भर नव कूक !

कूक भर कोकिल, कूक,
प्राण-वीणा में कूक !
दिव्य तू उर उर में भर स्पन्द,
निमज्जित मानस का द्वंद्व,
सभी में कर कल नादित छंद
गूढ़ स्वर से भर कूक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूक री, कोकिल, कूक !
जनों के अंतरतम में कूक,
शरद मधु उनके कब से मूक
मिटा निज स्वर से दुःख की हूक,
कूक भर, कोकिल, कूक,
आम्र कानन में कूक !

—ओजराज पंत

पुकार

मां ! वरद हस्त पसार दे।

संसार की असमानता से,
खिन्न मानस हो गया,
बहु रूप, रंगों को निरख
बहुरूपिया मन खो गया,
यह दृष्टि आत्म प्रवंचना की
मम हृदय से टार दे॥ मां ! वरद...

मन की अचंचलता मेरी,
चिर शांति आध्यात्मिक लहे,
मैं डूब जाऊं प्रेम में,
शुचि प्रेम की सरिता बहे,
छल, द्वेष मन से दूर कर
पाखण्ड, दंभ निवार दे॥ मां ! वरद...

जग को लखूं निज में स्वयं,
निज को सकल जग में लखूं,
मैं भूल जाऊं द्वैत को,
एकत्व निज मन में रखूं,
सुख, शांति का शुभ पथ गहूं,
वह आत्म-ज्योति प्रचार दे॥ मां ! वरद...

—त्रिभुवननाथ 'नाथ'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृ ओर

प्रेममयी जननी के पावन
चरण-कमल में सतत प्रणाम,
आत्म-समर्पण सरिता जैसे
सागर को करती अविराम।

चिन्तन-स्मरण सदा जननी का,
नित्य अखंड अनवरत ध्यान;
प्रतिदिन, प्रतिक्षण मात्र उन्हीं का
पूजन अर्चन कीर्तन गान।

कठपुतली-सम एक उन्हीं से
जुड़ा हुआ बस हिय का तार;
संचालित उन ही के द्वारा
मन वाणी काया व्यापार।

घटना-घटना, वस्तु-वस्तु में
देख-देख उनको साकार,
जग-नाटक में आनंदित हो
भजना अपना पार्ट यथार्थ।

हानि-लाभ अरु हार-जीत सब
मातृ समर्पित एक समान;
यश-अपयश अरु सुख-दु:ख दोनों
श्री चरणन में पावें स्थान।

कर्म-अकर्म, शुभाशुभ का भी
लुप्त हुआ हो सारा छन्द;
बन्ध-मुक्त जीवन की धारा
मातृ ओर छूटे सानन्द।

—रामकृष्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन

देव पुरुष का दर्शन भगवन्
मुझमें सच्ची ज्योति जगा दे।
मेरी सारी निर्बलता को
वह क्षण भर में दूर भगा दे॥

मुझे खोल दे माता के प्रति
जो है मंगलमयि जननी।
बाधक जो जो विघ्न सभी को
बल से कोसों दूर नसा दे॥

यही चाहता सूर्यसदृश बन
मैं चमकूं चमकाऊं।
ईषद्विकसित हृदय कमल को
यह दर्शन चमका दे॥

सबमें प्रभु की लीला देखूं
हंसता रहूं हंसाऊं।
ऋषि का दर्शन करुणाकर की
मुझको कला बना दे॥

काम कोप अभिमान लेश भी
रहे न मेरे भीतर।
ईश्वर की प्रणिधान भावना
को दर्शन विकसा दे॥

दया शांति का सिन्धु समावे
पाप ताप जिनसावे।
कलमष का अवशेष बचा जो
दर्शन उसे धुला दे॥

—धर्मदेव विद्यावाचस्पति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय–

विचार और अभीप्सा

वास्तविक सक्रियता

मानव सफल होना चाहता है, कर्म में, व्यवहार में, जीवन में। परंतु होता बहुत बार असफल है। वह निराश होकर विचार करने लगता है, मैं क्यों कृतकार्य नहीं हुआ? मैंने पूरा यत्न किया, फिर भी मैं सफल नहीं हुआ, क्यों? विचार करते करते वह कई बार अनुभव कर लेता है कि साध्य के लिये उसके साधन उपयुक्त न थे, अथवा उपयुक्त होते हुए भी सफलता के लिये जिस अध्यवसाय की आवश्यकता थी वह अध्यवसाय उसमें न था अथवा उसका साध्य ही उसके वर्तमान सामर्थ्य से बाहर का विषय था। वास्तव में, जो विचार करके ये तथ्य अधिगत करता है उसे किसी अंश में आध्यात्मिक अंतर्मुख भाव प्राप्त है, क्योंकि सामान्य बहिर्मुख मानव तो असफल होने पर प्रायः परिस्थिति को कोसता है तथा अन्य मानवों को उसके रास्ते में रुकावट डालने के लिये अथवा उसे सहायता न देने के लिये अपराधी ठहराता है। अपने आपको तो वह हर तरह से निर्दोष ही अनुभव करता है।

परंतु जब व्यक्ति को कुछ अंतर्मुख भाव प्राप्त हो तभी वह अपने आपको देखने की कोशिश करता है और तब वह बहिर्मुख मानव के अत्यंत स्थूल भ्रम से मुक्त होता है। वह अंगूर न मिलने पर उन्हें खट्टा नहीं बताता। परंतु उसे अन्य कई एक भ्रमों को अभी और लांघना होता है। 'वास्तविक सक्रियता', 'सार्थक कर्म' कितने प्रिय आदर्श हैं! कैसी सुन्दर होगी वह स्थिति जिसमें मनुष्य व्यर्थ की चेष्टा, उलझनभरे कर्म तथा प्रवंचनापूर्ण आयोजनाओं को आरपार देखता हुआ हर स्थिति में योग्य कर्म योग्य रीति से करने में प्रवृत्त होगा।

गतांक के मुख्य संपादकीय में हमने कहा था कि यह वर्ष हमारा 'सार्थक कर्म' तथा 'सार्थक शब्द' की साधना का वर्ष है। सार्थक व्यवहार अंत में जरूर आध्यात्मिक व्यवहार होगा, क्योंकि चेतन आत्मा ही देहनगरी में राजा है। उसके कर्म की मर्यादा ही आदर्श-मर्यादा हो सकती है। परंतु शरीर, प्राण और मन की भी अपनी अपनी मर्यादाएं हैं और वे अपने अपने अहंकारों से प्रेरित होकर कर्म करते हैं। इन कई अहंकारों के इकट्ठे होने से मानवीय व्यक्तित्व की रचना में द्वंद्वों की विलक्षणता पैदा हो जाती है तथा अनेक भ्रमों की सृष्टि हो जाती है। इन भ्रमों के क्रीड़ामय आंतरिक जगत् को लांघकर ही मानव आत्म-राज्य में पहुंचता है और तभी प्रवंचनारहित नीरव कर्म की अपूर्व सार्थकता लाभ करता है। वह अहंकाररहित होकर सदा सफल भागवत कर्म का सरल तथा स्वाभाविक यंत्र बन जाता है।

हमने पिछली वार कहा था कि वहुत बार प्राणिक चेष्टा के रस के लिये मानव कोई कर्म करता है और समझने लगता है कि उसने कुछ वास्तविक कर्म भी कर डाला। यह क्लिष्टता, वास्तव में, हमारी प्राणमय सत्ता के कारण पैदा होती है। यदि हम काफी सजग हों तो किसी कर्म को करते समय हम देख पायंगे कि उसका प्रेरक आशय प्राणिक संतोष (sensation और excitement) है अथवा कार्य और लक्ष्य की सफलता।

परंतु मन एक सूक्ष्मतर भ्रम की सृष्टि कर देता है। मन मनन करता है, चिंतन करता है। इससे वह विचारों के एक जगत् की सृष्टि करता है। विकासक्रम में विचार मानव की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष उपलब्धि हैं और इनसे उसका विशेष मोह हो जाना स्वाभाविक है। भाषा विचारों के चिंतन और अभिव्यक्ति का विशेष माध्यम है और यह भी विशेष मानवीय उपलब्धि है। भाषा के साथ भी हमारा मोह वैसा ही होता है।

मुख से शब्द करने की प्रवृत्ति प्राणियों में व्यापक रूप से मौजूद है। यह भी उसी प्रकार से जन्मजात है जिस प्रकार खाना, पीना, सोना तथा काम, क्रोध, लोभ आदि हैं। और प्राणी इसकी क्रियाशीलता में भी वैसे ही सुख मानता है जैसे अन्यों की क्रियाशीलता में। मानव में यही प्रवृत्ति विशेष विकसित होकर भाषा की सृष्टि कर देती है।

अब, जिस प्रकार प्राणमय सत्ता का अपना अहंतापूर्ण आग्रह होता है और हम उसके साथ तादात्म्य होने से प्राणिक चेष्टा को ही वास्तविक कर्म मान लेते हैं और एक भ्रम के शिकार हो जाते हैं उसी प्रकार बोलने की प्रवृत्ति तथा भाषा और विचार का भी अपना अपना आग्रह होता है और हम उनके साथ तादात्म्य होने से एक सूक्ष्मतर भ्रम के शिकार हो जाते हैं। क्रोध में आया हुआ व्यक्ति बार बार कहता है "ना, मैं क्रोध में नहीं हूं।" और वह मानता होता है कि वह क्रोध में नहीं है। वास्तव में, वह क्रोध करने का अपराधी नहीं बनना चाहता अथवा दूसरों की दृष्टि में वह क्रोधरहित प्रतीत होना चाहता है। इस इच्छा के प्रभाव के अधीन वह अपने विषय में वैसा ही मानने लगता है तथा भाषा में वैसे ही अभिव्यक्त करता है। प्रत्यक्ष ही, भाषा और विचार उस भ्रम को पुष्ट करने के लिये साधन बन जाते हैं। उसके व्यवहार के जड़मूल में दो प्रवृत्तियां हैं। एक है क्रोध की, जो किसी इच्छा के खण्डित होने से पैदा हुई है और दूसरी है समाज-जनित कर्तव्य अथवा योग्य व्यवहार की–इस दशा में, कि क्रोध नहीं करना चाहिये। दूसरी प्रवृत्ति के विशेष सक्रिय होने से व्यक्ति का चिंतन और भाषा उसे सत्य अवस्था के प्रति अंधा बना देती है और वह अनुभव करने लगता है कि मैं क्रोध में नहीं हूं और ऐसा ही वह अपने आपको बताता है। इसी प्रकार चिंतन और युक्तियां तथा भाषा और शास्त्र-ज्ञान, दो वृत्तियों के संघर्ष में जो भी प्रबल हो उसी के, साधन बन जाते हैं और गंभीर भ्रम पैदा कर देते हैं। यही कारण है कि बुद्धिजीवी व्यक्तियों के लिये उनका शब्दजाल आत्म-उपलब्धि के मार्ग में अत्यंत विकट बाधा बन जाता है। वे आत्मा, परमात्मा तथा सत्य, प्रेम, धर्म आदि शब्दों के प्रयोग से एक मिथ्या संतोष प्राप्त कर लेते हैं। वे समझने लगते हैं कि वे इनके विषय में जानते हैं, ये उन्हें प्राप्त हैं। वास्तव में, जो स्थिति होती है वह यह कि उनकी बुद्धि उन्हें एक तुच्छ, अधिकांश में नाम का मिथ्या संतोष प्रदान करके उन्हें अपने अहंतापूर्ण अंधकार के दास बनाये रखती है। इस आत्म-प्रवंचना से छुटकारा अत्यंत कठिन होता है। यही कारण है कि नास्तिक जब आस्तिक बनता है तो शीघ्र ही आध्यात्मिक मार्ग पर उन्नति करता है, परंतु अपने आपको आस्तिक कहनेवाले, आत्मा परमात्मा की रटन लगानेवाले, इन महान् तथ्यों का वास्तविक संपर्क प्राप्त करने में प्रायः असफल रहते हैं। परमात्मा का सच्चा विचार भी, जो मौलिक रूप में उस गंभीर तत्त्व को अभिव्यक्त कर रहा है, उस तत्त्व से दूसरे दर्जे की सत्ता है। माताजी ने एक जगह कहा है कि "कोई विचार, वह कितना ही शक्तिशाली, कितना ही गंभीर क्यों न हो, अत्यधिक बार दुहराये जाने पर, लगातार अभिव्यक्त किये जाने पर, अरुचिकर, निःसार तथा निरुपयोगी हो जाता है... सदा ही, एक प्रकार के विचारों की जगह नए प्रकार के विचार, हर बार अधिक पवित्र, अधिक विशाल तथा अधिक समन्वयात्मक, आया करते हैं। परंतु उनमेंसे कभी एक भी तेरे स्वरूप का (भगवान् के स्वरूप का)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कारमात्र भी देने के योग्य नहीं माना जायगा" (Prayers and Meditations, pp. 219—220)। आदर्श अवस्था प्रत्यक्षतः वह है जब कि व्यक्ति प्राण अथवा मन के सब व्यापारों से अलिप्त होकर आत्मस्थ होता है। माताजी ने एक और प्रकरण में कहा है कि "केवल पूर्णतम शांति, शुद्धता तथा समता में ही सब कुछ तू होता है जैसे कि तू सब कुछ है ही और इस पूर्णतया पवित्र और निश्चल वातावरण में जरा सी गति भी तेरी अभिव्यक्ति में बाधा होती है।" और माताजी बतलाती हैं कि यह स्थिति "दुनिया भर के ध्यान-चिंतनों से अधिक अच्छी होती है।"

इस आदर्श स्थिति की यथार्थ भावना के बिना हम विचार और भाषाजनित भ्रमों को समझ ही नहीं सकते। अवश्य ही, मलिन विचारों की अपेक्षा पवित्र विचार अच्छे हैं, परंतु शुद्ध आंतरिक शांति सब विचारों से अच्छी है। उससे वह अलिप्तता और तटस्थता प्राप्त होती है जिससे मनुष्य कर्तव्य को यथार्थ रूप में निर्धारित कर सकता है तथा वह संगृहीत शक्ति प्राप्त होती है जो कर्म को सफल बना सकती है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक अवसर पर अपनी अमरीका-यात्रा में कहा था कि यदि राष्ट्रों के नेता हर समय बोलने तथा दौड़-धूप में व्यस्त रहने की अपेक्षा थोड़ा निश्चल बैठने तथा "ध्यान" करने का अभ्यास करें तो अधिक अच्छा हो। इसमें, निश्चय ही, आध्यात्मिक तथ्य निहित है। अपनी व्यस्तताओं से यदि मनुष्य किसी समय भी हटकर न बैठे तो वह उनके बारे में निष्पक्ष भाव बना ही नहीं सकता। और बिना निष्पक्ष, असंग भाव के कर्म-अकर्म का विचार जाता रहता है। ऐसी दशा में मनुष्य हितकर सफल कर्म कैसे कर सकेगा!

अपनी ध्येय-रूप स्थिति की भावना हमें वर्तमान व्यावहारिक जीवन में अपूर्व सहायता दे सकती है। इससे हम अधिक आसानी से अपनी वर्तमान अवस्था के भ्रमों को देख सकेंगे तथा इन्हें दूर करने का यत्न कर सकेंगे। बोलने के आवेग में बोलना प्राणिक तुष्टि के रूप में ही प्राणिक स्तर का सार्थक कर्म हो सकता है। किसी लक्ष्य की दृष्टि से यदि हम उसे सार्थक कर्म बनाना चाहते हैं तो बोलने में वह लक्ष्य सदा दृष्टि में रहना चाहिये। कई बार हमारे शब्द इस प्रकार के होते हैं मानों हम किसी को उसके हित के लिये स्वयं कष्ट उठाकर कुछ समझा रहे हैं। वास्तव में, भाव होता है रोष का, कि उसने हमारी पहली बात की परवा नहीं की, अच्छा हुआ अब वह दुःख भोग रहा है। इस प्रकार के भ्रमों में पड़कर हम शक्ति का ह्रास ही नहीं करते जीवन में और अनावश्यक उलझन भी पैदा कर लेते हैं। अन्य व्यक्तियों को भी हम उनके वक्तव्यों के अनुसार स्वीकार करेंगे तो भूल करेंगे। व्यक्ति प्रायः अपने आपको ऐसा जतलाते हैं जैसा कि वह बनना अथवा प्रतीत होना चाहते हैं न कि जैसे वे हैं। हमें उनकी वृत्ति और भाव देखना होगा, शब्दों को अपने आपमें नहीं मान लेना होगा। और वृत्ति और भाव जानकर फिर अपनी ओर से योग्य वृत्ति और भाव द्वारा ही उनके संबंध में कर्म करना होगा। ऐसे व्यक्ति भी देखने में आते हैं जिनकी बोली विशेष मीठी होती है, परंतु आशय उतने शुद्ध नहीं होते। इसी प्रकार विचार भी किसी के उच्च और विशाल हो सकते हैं परंतु संभव है कि उसके सक्रिय आशय बहुत भिन्न हों।

वास्तविक सक्रियता के साधक को इन सब भ्रमों से उत्तरोत्तर सजग होते जाना होगा। व्यर्थ की चेष्टा और व्यर्थ के शब्द का त्याग करते हुए सच्ची सफल कर्मशीलता विकसित करनी होगी। अंत में वह, प्रत्यक्ष ही, अपूर्व आनंद लाभ करेगा। वह निर्भ्रांत भाव प्राप्त करेगा और दिव्य कर्म का भागी बनेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा का आदर्श

शिक्षा मानव-पुरुषार्थ का परम पुनीत क्षेत्र है, यह सदा ही सजग विचार और जिज्ञासा-पूर्ण खोज का विषय रहनी चाहिये। इसके रूढ़ हो जाने से इसका उद्देश्य ही खंडित हो जाता है। वर्तमान युग में पश्चिम में अनेक शिक्षाशास्त्री हुए हैं और उन्होंने अनेक उपयोगी और रोचक विचार उपस्थित किये हैं।

अभी हाल में एक पुस्तक हमारे देखने में आई–"Education for a New World" –"नया युग रचनेवाली शिक्षा"। लेखिका हैं प्रसिद्ध मेडम मांटसोरी।

यह पुस्तक जिस शिक्षापद्धति का निरूपण करती है उसका उद्देश्य है ऐसा नया मानव पैदा करना जो अपनी परिस्थिति का दास नहीं होगा बल्कि सदा ही उसका स्वामी रहेगा। अवश्य ही यह आदर्श मौलिक और विशेषतापूर्ण है। परंतु पश्चिम में तो मनुष्य ने विज्ञान के सहारे परिस्थिति पर अधिकार कर ही रखा है। फिर भी हमारी विदुषी लेखिका कहती हैं कि नया मानव अपनी परिस्थिति का शिकार नहीं होगा। प्रत्यक्ष ही, वे अनुभव करती हैं कि वर्तमान मानव विज्ञान का बल रखते हुए भी अपनी परिस्थिति का स्वामी नहीं। निःसंदेह आज की भारी भरकम वैज्ञानिक सभ्यता उसकी रचना होते हुए भी उससे सम्हाली नहीं जा रही। वह बलात् एक संकट के बाद दूसरे में ग्रस्त हो जाता है। व्यक्तिगत जीवन में भी वह बाह्य सुख खोजता है, ऐन्द्रियक संवेदन ही उसे रस प्रतीत होते हैं। वह अपने आपमें कुछ रस और आनंद अनुभव ही नहीं करता। इसी लिये वह परिस्थिति का दास है।

परंतु मनुष्य परिस्थिति का स्वामी बने तो कैसे? स्वामी तो मानव तभी हो सकता है जब वह अपने अंदर स्वाभाविक रस का केंद्र पा लेता है जिससे उसे परिस्थिति में सुख खोजने की आवश्यकता नहीं रहती। तभी वह स्वामिभाव में परिस्थिति का उपयोग और उपभोग कर सकता है।

मैडम मांटसोरी अपने नये मानव के चरित्र, स्वरूप और व्यवहार की विशेष व्याख्या नहीं करतीं। उनका अधिक बल अपनी क्रियात्मक शिक्षा-शैली के निरूपण पर है। परंतु हमारे विचार में उस शिक्षा-शैली से परिस्थिति का स्वामी पैदा नहीं हो सकता। ऐसा मानव पैदा करने के लिये शिक्षा की दृष्टि और ही होनी चाहिये।

भारतीय शिक्षा, जिसके संकेत विशेष रूप से हमें उपनिषदों में मिलते हैं, केवल बौद्धिक शिक्षण को अपना आदर्श नहीं स्वीकार करती थी। अनेक विषय जान लेना, उनकी व्याख्या कर सकना, उनपर लिखने की क्षमता प्राप्त कर लेना, ये शिक्षा के आदर्श न थे। वहां तो आदर्श था सत्यों का चरितार्थ करना। मनन, चिन्तन एवं ध्यान द्वारा वृत्तियों को शुद्ध करके सत्य को व्यक्तित्व और अनुभव का अंग बना लेना।

किसी सत्य का शाब्दिक ज्ञान प्राप्त करने तथा उसे अनुभव में चरितार्थ करने की शैलियां भिन्न होती हैं। यह भेद आज हम भूल ही गये हैं। परंतु इसका परिणाम व्यापक रूप में हमारे सामने है। व्यक्ति जानता है कि योग्य क्या है, परंतु वह करता कुछ और है। चाहता हुआ भी वह उसे कर नहीं पाता। वह अपनी असमर्थता से दुखी होता है। समर्थ और सबल व्यक्तित्व में तो बुद्धि, चित्त-शक्ति और भावना सब सम रूप में विकसित होनी चाहियें। परन्तु यह समता पूर्ण रूप में तो प्राप्त तभी हो सकती है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के सर्वोपरि सत्य अर्थात् आत्मा को चरितार्थ कर लेता है। तभी वह पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थों में परिस्थिति का स्वामी बनता है, क्योंकि तब वह अपने अंदर अपने मन, प्राण आदि का भी स्वामी बन जाता है।

सदा ही भारतीय यौगिक शिक्षा का आदर्श रहा है–पहले 'स्वराज्य', अपने अंदर पूर्ण आत्म-स्वातंत्र्य द्वारा वैयक्तिक मन, प्राण और शरीर पर आत्मा का राज्य और फिर 'साम्राज्य', वैश्व मन, प्राण और शरीर की परिस्थिति पर अधिकार। ऐसा नया मानव जो अपनी परिस्थिति का शिकार नहीं होगा इस आध्यात्मिक शैली से ही संभव हो सकता है।

–इन्द्रसेन

श्रीअरविन्द-साहित्य

(२)

The Human Cycle. By Sri Aurobindo. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry .Pp. 334, Price Rs. 7/-

गतांक में हमने इस पुस्तक के सामान्य स्वरूप तथा प्रधान प्रेरणा का ही उल्लेख किया था। इसका प्रतिपाद्य विषय हम स्थानाभाव के कारण नहीं रख पाये थे। यह पुस्तक, वास्तव में, कुछ एक अवस्थाओं का विवेचनात्मक निरूपण करती है, जिनमें से गुजरकर मानव-समाज अपने विकास-पथ पर अग्रसर होता है। विकास का ध्येय तथा अंतिम अवस्था आध्यात्मिक है। इसका वर्णन हम पिछली बार कर चुके हैं, परंतु इस अवस्था तक मानव पहुंच एक क्रम में से होकर ही सकता है। उस क्रम को समझे बिना हम पुस्तक की मौलिक प्रतिज्ञा को अवगत नहीं कर सकते।

मानवीय इतिहास को विचारते हुए एक युरोपियन विद्वान् लैम्परेख्ट इस निर्णय पर पहुंचा कि मानव कुछ निश्चित अवस्थाओं में से होता हुआ विकसित होता है। श्रीअरविन्द उसकी मौलिक भावना को अंगीकार करते हैं, यद्यपि वे कहते हैं कि मानव जीवन अत्यंत समृद्ध तत्त्व है, इसे हम किसी एक कठोर नियम में बांध नहीं सकते।

श्रीअरविन्द के अनुसार ये अवस्थाएं निम्न प्रकार हैं:–

१. Symbolic – प्रतीक-प्रधान
२. Typal – आदर्श-प्रधान
३. Conventional – परंपरा-प्रधान
४. Individualist – व्यक्ति-प्रधान
५. Subjective – अनुभव-प्रधान
६. Spiritual – अध्यात्म-प्रधान

प्रारंभिक अवस्था में मानव, चाहे वह सभ्य और संस्कृत था अथवा असभ्य, अपनी प्रवृत्ति और दृष्टिकोण में धार्मिक था। धार्मिक भाव के साथ-साथ सजग कल्पना तथा अंतर्दृष्टि भी रहती हैं, जो प्रतीकात्मक जीवन-दृष्टि से घनिष्ठ संबंध रखती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी कारण प्रारंभिक मानसिकता प्रबल रूप में प्रतीकात्मक थी। उस समय के धार्मिक कृत्य तथा संस्थाएं सब प्रतीक-रूप थीं। मानव में बौद्धिक चेष्टा पीछे प्रकट हुई। वास्तव में जब मानव युक्ति करने लगा, शंका करने लगा तब वह प्रतीक-प्रधान अवस्था में से गुजर चुका था तथा व्यक्ति-प्रधान अवस्था के लिये तैयारी कर रहा था।

भारतीय इतिहास में वैदिक युग प्रारंभिक अवस्था का रूप था। उसे आज समझने में कठिनाई ही विशेषतः इस कारण होती है कि उस समय की भावना प्रतीकात्मक थी, जो हमारी वर्तमान मानसिकता में नहीं है। उस समय यज्ञ का भाव सारे सामाजिक जीवन में ओत-प्रोत था, जो प्रकृति की शक्तियों की आराधनामात्र न था, बल्कि गंभीर गुह्य आध्यात्मिक अर्थ का द्योतक था। चातुर्वर्ण्य का मौलिक वैदिक विचार कैसे स्पष्टतया प्रतीक-रूप है! ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में कहा गया है कि ब्राह्मण विराट् पुरुष के सिर से, क्षत्रिय बाहुओं से, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र पांवों से निकले।

इसी प्रतीकात्मक भाव के कारण ही उस अवस्था का मानव हर कर्म और व्यवहार को धार्मिक और पवित्र मानता था। आज की हमारी असभ्य जातियों के व्यवहार में वह स्वतंत्र भाव नहीं जो प्रारंभिक अवस्था में था। वे, वास्तव में, उस प्रारंभिक अवस्था में से गुजरकर अवनति के पथ पर जा पड़ी हैं और अत्यंत संकुचित और रूढ़ हो गई हैं। उनकी अवस्था को प्रारंभिक मानना भूल है।

जहां मानव विकास की प्रथम अवस्था प्रधानतया धार्मिक और प्रतीकपरक थी वहां दूसरी अवस्था प्रधान रूप में मनोवैज्ञानिक और नैतिक थी। इसमें आध्यात्मिक और धार्मिक भाव भी नैतिक आदर्श का साधन बन जाता है। भारतीय इतिहास में एक युग आया जिसका प्रेरक शब्द था "धर्म" और धर्म का अर्थ था आदर्श व्यवहार। ऐसे समय में जगत् के सर्वव्यापक आध्यात्मिक तथ्य के लिये भावना पहले जैसी बलवती नहीं रहती, उसे जीवन में सीधे तौर पर अभिव्यक्त करना भी लक्ष्य नहीं रहता। इस युग की विशेष देन होती है कुछ एक सामाजिक आदर्श अथवा सामाजिक आत्म-सम्मान का भाव। ब्राह्मण पवित्रता और विद्यानुशीलन में आत्म-सम्मान अनुभव करने लगा, क्षत्रिय वीरता में, वैश्य शुद्ध लेनदेन में, शूद्र आज्ञापालन और सेवा में।

ये आदर्श सहज ही सामाजिक परंपराएं बनकर एक नए युग का सूत्रपात कर देते हैं। इस अवस्था में "आत्मा और आदर्श के बाह्य रूप आदर्श से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं; शरीर, बल्कि कपड़े भी, व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।" हमारे इतिहास के पिछले हजार साल ऐसे परंपराबद्ध ही थे। इसमें दृष्टिकोण जीवन को पुरानी मर्यादाओं के अनुसार चलाने का था, जो अपने आपमें पूर्ण मानी जाती थीं। जीवन की अपनी रचना-शक्ति इतनी सजीव न थी कि मानव विश्वासपूर्वक अपने प्रश्नों का हल निकालने की कोशिश करता। परंपरा-प्रधान युग में भी एक समय बड़ा सुन्दर हो सकता है। यह तब जब कि अभी बाह्य मर्यादाएं काफी सजीव हों अर्थात् उनकी आन्तरिक प्रेरणा अभी विद्यमान हो। परंतु हमारे इतिहास की गत शताब्दियां अत्यंत रूढ़ हो चुकी थीं। इनमें समय समय पर संत-महात्मा पैदा हुए। उन्होंने नई प्रेरणा और दृष्टि भी दी, परंतु रूढ़िपरंपराओं का बल इतना व्यापक था कि ये उन्हें शीघ्र ही हड़प कर जातीं और जीवन फिर उस निर्जीव सी दशा में पड़ जाता।

परंतु ऐसा रूढ़िमय जीवन निर्जीव होकर सर्वथा बोझरूप बन जाता है और व्यक्ति उसके प्रति विरोध करने के लिये बाधित अनुभव करने लगते हैं। इसी से व्यक्तिप्रधान युग का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रपात हो जाता है। इसमें व्यक्ति परंपरा और रूढ़ियों को व्यक्तिगत विचार से परखने लगता है, सारा जीवन तीव्र खण्डन का विषय बन जाता है और बेहद उथल-पुथल दिखाई देने लगती है। यह मानव इतिहास में बौद्धिक युग होता है।

परंतु बौद्धिकता अधिक देर तक संतोष नहीं दे पाती और व्यक्ति अपने अंदर गंभीर तथ्य खोजने लगता है। बौद्धिकता अंत में जीवन का बहिर्मुख व्यापार ही तो है। यह जीवन का बाहर से यंत्र के रूप में नियंत्रण और विकास कर सकती है परंतु जीवन के आंतरिक तथ्य इसकी पहुंच से बाहर होते हैं। बौद्धिकता की मानों सीमाएं देखकर ही मानव गंभीरतर तथ्य खोजने लगता है। यह खोज एक नए अनुभव-प्रधान युग की द्योतक होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति आज साहित्य, कला, दर्शनादि में काफी देखने में आ रही है। इस प्रवृत्ति में अनेक दोष भी हो सकते हैं। अपने आंतरिक अनुभव की खोज सुन्दर जिज्ञासा है, परंतु हमारे अंदर जहां आत्मा के अतिचेतन क्षेत्र हैं वहां मन के अवचेतन स्तर भी हैं जो प्राणमय जगत् के राग-द्वेषों तथा इनके विकृत रूपों से भरे पड़े हैं। आज अनुभव के नाम पर मानव अधिकतर खोज रहा है अवचेतन मन को। मनोविश्लेषण तथा अनेक साहित्यिक प्रगतियां इसी वृत्ति को प्रकट करती हैं।

परंतु यह अवस्था है मानवविकास की अंतिम आध्यात्मिक स्थिति की भूमिका। इसी आन्तरिक खोज द्वारा मानव अंत में अपने व्यक्तित्व के केंद्रीय तत्त्व आत्मा को अधिगत करेगा और उससे अनिवार्य रूप में आध्यात्मिक युग का प्रारंभ होगा। मानव के इतिहास में एक विकास है, प्रगति है, खोज है। इसमें अनेक घुमाव-फिराव आते हैं, परंतु समग्र रूप में इसमें एक स्थायी जिज्ञासा दृष्टिगोचर होती है। इस जिज्ञासा की अंतिम तृप्ति जीवन के मौलिक आध्यात्मिक तथ्य को अधिगत करने से ही हो सकती है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमारे जीवन की प्रवृत्तियों का "समाधान बुद्धि में नहीं बल्कि मानव की आत्मा में निहित है. . . आध्यात्मिक, आंतरिक स्वतंत्रता ही एक पूर्ण मानव-व्यवस्था की रचना कर सकती है।" आत्मानुभव के एकत्व से ही सच्चा भ्रातृभाव पैदा होगा, जो मानवसमाज को यथार्थ एकता दे सकेगा।

यदि हम यह अनुभव कर सकें कि मानव विकास की यह परिपूर्णता स्वाभाविक और अनिवार्य है तो हम व्यक्तिगत रूप में उचित दृष्टिकोण अंगीकार करके इस परम लक्ष्य की साधना में सहायक हो सकते हैं। आध्यात्मिक युग के आगमन के लिये 'व्यक्ति' विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि "मानसिक और प्राणिक जीवनक्रम से आध्यात्मिक जीवनक्रम में परिवर्तन पहले, जरूर ही, व्यक्ति में तथा बहुत से व्यक्तियों में साधित होना चाहिये। तभी उसका समाज में कुछ वास्तविक अधिकार स्थापित हो सकेगा। विश्वात्मा मानवता में काम करते हुए व्यक्ति को खोजती है, उसे विकसित करती है तथा उसमें यथार्थ रूप को रचती है। वह प्रगतिशील तथा सर्जनशील व्यक्ति के द्वारा ही जाति की चेतना को नई आत्म-रचना का अवसर तथा लाभ प्रदान करती है।" (पृ० ३०५)

ऐसे व्यक्तियों के हाथ में ही जाति का भविष्य है तथा आज के हमारे सभी प्रश्नों का समाधान है। ऐसे व्यक्ति चाहे जहां पर भी बैठे हुए आध्यात्मिक सत्यों को चरितार्थ करने का यत्न कर रहे हैं वे, वास्तव में, उस समन्वयपूर्ण अनुभव को मूर्तिमान् कर रहे हैं जो देर-सवेर हमारे ध्येयरूपी आध्यात्मिक युग का सूत्रपात करेगा। —इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं

वर्णव्यवस्था का वैदिक रूप—लेखक—श्री ज्ञानचन्द आर्य। प्रकाशक—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली, मूल्य १।।)। स्वाध्यायशील लेखक ने पुस्तक को भरसक उपयोगी बनाने का यत्न किया है। पुस्तक खोजपूर्ण है। वैदिक काल में शूद्र का क्या स्थान था, छूत-अछूत समस्या कैसे उत्पन्न हुई, वर्ण जन्ममूलक है या कर्ममूलक, पृथिवी का प्राचीनतम देश भारतवर्ष है जो आरंभ में जनशून्य था और आदिम आर्य, जो त्रिविष्टप (तिब्बत) में उत्पन्न हुए थे सब से पहले इसी देश में, जो जनशून्य था, आकर बसे और यहां से शेष पृथिवी पर—जैसे जैसे भूमि समुद्र से बाहर आती गई—फैल गये आदि विषयों पर सप्रमाण युक्तियों द्वारा प्रकाश डाला है।

किन्तु त्रिविष्टप शब्द तिब्बत देश का ही प्राचीन नाम है इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है जब कि "विष्टप" शब्द के अर्थ हैं द्युलोक, स्वर्ग। वैदिक साहित्य इतिहास, भूगोल के परे की चर्चा करता है। तब त्रिविष्टप का अर्थ हुआ—"तीन स्वर्ग" जिसका आध्यात्मिक अर्थ हुआ तीन चेतनाओं के तीन लोक जो क्रमशः भूः भुवः स्वः अर्थात् जड़, प्राण व मन की चेतना के तीन लोक हैं। इन्हीं तीन लोकों, तीन चेतनाओं के समुच्चय से मन-प्राण-शरीर को लेकर "मनुष्य" का आविर्भाव हुआ। ये ही चेतना का अपरार्ध, "अपरा प्रकृति" हैं। और ये ही चेतना के निम्न तीन स्तर—त्रिलोकी हैं। ऊपर के चार लोक हैं विज्ञान, सत् चित्, आनन्द जो महः, जनः, तपः, सत्यम् कहलाते हैं और परार्ध में परा प्रकृति हैं। अतः मनुष्य का आविर्भाव त्रिविष्टप, तीन स्वर्गों, तीन लोकों—तीन चेतनाओं—से हुआ जो नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः जड़, प्राण, शरीर हैं। वेद की भाषा आध्यात्मिक, सुनम्य, यौगिक, व आलंकारिक है, रूढ़ नहीं। हो सकता है कालान्तर में आर्यों ने किसी देशविशेष का नाम त्रिविष्टप रख लिया हो और वहां उस देशीय भाव में यह ललित पद रूढ़ार्थ में युक्त कर लिया गया हो। जड़तत्त्व, प्राण व मन की तीन चेतनाओं का समुच्चय 'मनुष्य' सचमुच तीन स्वर्गों, तीन लोकों का समुच्चय ही है क्योंकि शरीर, प्राण व मन के सुख इस मनुष्य में इतने आकर्षक व मादक बने हुए हैं कि वह इन तीन स्वर्गों (मन-प्राण-शरीर के सुखों) से ऊपर उठकर तुर्या में, चतुर्थ महः में जाने की कामना ही नहीं करता और यदि करता भी है तो बरबस इसी निम्न त्रिविष्टप (मन-प्राण-शरीर की त्रिलोकी की चेतना) में खिंचकर आ जाता है।

पुस्तक पठनीय है। छपाई आदि संतोषजनक है। २०० पृष्ठ की इस पुस्तिका में २०० अशुद्धियां राष्ट्रभाषा हिन्दी के इस युग में हिन्दीभाषाभाषी देहली व आर्यभाषा के प्रचारकों के लिये कुछ अधिक हैं।

—वशिष्ठ

नेत्रसुधार—लेखक—डा. आर. एस. अग्रवाल, प्रकाशक—जी. ए. नेल्सन, जी. टी. मद्रास, मूल्य ४)।

डा. अग्रवाल अपने क्षेत्र में सुप्रसिद्ध व्यक्ति हैं। आपकी नेत्र-चिकित्सा-विधि नई ही है। आपके मतानुसार आंखों के बहुत से रोगों की चिकित्सा की जा सकती है और चश्मे से बचा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में आंखों के कार्य, दृष्टिदोष तथा उसके कारण, आंखों का सूर्य-व्यायाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि विषयों पर रोचक विधि से प्रकाश डाला गया है। डा. अग्रवाल के मतानुसार यदि हम ठीक तरह देखना सीख जायं तो आधे दुःख तो इतने से ही दूर हो सकते हैं। बुरी आदतों की वजह से पढ़ते समय, सीने-पिरोने के समय और किसी चीज को एकटक देखकर हम अपनी आंखें बिगाड़ने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। डाक्टरजी ने इन आदतों की ओर ध्यान आकृष्ट करके उनकी जगह देखने की ठीक विधि बतलाई है।

भारतवर्ष में त्राटक पर बहुत जोर दिया जाता था। डाक्टरजी ने नेत्रसुधार के लिये उसका मूल्य बताकर इस प्राचीन वस्तु का अर्वाचीन महत्त्व बतलाया है। इसके अतिरिक्त मायोपिया, हाइपरमेट्रोपिया, मोतियाबिंदु, आंखों का भेंगापन, सिर और नेत्र-पीड़ा आदि के बारे में बहुत उपयोगी बातें और उनको दूर करने के उपाय बताये गये हैं। साधारण चिकित्सा-प्रणाली में रोगी अपने आपको चिकित्सक के हवाले कर देता है और रोग को दूर करने का सारा भार उसपर छोड़ देता है परंतु इस विधि में अधिकतर भार स्वयं उसके ऊपर रहता है। अगर उसके अंदर श्रद्धा होगी और वह हथेली पर आम जमाने की आशा न रखके सचमुच प्रयत्न करने को तैयार होगा तो उसे स्थायी लाभ जरूर प्राप्त होगा।

पुस्तक आवाल-वृद्ध सबके लिये उपयोगी है। बहुत से चित्र और चार्ट देखकर दाम भी कम ही है।

सोंठ–लेखक–रामेश वेदी, आयुर्वेदालंकार, पता–हिमालय हर्बल इंस्टिटयूट, गुरुकुल कांगड़ी। वेदीजी की अन्य पुस्तकों की तरह यह पुस्तक भी अपने विषय के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथों का सार है। इसे लिखने में काफी परिश्रम से काम लिया गया है। छोटे मोटे घरेलू उपचारों के लिये यह पुस्तक बहुत सहायक हो सकती है। परंतु एक साधारण पाठक के मन में यह शंका उठ सकती है कि यदि सिर्फ एक सोंठ की गांठ या प्याज की डली से ही सब रोग दूर हो सकते हैं तो फिर विशद चिकित्सा-शास्त्रों की और अन्य प्रणालियों की आवश्यकता ही क्या। क्योंकि प्रत्येक औषध के बारे में पढ़ते हुए यही लगता है कि मानों यही धन्वन्तरि की सबसे प्रिय वस्तु हो, फिर साधारण आदमी चुने कैसे ?

छपाई-सफाई बहुत अच्छी है। —रवीन्द्र

सर्वोदय, मासिक–संपादक–श्री विनोबा, वर्धा, मध्यप्रांत। वार्षिक मूल्य ८)। यह सर्वोदय समाज का प्रतिनिधि-पत्र है और गांधी-विचारधारा का उत्तराधिकारी है। इसपर श्री विनोबाजी के व्यक्तित्व की छाप निर्णायक रूप में अंकित है और वही इसका ओज और तेज है। गांधीजी के बाद यह स्वाभाविक है कि उनके अनुयायियों में प्रधानतया अनुकरणात्मक भाव मिले, परंतु विनोबाजी में अपूर्व मौलिकता और सर्जनशीलता है। अभी हाल में विश्वशांतिवादियों का स्वागत करते हुए आपने कुछ एक बातें कहीं जो आपकी विचारशीलता के लिये हमारे मन में आदर पैदा करती हैं। आपने कहा कि "परम दयालु ईश्वर, जब हम सरलता से नहीं समझते हैं तो, हमारी बुद्धि को चालना देने के लिये और अहिंसा की ओर हमें वेग से खींच ले जाने के लिये जागतिक युद्ध की प्रेरणा देता है। उससे, छोटे दायरे में सोचनेवाली संकुचित बुद्धि से, मनुष्य का छुटकारा होता है और सारी मानवता के लिहाज से वह सोचने लगता है। यह अहिंसा की ओर बड़ा भारी कदम है।" वहां प्रकरण लोगों को लड़ाई-झगड़े से रोकने का है और आपने फिर कहा कि वे व्रत लेना चाहें तो यह लें कि "अगर लड़ेंगे तो जागतिक लड़ाई लड़ेंगे, छोटी छोटी लड़ाइयां और छोटे छोटे झगड़े हरगिज नहीं करेंगे।" संभव है उनका आशय इसमें यही हो कि छोटे छोटे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झगड़ों में शांतिभाव बनाने से फिर बड़ी लड़ाइयां होंगी ही नहीं। परंतु फिर भी यह विचार-शैली एक उन्मुक्त भावना की द्योतक है तथा किसी अंश में इस विचार को भी अभिव्यक्त करती है कि कई युद्ध मानव विकास के लिये विश्व-आयोजना के रूप में भी हो सकते हैं।

विश्वशांति तथा युद्ध के विषय में हमारा दृष्टिकोण भिन्न है। हमारे विचार में मनुष्य का एकमात्र कर्त्तव्य उत्तरोत्तर निरहंकार होते जाना तथा भागवत इच्छा को जानने का यत्न करना है। भगवान् की दृष्टि में वस्तुओं का जो रूप है वही उनका सच्चा रूप है। इस जिज्ञासा को रखते हुए मानव कर्मों में मन-बुद्धि के सहारे से भी प्रवृत्त होगा पर भागवत प्रेरणा की प्रतीक्षा में उनपर आग्रह नहीं करेगा, न विश्वशांति पर, न युद्ध पर। यहां प्रश्न मौलिक विश्वसत्तासंबंधी वृत्ति का है। वृत्ति युक्त होने से ही बाह्य कर्म योग्य होंगे और अयुक्त होने से अयोग्य। स्थूल कर्मों को, युद्ध के अभाव अथवा युद्ध को वांछनीय या अवांछनीय मानकर विचार करने की शैली को हम अयथार्थ मानते हैं। विश्वशांतिसंबंधी जो स्फुट विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं उनसे हम अधिकांश में सहमत ही हैं परंतु विश्वशांति के आदर्श के स्वरूप तथा उसके लिये योग्य वृत्ति के विषय पर हम भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं।

वैसे आध्यात्मिक दृष्टि से विश्वशांति मानव विकास का अनिवार्य लक्ष्य ठहरती है। परंतु उसकी सिद्धि मानवजाति में आत्मानुभव के विकास की अपेक्षा रखती है। आत्म-भाव में ही शांति है और सर्वहित में निज-हित का साक्षात् दर्शन है। हमारे विचार में आज की हमारी स्थिति में विश्वशांतिसंबंधी सार्थक पुरुषार्थ यह हो सकता है कि जो व्यक्ति इसमें रुचि रखते हों वे अपने अनुभव में व्यापक शांति तथा पूर्ण हित-भाव चरितार्थ करें तथा आदर्श को दृष्टि में रखते हुए ही वर्तमान समय की सामाजिक आयोजनाएं बनावें तथा उनसे भी इसी आदर्श की पूर्ति की आशा रखें।

श्री विनोबाजी भारतीय सांस्कृतिक साहित्य तथा प्रगति के मर्मज्ञ हैं और हम उनकी विचारधारा में जहां सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोणों की विशेषता पाते हैं वहां आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी देखते हैं। एक और प्रकरण में आप कहते हैं कि "अहंकार से किया हुआ संकल्प या तो सफल नहीं होता या अगर सफल होता है तो उस संकल्प का अर्थ ही नीचा गिरा हुआ होता है।" अहंकार को अपने व्यक्तित्व के अंग अंग में निरंतर खोजना तथा उसका अनवरत त्याग करना मानव को आत्म-स्थिति का अधिकारी बनाता है जिससे वह वस्तुओं को यथार्थ रूप में जान पाता है। इस स्थिति की किंचित् भावना भी हमें विचारों के संबंध में रूढ़ और कठोर हो जाने से बचा सकती है।

हम आशा करते हैं कि श्री विनोबाजी के नेतृत्व में गांधी-विचारधारा अपनी सर्जन-शीलता बनाये रखेगी तथा अपना आध्यात्मिक पक्ष विशेष रूप में विकसित करेगी।

ज्ञानोदय (विश्वशांति अंक)–प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ काशी दुर्गाकुंड, बनारस ४। वार्षिक मूल्य ६)।

यह 'श्रमणसंस्कृति का अग्रदूत मासिक' अपने आदर्श और उद्देश्य में "संप्रदाय, जाति, वर्ण, प्रान्त और भाषा आदि की दीवारों को पारकर विशुद्ध मानवता" को उद्बुद्ध करना चाहता है, "व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सहयोगमूलक आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण चाहता है तथा जीवन में श्रम, शम और सम की प्रतिष्ठा बढ़ाकर विश्व-बंधुत्व की दिशा में" कार्य करना चाहता है। ये आदर्श सर्वथा महान् हैं, परंतु जो बात विशेष रूप से अभिनंदनीय है वह यह कि 'ज्ञानोदय' "श्रमणसंस्कृति" का प्रचारक होते हुए इन सार्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भौम आदर्शों को अपने लिये संगत मानता है। वास्तव में, सभी संप्रदाय सामान्य मानव संस्कृति की विशेष विशेष धाराएं हैं और उसे ही समृद्ध करना इनका ध्येय होता है। सभी संप्रदाय मानवता मां के बेटे हैं और सभी को अपनी अपनी कमाई मां को भेंट करनी है। संप्रदायों को एक दूसरे से भयभीत होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। सब अपनी अपनी मौलिक प्रेरणा से अपनी कमाई बढ़ावें और उसे सेवा-भाव में मां को भेंट करें। अपनी भेंट के बारे में दावा और आग्रह करके उसका मूल्य कम न करें। जैसे जैसे हमारे अंदर सामान्य मानव संस्कृति के लिये भावना अधिक सजीव और वास्तविक होती जायगी वैसे वैसे सभी संप्रदाय उसके साथ अपना यथार्थ संबंध अनुभव करने लगेंगे।

प्रस्तुत अंक विश्वशांति विषय पर विशेषांक है। इसकी पाठ्य सामग्री गंभीर एवं रोचक तथा विचारप्रेरक है। हमने इसे ध्यान से देखा और पढ़ा है और अनेक लेखों में विशेष रस अनुभव किया है। सारे अंक के विचार-मंडल की मर्यादा नैतिक तथा सामाजिक है और अपनी शैली में उदार, स्फूर्त्तिदायक और क्रियात्मक है। फिर भी हमें आशंका होती है कि विश्वशांतिवाद कहीं बौद्धिक सिद्धांत न बन जाय। ऐसा होने से वह चाहे बुद्धि के लिये स्पष्ट हो जायगा, परंतु जीवन के लिये कृत्रिम, कठोर और व्यावर्तक हो जायगा। विश्वशांति सर्व-समन्वयात्मक अनुभव के बिना भला कैसे चरितार्थ होगी और यदि हम गंभीरता-पूर्वक विचारें तो हम यह स्वीकार कर सकेंगे कि ऐसा सर्व-समन्वयात्मक अनुभव, स्वभावतः द्वंद्वमय मन के लिये संभव ही नहीं। जैन दर्शन की परिभाषा में अनुभव का यह सर्व-समन्वयात्मक स्तर चरितार्थ ही तब होता है जब व्यक्ति जीव पर चढ़े आवरण दूर करके शुद्ध स्थिति में 'सम्यक् दर्शन' लाभ करता है।

हमारे विचार में विश्वशांति आदर्श-रूप में आत्मानुभव की अपेक्षा रखती है। उसी स्तर पर यह मूर्त्त बनती है। आदर्श का यह वास्तविक रूप हमारे सामने स्पष्ट रहना चाहिये। इससे हमारी विश्वशांति की वर्तमान आयोजनाओं में अधिक सत्यता आ जायगी।

—इन्द्रसेन

श्रीअरविन्द-निकेतन, चरथावल (जिला मुजफ्फरनगर)

हर्ष की बात है कि चरथावल में श्रीअरविन्द-कार्य का एक नया केंद्र स्थापित हो गया है। आचार्य अभयदेवजी ही इसके अध्यक्ष तथा निर्देशक हैं। अपने आश्रम-निवास के समय को छोड़कर आचार्यजी अब सामान्यतया यहीं रहा करेंगे। परंतु यहां रहते हुए कुछ नियत दिनों (प्रत्येक मास के प्रथम शनि तथा रविवार) को देहली बराबर जाया करेंगे और वहां सत्संगियों के लिये कथा तथा वार्तालाप का अवसर बनाए रखेंगे।

४ अप्रैल १९१० के दिन श्रीअरविन्द पांडिचेरी पधारे थे तथा २९ मार्च, १९१४ के दिन माताजी। ये दोनों तिथियां श्रीअरविन्द आश्रम पांडिचेरी के इतिहास की आधारभूत तिथियां हैं। २९ मार्च से ४ अप्रैल तक एक सप्ताह बन जाता है जो श्रीअरविन्द-निकेतन देहली कई साल से विशेष रूप में मनाता आ रहा है। वही सप्ताह इस वार चरथावल में मनाया गया। प्रातःकाल सम्मिलित ध्यान होता, सायंकाल को कथा होती और रात को वार्तालाप। कथा "योग के आधार" की हुई और वार्तालाप प्रभामंडल, दिव्यदर्शन, योग-जिज्ञासा की कहानी, अखण्ड भारत आदि विषयों पर हुआ। उपस्थिति ३०० से ऊपर रही और इसमें देवियां काफी संख्या में थीं। सारे समारोह में प्रभूत शांति का वातावरण रहा। —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। मूल्य २।।)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं—जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २।।)

योगदीक्षा

श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है। मूल्य १)

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८, ४९ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६।।)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १।।)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

सुन्दर कहानियां		प्रकाश की ओर	।।)
कर्मयोगी	२।।)	वेद-रहस्य (सजिल्द), खंड १, २	९), ४)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,,	८), ३)
चार साधन	।।)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२।।)	इस जगत् की पहेली	१।)
विचार और झांकियां	।।।)	जगन्नाथ का रथ	।।।)
दयानन्द	।।।)	श्रीअरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम)	।।)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१।।)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१।।।)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२।)
गीताप्रबन्ध	६।।)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	।।।)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	१)	श्रीअरविन्द और उनका योग	।।=)
योग के आधार	२।)	पूर्णयोग	१।।)

फोन: कार्यालय ८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली

(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

फोन: घर २५१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १।)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३।। शिलिंग वार्षिक १२।। शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

इकतीसवीं कला

१५ अगस्त १९५० के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष्य में

सम्पादक

डा० इन्द्रसेन

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* सूचना *

सार्वजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें, विचारें और अपने अंदर रमने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्त्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखाई देने लगते हैं। यह चमत्कारक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
410—50—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अदिति, अगस्त १९५०

चुने हुए फूल १३२

मातृवचनामृत– . . . .

प्रार्थना व ध्यान १३३

एक नेता १३५

श्रीअरविन्द-वाणी– . . . .

विशेष वचन १४०

ईशोपनिषद्–कर्म और दिव्य संकल्प १४१

श्रीअरविंद के पत्र–ज्योतिर्मय मार्ग १४६

श्रीअरविंद का योग-समन्वय–दिव्य कर्म १४९

अतिमानस और क्रमविकास १५४

विविध– . . . .

आलोक के पथ पर . . . . श्री नलिनीकांत गुप्त . . १६१

अध्यात्मजिज्ञासा और पश्चिम . . . . . . श्री जेरल्ड हर्ड . . १६२

भारत के गुह्यविद् और दार्शनिक श्रीअरविंद डा. जुआं मारिन . . १६६

सद्हृदयता १६८

हृत्पुरुष की पांच किरणें . . . . . श्री रघुवीरशरण . . . १७०

श्रीअरविंद क्या कर रहे हैं? . . . . . श्री किशोर गांधी . . १७२

क्या 'मीरा' से आज भी सजीव संबंध हो सकता है? डा. इन्द्रसेन . . . १७४

"मौनं व्याख्यानम्" . . . . श्री अभय . . . १७७

श्रीअरविंद के प्रति (संकलन) १७९

कविता-कुंज– . . . .

स्तवन . . . . श्री कुंजविहारी . . . १८३

मां . . . . श्री रामेश्वर गुप्त . . . १८४

श्री मां के प्रति . . . . श्री कृष्णराज गुप्त . . . १८५

संपादकीय (विचार और अभीप्सा)– . . . . डा. इन्द्रसेन. . . . .

१५ अगस्त की पुनरावृत्ति १८६

बम्बई-प्रांतीय शारीरिक शिक्षण-समारोह १८८

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं १९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

यह बात बराबर ही अधिक अच्छी है कि प्रवचनों को, विशेषकर तथाकथित आध्यात्मिक विषयों पर दियें गये प्रवचनों को न सुना जाय। प्रत्येक आदमी को बस अपने ही पथ का अनुसरण करना चाहिये। उसके साथ दूसरों का कोई संबंध नहीं है।

★

सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम किस मनोभाव से कर्म करते हो। अगर कर्म शुद्ध मनोभाव से किया जाय तो वह निश्चय ही तुम्हें मेरे अधिक समीप ले आयगा।

★

सच्चे भाव से किया हुआ कर्म ध्यान ही है।

★

कर्म के विषय में बहुत अधिक परेशान मत होओ; तुम जितनी ही अधिक अचंचलता और शांति के साथ इसे करोगे उतना ही अधिक यह फलदायक होगा।

★

साधारण नियम के रूप में यह बराबर ही अधिक अच्छा है कि जो चीजें हमारे अपने कार्य के दायरे के भीतर न हों, उनमें कोई हस्तक्षेप न किया जाय।

★

कर्म में जो कठिनाइयां आती हैं वे परिस्थितियों से या बाहरी तुच्छ घटनाओं से नहीं आतीं, बल्कि वे आंतरिक भाव (विशेषकर प्राणगत भाव) की किसी चीज से आती हैं जो भाव कि अनुचित होता है—जैसे अहंकार, महत्त्वाकांक्षा, कर्म के विषय में मानसिक धारणाओं की कठोरता इत्यादि इत्यादि। यह बराबर ही कहीं उत्तम है कि असामंजस्य—बेमेलपन को दूर करने के लिये उसके कारण को दूसरे या दूसरों के भीतर खोजने की अपेक्षा स्वयं अपने भीतर खोजा जाय।

★

हां, जो हो, इस पृथ्वी पर जिस कार्य को हमें सिद्ध करना है उसकी तुलना में इन सब तुच्छ बाहरी चीजों का बहुत कम महत्त्व है।

★

साधक को भोजन अपनी शारीरिक क्षुधा की पूर्त्ति के लिये करना चाहिये, अपने लोभ की मांगों के कारण नहीं।

★

शरीर की वर्तमान अवस्था में निद्रा अनिवार्य है। अगर हम धीरे-धीरे अपनी अवचेतना पर अधिकार स्थापित कर लें तो हम अपनी निद्रा को अधिकाधिक सचेतन बना सकते हैं।

★

अगर तुम अपने श्रद्धा-विश्वास को अचल-अटल बनाये रखो और अपने हृदय को सर्वदा मेरी ओर खोले रखो तो सभी कठिनाइयां, चाहे वे कितनी ही बड़ी क्यों न हों, तुम्हारी सत्ता की महत्तर पूर्णता को सिद्ध करने में सहायता पहुंचायेंगी।

—श्री माताजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

मातृवचनामृत–

प्रार्थना व ध्यान

क्या यह बाह्य जीवन, प्रतिदिन और प्रतिक्षण का कर्म, चिंतन और ध्यान की घड़ियों का अनिवार्य पूरक नहीं है? फिर क्या जो समय एक में अथवा जो दूसरे में लगता है उनका आपसी अनुपात तैयारी तथा उपलब्धि के प्रयासों के अनुपात का प्रतिरूप नहीं? क्योंकि ध्यान-चिंतन-मिलन, यह परिणाम है, यह खिला हुआ फूल है। इसके विपरीत दैनिक कर्म-व्यवहार अहरन है, जिस पर सब तत्त्वों को आना-जाना होता है ताकि वे नरम, शुद्ध और सूक्ष्म होकर उद्भासन के लिये परिपक्व हो जायं। तब बेशक चिंतन ही उन्हें यह उद्भासन प्रदान करता है। परंतु, जब तक बाह्य जीवन सर्वांगीण विकास के लिये अनावश्यक नहीं हो जाता, यह जरूरी है कि ये सब तत्त्व बारी बारी से इस प्रकार तपती कड़ाही में से गुजरा करें। उस समय यह कर्म-व्यवहार तुझे अभिव्यक्त करने का साधन बन जायगा, चेतना के दूसरे केंद्रों को उसी गलाने और उद्भासित करने के द्विविध कार्य के प्रति जागृत करने के लिये। तभी तो अभिमान और अहंतुष्टि सबसे बड़े विघ्न हैं। बहुत ही नम्रता से हमें सब छोटे छोटे अवसरों का लाभ उठाना चाहिये और इन अनगिनत तत्त्वों में से कुछ को गूंधकर शुद्ध करना चाहिये, निर्वैयक्तिक बनाना चाहिये तथा उन्हें आत्म-विस्मृति, त्याग, भक्ति, सद्भाव और कोमलता का पाठ पढ़ाना चाहिये। और जब ये गुण सामान्य अभ्यास बन जायंगे तब ये चिंतन में सम्मिलित होने के लिये तथा परम एकाग्रता में तेरे साथ एकात्म होने के लिये तैयार हो जायंगे। मैं समझती हूं, इसी कारण यह कार्य, उच्चकोटि के साधकों के लिये भी, लंबा और धीमा होना अनिवार्य है तथा आरंभिक आकस्मिक रूपांतर सर्वांगीण नहीं हो सकते। ये व्यक्ति के दृष्टिकोण को बदल देते हैं, उसे निश्चित रूप में सीधे रास्ते पर डाल देते हैं, परंतु लक्ष्य को वास्तविक रूप में प्राप्त करने के लिये कोई इन अनगिनत अनुभवों को छोड़ नहीं सकता, इन सब प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा हर क्षण के अनुभवों को।

.....हे परम गुरु, तू ही मुझमें तथा सब वस्तुओं में उद्भासित हो रहा है। ऐसा कर कि तेरा प्रकाश प्रकट हो तथा तेरी शांति का राज्य सबके लिये स्थापित हो।

२८ नवंबर, १९१२

*

हे भगवान्, कृतज्ञता में मेरी सत्तामात्र तुझे "धन्य धन्य" कहती है। इसलिये नहीं कि तू अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिये इस दुर्बल तथा अपूर्ण शरीर को उपयोग में ला रहा है बल्कि इसलिये कि तू अपने आपको अभिव्यक्त तो कर रहा है। यह, वास्तव में वैभवों का वैभव है, आनंदों का आनंद और आश्चर्यों का आश्चर्य। तेरे सब उत्कट जिज्ञासुओं को यह पता होना चाहिये कि जहां तेरे प्रकट होने की आवश्यकता होती है तू बराबर प्रकट होता है। यदि वे इस चरम श्रद्धा में तुझे ढूंढ़ने की अपेक्षा हर क्षण अपने आपको समग्र रूप में तेरी सेवा में अर्पण करके प्रतीक्षा करना अंगीकार कर सकें तो, निश्चय ही, जब आवश्यकता होगी तू प्रकट हो जायगा। और, वास्तव में, अभिव्यक्ति के रूप चाहे कितने भी विभिन्न तथा प्रायः अप्रत्याशित क्यों न हों, क्या हमेशा ही तेरे अभिव्यक्त होने की आवश्यकता नहीं है!

प्रभु तेरी महिमा अब उद्घोषित हो जाय,
मानव जीवन उससे पवित्र बन जाय,
हमारे हृदय रूपांतरित हो जायं,
तेरी शांति का राज्य पृथ्वी पर स्थापित हो जाय।

१०–२–१३

*

हे प्रभु, पूजा की धूपबत्ती सदा जला करे और उसका पवित्र सुगंधित धुंआ अधिकाधिक ऊंचा तथा सीधा उठा करे, ऐसे जैसे कि हमारी आंतरिक पूर्ण सत्ता से तुझे मिलने तथा अभिव्यक्त करने के लिये प्रार्थना अनवरत उठा करती है।

१३–३–१३

*

जो एकांत और नीरवता में पूर्ण ध्यानावस्था को भी प्राप्त कर लेते हैं वे अपने आपको शरीर से अलग करके मानों उससे तोड़कर ही यह करते हैं। फलतः वह तत्त्व जिसका यह शरीर बना हुआ है वैसे का वैसा अपवित्र तथा अपूर्ण बना रहता है जैसे कि वह पहले था, क्योंकि इसे तो वे अलग ही छोड़ देते हैं। वे एक अशुद्ध गुह्यवाद से प्रेरित होकर अतिभौतिक आकर्षणों के प्रलोभन से तथा व्यक्तिगत संतोष के लिये तुझे पाने की अहंमूलक इच्छा से अपने पार्थिव जीवन के मूल कारण की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं, वे जड़तत्त्व के उद्धार तथा पवित्रीकरण के अपने उद्देश्य को पूरा करने से कायरता के भाव में मुंह मोड़ लेते हैं।

यह जानना कि हमारी सत्ता का एक भाग पूर्णतया पवित्र है, इस सार-अंश से आंतरिक संबंध स्थापित करना तथा उससे एकत्व प्राप्त करना, तभी उपयोगी हो सकते हैं जब कि मनुष्य पीछे यह ज्ञान पार्थिव रूपांतर को द्रुततर वेग देने तथा भगवान् के कार्य को पूरा करने में काम में लावे।

१५–६–१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक नेता

(रूस की १९१७ की सफल क्रांति सर्वविदित है। उससे पहले १९०७ में भी वहां एक क्रांतिकारी प्रयास हुआ था जो विफल हो गया था। उसी के एक ओजस्वी नेता का यहां उल्लेख है। –सं०)

जनवरी १९०७ की बात है। रूस का क्रांतिकारी आंदोलन हाल ही में घोर मारकाट द्वारा दबाया जा चुका था।

एक बार मैं और मेरे कुछ मित्र एक गोष्ठी के रूप में कुछ दार्शनिक विचार-विनिमय के लिये इकट्ठे बैठे हुए थे कि हमें समाचार मिला कि कोई रहस्यमय व्यक्ति वहां उपस्थित है और हमसे मिलना चाहता है।

हम उससे मिलने के लिये बाहर आये। और हमने उसे डचोढ़ी में बैठे देखा। उसके कपड़े साफ सुथरे पर पुराने थे। दोनों बांहें पार्श्वों के साथ सटी हुई थीं। पीला मुख कठोरता से पृथ्वी की ओर झुका था जो उसके काले टोप से आधा ढका हुआ था–खदेड़े हुए जानवर का सा रूप था उसका।

जैसे ही हम उसके समीप पहुंचे उसने अपना टोप उतारा और सिर उठाकर हमपर एक द्रुत पर निष्कपट दृष्टि डाली। डचोढ़ी के धुंधले प्रकाश में उसकी रूप-रेखा कठिनाई से चीन्ही जाती थी। सारा मुख मोम का सा प्रतीत होता था। हां, जो खूब स्पष्ट था वह था उसके मुख पर का उदास भाव।

चुप्पी अखरने लगी थी। बात शुरू करने के लिये मैंने उससे पूछा: "आप क्या चाहते हैं, महाशय ?"

"मैं आपसे मिलने के लिये किएव (Kief) से यहां आया हूं।" उसकी आवाज थकी हुई, गंभीर और जरा सहमी हुई तथा लहजा हलका सा स्लाव जाति का था।

किएव से, हमसे मिलने के लिये ! बात साधारण न थी। हमें आश्चर्य हुआ हमारी चुप्पी में उसने संदेह की छाया देखी और कुछ संकोच के साथ धीमी आवाज में वह बोला:

"हां, किएव में कुछ विद्यार्थी हैं जिन्हें उच्च दार्शनिक विचारों में अत्यंत रुचि है। आपकी पुस्तकें हमारे हाथ लगीं और हमको अंत में ऐसी समन्वयात्मक शिक्षा पाकर अत्यंत प्रसन्नता हुई जो केवल विचार तक ही सीमित नहीं बल्कि कर्म को भी समाविष्ट करती है। तब मेरे साथियों, मेरे मित्रों ने मुझसे कहा–'जो काम हम करना चाहते हैं उसके विषय में उनकी सम्मति प्राप्त करने के लिये उनके पास जाओ।' मेरे आने का यही उद्देश्य है।"

जिस भाषा में उसने यह कहा वह सुन्दर न सही, पर थी शुद्ध। संभव है कि वह व्यावहारिक दृष्टि से कुछ छिपा रहा हो पर यह हम स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि कम से कम जो उसने कहा है, वह है सत्य।

हम उसे अंदर ले आये और बैठक में बिठा दिया। अब हमने उसे पूर्ण प्रकाश में देखा। ओह ! वह दीन और कष्टों से आक्रांत मुख अधिक जागने या फिर धूप और हवा से दूर रहने के कारण पीतवर्ण हो गया था। अधिक चिंता से उसपर झुर्रियां पड़ गई थीं। पर साथ ही वह एक सुन्दर बौद्धिक प्रकाश से जगमगा रहा था। यह प्रकाश उसके माथे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चारों ओर था और उसकी आंखों में ज्योति उत्पन्न कर रहा था–वे पीली और उदास आंखें निरंतर कार्य या फिर आंसुओं से रक्तवर्ण हो उठी थीं.....

हम कुछ विचलित से भाव में मौन बैठे रहे। पर कुछ देर बाद यह जानने के लिये कि वह हमसे चाहता क्या है हमने उससे पूछा : "अपने देश में तुम्हारा व्यवसाय क्या है?" उसने अपने आपको एकाग्र किया फिर मानों किसी बात का संकल्प करता हुआ धीरे धीरे बोला : "मेरा व्यवसाय क्रांति है।"

यह उत्तर उस शहरी वैभवशाली कमरे में मृत्यु की घंटी के समान गूंज उठा।

फिर भी अपने मनोभाव को बिना प्रकट किये और उसकी इस साहससूचक सच्चाई के प्रति प्रशंसात्मक भाव रखते हुए हमने उत्तर दिया : "क्या तुम हमें बताओगे कि हम तुम्हारी क्या सेवा कर सकते हैं?"

क्योंकि हमारा भाव उसकी ओर अब भी वैसा ही रहा, इससे उसे आश्वासन मिला और उसने अपनी कथा आरंभ की :–

"रूस में आजकल जो कुछ हो रहा है उससे तो आप परिचित हैं ही, इसलिये मैं उसके बारे में कुछ नहीं कहूंगा। पर कदाचित् आप यह नहीं जानते होंगे कि इस क्रांतिकारी गति में कुछ व्यक्तियों की एक छोटी सी टोली है जो अपने आपको विद्यार्थी कहते हैं। मैं उन्हीं में से एक हूं। समान निश्चयों पर पहुंचने के लिये हम समय समय पर एकत्र होते हैं पर अधिकतर तो हम बिखरे ही रहते हैं, न केवल इसलिये कि हमारी ओर किसी का ध्यान आकर्षित न हो वरन् इसलिये भी कि हम कार्य को स्वयं तथा अवसर आने पर इकट्ठे होकर चला सकें। मैं उनको संबंधित करनेवाला सूत्र हूं। जब उन्हें किसी विषय पर विचार-विनिमय करना होता है तो वे मेरे स्थान पर एकत्र होते हैं।

बहुत समय तक हमने खुलकर, जोर जबर्दस्ती से लड़ाई की है। हम आशा करते थे कि आतंक द्वारा हम विजय प्राप्त करेंगे। न्याय, स्वतंत्रता और प्रेम के पक्ष को विजय दिलाने की उत्कट और तीव्र इच्छा में हमें सब साधन उचित दिखाई देते थे। मैं मनुष्य-जाति के दुःखों को दूर करने के लिये अपनी आत्मा में प्रेम और दया का भंडार अनुभव करता हूं। मैंने डाक्टरी भी सीखी थी केवल इसलिये कि मैं मानव की व्याधियों के साथ संघर्ष कर सकूं तथा उसके दुःख-दर्द को कम कर सकूं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मैंने कैसे, दुःखजनक परिस्थितियों से बाधित होकर, घोरतम रक्तपात के निश्चय किये। है न यह आश्चर्यजनक? और यह तो कोई विश्वास नहीं करेगा कि इसमें मैंने कितना दुःख झेला है, परंतु है यह सत्य। वास्तव में दूसरों ने मुझे आगे धकेला, प्रबल युक्तियों से अभिभूत कर दिया और कई बार मुझे विश्वास कराने में भी वे सफल हो गये।

फिर भी, कार्य के उग्र वेग के समय भी मैं जानता था कि करने को इससे अधिक अच्छा कुछ और भी है, कि हमारे उपाय श्रेष्ठ नहीं हैं और यह कि हम अपनी उत्तम शक्ति निरर्थक गंवा रहे हैं। मैं यह भी जानता था कि उस अंधे जोश के होते हुए भी, जो कि हमें अनुप्राणित कर रहा था, हम पराजित हो सकते हैं।

हमारा पतन अब आ गया है। हम खड़ी फसल की तरह काट डाले गये हैं। दुर्भाग्य ने हमें एकत्र होने, विचार करने के लिये विवश कर दिया है। हमने अपने योग्यतम साथियों को खो दिया है। हममेंसे सबसे अधिक बुद्धिमान् और योग्य व्यक्तियों ने, जो हमें आगे चलाते तथा हमारा पथ-प्रदर्शन करते थे, निव सन और मृत्यु-दंड द्वारा अपने साहसिक आत्मसमर्पण का मूल्य चुकाया है। हमारे साथियों में भय और घबराहट का साम्राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छा गया है और अंत में मेरे विचार और भाव उनकी समझ में आ गये हैं।

हम शारीरिक शक्ति द्वारा टक्कर लेने के लिये काफी बलशाली नहीं हैं, क्योंकि हम-में न तो काफी एकता है और न ही संगठन। प्रकृति के गहन नियमों को भले प्रकार समझने, नियमानुसार काम करने का अभ्यास डालने और अपने प्रयत्नों को संगठित करने के लिये हमें अपनी बुद्धि को उन्नत करना चाहिये। जो हमारे आसपास रहते हैं उनको हमें विचार करना सिखाना चाहिये--अपने आप विचार करना, जिससे वे जिस लक्ष्य पर हमें पहुंचना है उसे भले प्रकार समझ सकें तथा हमारे लिये सफल सहायता सिद्ध हों न कि बाधा जैसा कि प्रायः वे इस समय हैं।

मैंने उनको कह दिया है कि किसी जाति को स्वतंत्रता प्राप्त करने से पहले उसे उसका अधिकारी बनना चाहिये; उसके योग्य बनने, उसका आनंद भोगने की उसमें क्षमता होनी चाहिये। रूस में ऐसी बात नहीं है। जनसमुदाय को शिक्षा देने, उन्हें जड़ता में से खींच निकालने के लिये हमें बहुत कुछ करना पड़ेगा। जितनी जल्दी हम इस काम में लग जायंगे उतनी जल्दी हम नवीन कार्य के लिये तैयार हो पायंगे।

इन बातों को अपने मित्रों को समझाने में मैं सफल हुआ हूं। उन्होंने मुझपर विश्वास किया है और अब हम इस बात के अध्ययन में लग गये हैं। इस प्रकार हमें आपकी पुस्तकें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ, और अब मैं आपके पास आया हूं और आपसे सहायता चाहता हूं कि आपके विचार हमारी वास्तविक अवस्था में कैसे घटाये जा सकते हैं। आपकी सहायता मैं एक कार्यक्रम बनाने तथा एक पुस्तिका लिखने में भी चाहता हूं जो व्यक्तियों में ऐक्य, सामंजस्य, न्याय और स्वतंत्रता के उच्च विचार फैलाने के लिये संग्राम का एक नया शस्त्र बन सके।"

वह क्षणभर विचारमग्न रहा, फिर अधिक धीमी आवाज में आगे बोला:

"पर मैं कभी कभी अपने से प्रश्न करता हूं कि यह मेरा दार्शनिक स्वप्न कहीं आदर्शमात्र तो नहीं है, कहीं मैं अपने भाइयों को इस मार्ग पर लाकर गलती तो नहीं कर रहा हूं, कहीं यह कायरता तो नहीं है; संक्षेप में क्या यही अधिक अच्छा तो नहीं होगा कि हम अंत तक अत्याचार का सामना अत्याचार से, विनाश का विनाश से और संहार का संहार से करें।"

"तुम्हारे जैसे पक्ष को विजय दिलाने के लिये जोर-जबर्दस्ती कभी भी अच्छा साधन नहीं हो सकती। न्याय को अन्याय द्वारा, मेल को घृणा द्वारा प्राप्त करने की आशा तुम कैसे कर सकते हो?"

"मैं यह जानता हूं। हम सबका लगभग यही विचार है। ऐसे कार्यों से जिनमें रक्त बहाना पड़े, कम से कम मुझे तो विशेष घृणा है, ये मुझे दहला देते हैं। एक एक आदमी जब हमारी बलिवेदी पर चढ़ता है, मैं एक तीव्र पश्चात्ताप से भर जाता हूं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हम केवल इसी कारण अपने लक्ष्य से दूर हो रहे हैं।

पर जब व्यक्ति घटनाओं द्वारा विवश किया जाय, जब वह अपने आपको उन विरोधियों के बीच में पाय जो हमको कुचल देने की आशा में सामूहिक हत्या करने में भी संकोच नहीं करते, तो आप ही बताइये कि वह क्या करे। पर इसमें वे कभी सफल नहीं होंगे। एक एक करके हम सभी मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं, पर जो पवित्र कार्य हमने अपने कंधों पर लिया है उससे हम कभी पीछे नहीं हटेंगे, जिस उच्च आदर्श का पालन करने के लिये अपने आत्मा को साक्षी बनाकर हमने शपथ ली है उसके साथ हम अपने अंतिम श्वास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कभी विश्वासघात नहीं करेंगे।"

ये शब्द एक दुःखभरे निश्चय के साथ कहे गये थे। उसी समय उस अज्ञात वीर के मुख पर एक ऐसा उदार रहस्यवादी भाव लक्षित हो उठा कि यदि मुझे उसके सिर पर कभी शहीदों का कांटेदार ताज देखना पड़े तो जरा आश्चर्य नहीं होगा।

उत्तर में मैंने उससे कहा: "तुमने हमें प्रारंभ में ही कहा था कि तुम्हें यह स्वीकार करना पड़ रहा है कि इस खुले संघर्ष में, इन जान पर खेलनेवालों की लड़ाई में वीरता के विशाल भाव में कमी नहीं। यह बहादुरी मूर्खतापूर्ण तथा निरुपयोगी है। कुछ समय के लिये तुम्हें पीछे हट जाना चाहिये। मौन भाव में अपने आपको तैयार करना चाहिये। अपनी शक्तियों को इकट्ठा करो, संगठित हो जाओ, अधिकाधिक एकीकृत हो जाओ ताकि अनुकूल समय आने पर संगठन करनेवाली बुद्धि के सर्वसमर्थ बल से, जो कि हिंसा की तरह पराजित नहीं की जा सकती, विजय पा सको।

अपने विरोधियों के हाथ में और अधिक शस्त्र मत दो, उनके सामने पूर्ण रूप से दोष-रहित हो जाओ और साहसपूर्ण सहनशीलता, सच्चाई और न्याय का उदाहरण रखो। तब तुम्हारी विजय निकट आती जायगी क्योंकि सत्य तुम्हारे पक्ष में होगा–यह पूर्ण सत्य न केवल लक्ष्य में वरन् उसकी प्राप्ति के साधनों में भी होगा।"

वह मेरी बात बड़े ध्यानपूर्वक सुन रहा था, बीच बीच में स्वीकृतिसूचक सिर भी हिलाता जा रहा था। कुछ देर की भावपूर्ण चुप्पी के बाद, जब कि उसके चारों ओर हमें खिन्न आशाएं तथा विद्रोह में भाग लेनेवाले उसके साथियों की तीव्र अभिलाषाएं मंडराती हुई अनुभव हो रही थीं, वह मेरी ओर मुड़कर बोला:

"श्रीमतीजी, मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि एक स्त्री भी ऐसे विषयों पर अपना अधिकार रखती है। स्त्रियां भले दिन शीघ्र लाने के लिये बहुत कुछ कर सकती हैं। रूस में भी इन्होंने हमें अपनी अमूल्य सेवाएं प्रदान की हैं। इनके बिना हममें इतनी वीरता, इतनी शक्ति और इतनी सहनशीलता आ ही नहीं सकती थी। ये हमारे बीच में एक शहर से दूसरे शहर को, एक दल से दूसरे दल में जाकर सबको आपस में मिलातीं, निराश व्यक्तियों को साहस बंधातीं, गिरे हुओं को उठातीं, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करतीं, अपने अंदर अपने साथ एक आशा, एक विश्वास और अथक उत्साह लिये घूमती फिरती थीं।

मोमबत्ती के धुंधले प्रकाश में रातों जागकर लिखने के फलस्वरूप जब मेरी आंखें दुखने आ गईं तो एक स्त्री ही मेरे काम में मुझे सहायता देने के लिये आगे बढ़ी। दिन में मैं केवल ऐसा काम ही कर सकता था जिससे मुझपर किसीको संदेह न हो। केवल रात में ही हम अपनी योजनाएं बना सकते थे। अपने सिद्धांतों को पुस्तिका रूप में लिखना, उसकी कई प्रतिलिपियां तैयार करना, सूचियां बनाना आदि इस प्रकार के काम भी मैं केवल रात में ही कर सकता था। धीरे धीरे मेरी आंखों की ज्योति क्षीण होती गई; अब मैं बड़ी कठिनाई से देख सकता हूं। तब इस कार्य के प्रति श्रद्धा होने के कारण उस युवती ने मेरी लेखिका बनना स्वीकार कर लिया। जितनी देर भी मैं उसे लिखाता वह बिना जरा भी आलस्य और थकावट माने लिखती।" उस नम्र श्रद्धा और त्याग के प्रतीक का विचार आते ही उसके मुख का भाव कोमल हो उठा।

"वह मेरे साथ पेरिस आई है और हम रोज रात को इकट्ठे काम करते हैं। यह उसी की कृपा का फल होगा कि जिस पुस्तिका के बारे में मैंने अभी जिक्र किया है वह मैं अब लिख सकूंगा। आप जानती ही हैं कि मेरे जैसे जोखिमवाले आदमी के साथ फिरना कितने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहस का काम है। अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये मुझे सर्वत्र चोर-डाकू की तरह छिपना पड़ता है।"

"पेरिस में तो कम से कम तुम सुरक्षित हो न?"

"हां भी और नहीं भी। मुझे पता नहीं क्यों ये लोग हमसे डरते हैं, हमें भयंकर राज-विद्रोहियों के रूप में देखते हैं, हमारी चौकसी करते हैं, हमपर करीब करीब उतनी ही जासूसी करते हैं जितनी हमारे देश में हमपर की जाती थी। क्या कोई यह सोच सकता है कि जिनका लक्ष्य ही—अपना रक्त बहाकर भी—न्याय को विजय दिलाना है, क्या उनमें भी किसी देश के लिये कृतज्ञता का इतना अभाव हो सकता है और फिर फ्रांस जैसे देश के लिये जिसने सदा ही दुर्बलों की रक्षा की है और न्याय का पक्ष लिया है? वे एक ऐसे शहर की शांति किस मतलब के लिये भंग करेंगे जो उनके अत्यंत दुःखमय दिनों में उनका आश्रय-स्थल बन गया है?"

"तो तुम्हारा कुछ समय यहां ठहरने का विचार है?"

"हां, उतने समय के लिये जितना मेरे लिये संभव हुआ, जब तक वहां मेरे भाइयों को मेरी आवश्यकता नहीं पड़ी और जब तक युद्ध के आवश्यक साधन इकट्ठे करके उन-की यहां सेवा कर सकूंगा। परंतु अब के यह युद्ध उतना ही शांति और विचारपूर्वक किया जायगा जितना कि हमसे संभव हो सकेगा।"

"तुम हमसे फिर मिलने के लिये आओगे न? क्यों? अपनी पुस्तिका के सारे प्रस्ताव और आयोजनाएं भी साथ लेते आना। हम उन सबके बारे में जरा अधिक विस्तारपूर्वक बातचीत करेंगे।"

"हां, मैं आऊंगा। ज्योंही मेरा यह काम शुरू हो गया और फिर जल्दी से जल्दी मैं आऊंगा। मुझे आपसे मिलकर तथा बातचीत करके बड़ी प्रसन्नता होगी। बिदा लेते हुए उसने अपने हाथों में हमारे हाथों को विशेष उत्साहपूर्वक दबाया और अपनी करुण और उदास आंखों से, जो आशा और विश्वास से परिपूर्ण थीं, हमारी ओर देखा।"

हम उसके साथ द्वार तक आये; वहां उसने दुबारा हमारे साथ प्रेमपूर्वक हाथ मिलाया और फिर वह गंभीर वाणी में बोला:

"उन लोगों से मिलना बड़ा भला लगता है जो हमपर विश्वास करते हैं, जिनका अपना आदर्श भी हमारे समान न्याय ही है और जो हमको इस कारण से दोषी या पागल नहीं समझते क्योंकि हम उस आदर्श को प्राप्त करना चाहते हैं। अच्छा, बिदा....."

पर वह फिर कभी नहीं आया।

उसने जल्दी में एक आध लाइन लिखकर क्षमा मांग ली। उसपर बहुत अधिक चौकसी होने लगी, संदेह किये गये, पीछा किया गया। कई बार निवासस्थान बदलने के बाद उस सहृदय और सच्चे आदमी को अपने देश लौटना पड़ा—ऐसे देश में जहां शायद दुःखद अंत उसकी प्रतीक्षा कर रहा था....।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्दवाणी–

विशेष वचन

योग और रोग

श्रीरामकृष्ण (या और कोई योगी) अपनी समाधियों के कारण बीमार पड़े–ऐसा मैं नहीं मानता। यह सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि श्रीरामकृष्ण समाधि के बाद कभी इस प्रकार रोग से पीड़ित हुए। मेरे विचार में उनके बारे में कहीं यह बात जरूर आई है या स्वयं उन्हीं ने यह कहा था कि मेरे गले में नासूर इसलिये हुआ है कि मैं अपने शिष्यों और अपने पास आनेवाले लोगों के पापों को निगल गया हूं। उनकी मृत्यु इसी नासूर के कारण ही हुई। पापों को निगलने की बात संभव हो या न हो, पर यह उनकी अपनी निराली अवस्था हो सकती है। निःसंदेह, दूसरों के रोगों को अपने ऊपर ले आना तथा उन्हें स्वेच्छापूर्वक भी ले लेना संभव है। यूनानी राजा ऐन्टीगोनस और उसके पुत्र डिमित्रिअस का उदाहरण इस विषय का प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान है। योगी भी कभी कभी ऐसा करते हैं, अथवा विरोधी शक्तियां भी योगी को रोगों से आक्रांत कर सकती हैं, वे उसके आसपास के लोगों को द्वार या मार्ग बनाती हैं या लोगों की असदिच्छाओं की शक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त करती हैं। परंतु ऐसी अवस्थाएं निःसंदेह योगी की साधना से संबद्ध विशेष अवस्थाएं होती हैं और इनसे अपरिवर्तनीय नियम के रूप में किसी सामान्य सिद्धांत की स्थापना नहीं की जा सकती। 'क्ष' व्यक्ति की प्रवृत्ति यह है कि वह मृत्यु को छुटकारा समझकर उसकी कामना या स्वागत करता या उसे शिरोधार्य करता है। उसकी ऐसी प्रवृत्ति में एक विशेष बल हो सकता है क्योंकि उसकी आध्यात्मिक चेतना उन्नत है; परंतु यदि साधारण लोगों में ऐसी प्रवृत्ति हो तो उसमें वैसा बल नहीं होगा। दूसरी ओर, यौगिक चेतना का इससे विपरीत उपयोग और परिणाम भी हो सकता है। मनुष्य अपने शरीर से रोग को हटा सकता या अच्छा कर सकता है, पुराने या बद्धमूल रोगों और चिरप्रतिष्ठित शारीरिक दोषों को भी मिटा सकता या बाहर निकाल सकता है, यहां तक कि पूर्वनियत मृत्यु को भी दीर्घकाल के लिये टाल सकता है। कलकत्ते के एक दैवज्ञ, नारायण ज्योतिषी, नें बहुत पहले, जब कि अभी मेरा नाम राजनीतिक क्षेत्र में प्रसिद्ध नहीं हुआ था, मुझसे परिचय न होते हुए भी, मेरे विषय में भविष्यवाणी की थी कि मैं म्लेच्छ शत्रुओं के साथ संघर्ष करूंगा और फिर मुझपर तीन अभियोग चलाये जायंगे और उन तीनों में मैं छूट जाऊंगा। उन्होंने यह भी बताया था कि चाहे मेरी जन्मपत्री के अनुसार ६३ वर्ष की आयु में मेरी मृत्यु होनी निश्चित है, फिर भी मैं योगशक्ति से बहुत दीर्घकाल के लिये अपनी आयु बढ़ाकर पूर्ण पुरुषायुष प्राप्त करूंगा। सचमुच ही मैं योगबल से उन अनेक जीर्ण रोगों से मुक्त हो गया हूं जिन्होंने मेरे शरीर में घर कर लिया था। परंतु इनमेंसे किसी दृष्टांत को लेकर अनुकूल अथवा प्रतिकूल कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। ऐसे दृष्टांतों की सापेक्षता को निरपेक्ष सत्यों में बदलने की मानव-बुद्धि की प्रवृत्ति यथार्थ नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईशोपनिषद् . . चौथी विचारधारा (ख)

(१०) . . कर्म और दिव्य संकल्प

(मंत्र १७, १८)*

कर्म का पार्श्व

तो हम सूर्य द्वारा, मन के अंदर प्रकाश की ऐसी उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा जिससे कि अंत में मन अपने आपसे परे पहुंचने में समर्थ हो जाता है, मृत्यु से अमरता की ओर प्रगति के प्रथम तत्त्व को पाते हैं। यह सूर्य के द्वारा, सूर्य के द्वार से, ('सूर्यद्वारेण'—मुण्डकोपनिषद् १-२-११) होता है कि व्यक्ति अर्थात् परिमित चेतना एक के अंदर, परम तथा सर्वव्यापक आत्मा के अंदर पूर्ण चेतना तथा जीवन को प्राप्त करती है।

चेतना और जीवन दोनों ही अमरता के सूत्र में समाविष्ट हैं; ज्ञान कर्म के बिना अधूरा है। 'चित्' अपने आपको 'तपः' के द्वारा चरितार्थ करता है, चेतना अपने आपको शक्ति के द्वारा। और जैसे सूर्य दिव्य प्रकाश का प्रतिनिधि है, वैसे ही प्राचीन ऋषियों के लिये अग्नि दिव्य शक्ति, बल, चेतनामय संकल्प का प्रतिनिधि है। अग्नि के प्रति की गई प्रार्थना सूर्य के प्रति की गई प्रार्थना को पूर्ण करती है।

वैयक्तिक संकल्प

जैसे कि ज्ञान में, वैसे ही कर्म में भी, सच्चा आधार एकता है। व्यक्ति, विभाजन को अपने नियम के तौर पर स्वीकार करता हुआ, अपने आपको अपनी ही निजी सीमाओं के अंदर पृथक् रखता हुआ, अनिवार्य रूप में मरणशील, अंधकारावृत और अपनी .क्रयाओं में अज्ञानी हो गया है। वह अपने उद्देश्यों में तथा अपने साधनों में एक ऐसे ज्ञान का अनुसरण करता है जो कि उसका व्यक्तिगत है, जो इच्छा द्वारा, विचार के अभ्यासों द्वारा, धुंधले अवचेतन आवेगों द्वारा या अधिक से अधिक एक भग्न आंशिक तथा परिवर्तनशील प्रकाश द्वारा शासित होता है। वह किरणों के सहारे जीता है न कि सूर्य के पूर्ण दमदमाते प्रकाश में। उसका ज्ञान ऐसा है जो कि उसकी विषयता (objectivity) में संकुचित है, और उसकी विषयिता (subjectivity) में भी संकुचित है, इन दोनों में से किसी में भी वह सर्वांगीण ज्ञान के साथ तथा विश्वगत समग्र क्रिया और समग्र संकल्प के साथ युक्त नहीं है। इसलिये उसका कर्म भी कुटिल है, बहुशाख है, अपनी प्रेरणा और

*१७—वस्तुओं का प्राण एक अमर जीवन है किंतु यह शरीर भस्मांत है। ओम्! हे संकल्प! स्मरण कर, वह जो किया है स्मरण कर, हे संकल्प! स्मरण कर, वह जो किया है स्मरण कर।

१८—हे अग्निदेव! समस्त अभिव्यक्त पदार्थों को जानते हुए तुम हमें परमानंद के प्रति, अच्छे मार्ग से, ले चलो। कुटिल उन्मार्ग की तरफ खींचनेवाले पाप को हमसे दूर करो, हटाओ। तेरे प्रति पूर्णतम नमन की उक्ति को हम करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्ति में शंकित तथा दोलायमान होता है; यह सत्य को पाने के लिये मिथ्यात्वों के अंदर भटकता हुआ फिरता है, टुकड़ों को उलटता-पलटता या उन्हें इकट्ठा करता है उन्हें जोड़कर संपूर्ण को बनाने के लिये, भूलों में और पापों में ठोकरें खाता फिरता है ठीक को पाने के लिये। जो न तो एक-दृष्टि है और न ही संपूर्ण-दृष्टि है, जिसमें न तो विश्व-संकल्प की संपूर्णता है और न ही विश्वातीत की संकेंद्रित एकता है, ऐसा वैयक्तिक संकल्प सत्य तथा अमरता की ओर ठीक या अच्छे पथ पर सीधा नहीं चल सकता। इच्छा द्वारा शासित होता हुआ, अपने चारों तरफ की शक्तियों के धक्कों के लिये अनावृत रहता हुआ, जिन शक्तियों के साथ इसके अहंकार और अज्ञान इसे सामंजस्ययुक्त होने से रोकते हैं, यह अज्ञान की युगल संतान—पीड़ा और मिथ्यात्व—के वशीभूत होता है। दिव्य सत्य और ऋत से वंचित होने के कारण यह दिव्य परमानंद से भी वंचित रहता है।

अग्नि, दिव्य संकल्प

जैसे हमारे भौतिक मन और तर्कणा के समस्त मिथ्यात्वों के अंदर और पीछे एक दिव्य प्रकाश है जो कि इस सांध्य-प्रकाश के द्वारा मनुष्य के अंदर सत्य के पूर्ण प्रभात को तैयार करता है, उसी तरह हमारी समस्त भूलों, पापों, स्खलनों के अंदर और पीछे एक निगूढ़ दिव्य संकल्प है, प्रेम और सामंजस्य की ओर प्रवृत्त एक संकल्प है, जो कि जानता है कि वह कहां जा रहा है और हमारे कुटिल उन्मार्गगमनों को सीधे मार्ग की ओर—जो कि उनके श्रम और अन्वेषणों का अंतिम परिणाम होगा—जोड़ रहा और तैयार कर रहा है। इस संकल्प का और उस प्रकाश का आविर्भाव होना अमरता की शर्त्त है।

यह संकल्प अग्नि है। ऋग्वेद में, जहां से ईशोपनिषद् का अंतिम मंत्र लिया गया है, अग्नि है दिव्य संकल्प की ज्वाला या चेतना की वह शक्ति जो कि जगतों में कार्य कर रही है। उसका वहां इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वह मर्त्यों में अमर्त्य है, यात्रा का नेता है, दिव्य अश्व है जो कि हमें पीठ पर उठा मार्ग पर ले जा रहा है, 'कुटिलता का पुत्र है' जो अपने आप ही जानता है और ऋजुता है तथा सत्य है। जो गुप्त है, इस जगत् की त्रियाओं में जिसका पकड़ में आना कठिन है क्योंकि वे सब क्रियाएं इच्छा और अहंकार द्वारा मिथ्या हो चुकी हैं, ऐसा वह इन (क्रियाओं) को अपने आपको अतिक्रमण करने के लिये प्रयुक्त करता है और नर में विश्व या विश्वात्मक शक्ति रूप से प्रकट होता है, वह अग्नि वैश्वानर जो कि अपने अंदर सब देवों को और सब लोकों को धारण करता है, समस्त विश्वमय क्रियाओं को थामता है और अंत में अधिदेवत्व को, अमरत्व को सिद्ध करता है। यह है दिव्य कार्य को करनेवाला, उसका कर्ता। ये हैं वे प्रतीक जो कि इस उपनिषद् के अंतिम दो मंत्रों के आशय को अनुप्राणित करते हैं।

अमर प्राणतत्त्व

प्राण वह आवश्यक स्थिति है जिसमेंसे संकल्प और प्रकाश प्रकट होते हैं। वेद में यह कहा गया है कि वायु, मातरिश्वा, प्राण-तत्त्व वह है जो कि अग्नि को उच्च और सुदूर परम लोक में स्थित सूर्य से नीचे लाता है। जीवन-प्राण दिव्य संकल्प को सत्य-चेतना में से नीचे शरीर और मन के क्षेत्र के अंदर पुकार लाता है जिससे यहां, जीवन में, वह अपनी अभिव्यक्ति को संपन्न कर सके। अग्नि, जीवन की वस्तुओं का उपभोग करती हुई और भक्षण करती हुई, मरुतों को, जीवन की वातिक शक्तियों को जो विचार की शक्तियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन जाती हैं, उत्पन्न करती है; वे मरुत्, अग्नि द्वारा धारित होकर, उस इंद्र के, प्रकाशमय मन के, कार्य को तैयार करते हैं, जो कि हमारे जीवन-बलों के लिये उनका ऋषि है, अर्थात् सत्य और ऋत को खोज लेनेवाला है। इन्द्र वृत्र का, आच्छादक का वध करता है, अंधकार को विनष्ट कर देता है, सूर्य को हमारी सत्ता के ऊपर उदित करा देता है, जिससे कि वह सत्य की किरणों के साथ उसके पूरे क्षेत्र में फैल जाता है। सूर्य रचयिता या अभिव्यंजक है, सविता है, जो कि इस मर्त्य लोक में अमरता की अवस्था या लोक को अभिव्यक्त करता है, अहंकार, पाप और पीड़ा के दुःस्वप्न को मिटा देता है तथा जीवन को अमरता में, भद्र में, परमानंद में रूपांतरित कर देता है। वैदिक देवता मानव जीवन को भगवद्-रूपमें प्रकट करने, उस ओर चढ़ने, वहां अपने आपको उठा ले जाने के दृष्टांत-रूप हैं।

जीवन, शरीर, कर्म, संकल्प, ये हमारी प्रथम सामग्री हैं। जड़तत्त्व हमें शरीर प्रदान करता है; परंतु यह (शरीर) गति के अंदर एक अस्थायी ग्रंथिमात्र है, पुरुष का एक निवास-गृह है जिसमें वह जीवन-प्राण द्वारा उत्पन्न की गई क्रियाशीलताओं पर अधिष्ठातृत्व करता है। जब जीवन-प्राण द्वारा यह फेंक दिया जाता है तो यह विघटित हो जाता है; भस्म ही इसका अंत है। इसलिये शरीर हम नहीं हैं, यह तो हमारा एक बाह्य साधन या यंत्र ही है। क्योंकि जड़तत्त्व ज्ञानावरण तथा विभाजन का तत्त्व है, जन्म और मृत्यु का, रचना और विघटन का तत्त्व है। यह मृत्यु का आत्म-ख्यापन है। अमर मनुष्य को अपने आपको शरीर के साथ तादात्म्यबद्ध नहीं करना चाहिये।

जीवन-प्राण मृत्यु के उपरांत भी हममें बचा रहता है। यह अमर श्वास है, 'अमृत अनिल' है या, जैसा कि इन शब्दों का वास्तविक अर्थ है, सत्ता की सूक्ष्म शक्ति है जो कि जीवन-मरण के सिद्धांत से श्रेष्ठतर है। प्रथम दृष्टि में यह प्रतीत हो सकता है कि जन्म और मृत्यु जीवन (प्राण) के गुण हैं, परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जन्म और मृत्यु जड़-तत्त्व की, शरीर की प्रक्रियाएं हैं। शरीर की रचना और विघटन होने से जीवन-प्राण रचित और विघटित नहीं होता है; यदि ऐसा होता तो वैयक्तिक सत्ता का सातत्य (continuity) नहीं रह सकता और मृत्यु होने पर सब कुछ रूपरहित में समा जाता। जीवन-प्राण शरीर को रचता है, वह शरीर द्वारा रचित नहीं होता। यह वह सूत्र है जिसपर कि हमारे क्रमबद्ध भौतिक जीवनों का सातत्य व्यवस्थित होता है, ठीक इसी लिये क्योंकि यह स्वयं अमर है। यह अपने आपको विनाशी शरीर के साथ संबंधित करता है और मानसिक सत्ता को, मनोमय पुरुष को, उसकी यात्रा में आगे आगे ले जाता है।

संकल्प और स्मृति

यह यात्रा इस जगत् में जीवन से जीवन तक सतत रहनेवाली क्रियाशीलताओं की एक शृङ्खलारूप होती है जिसके बीच में अन्य (इस जगत् से अन्य) अवस्थाओं में होनेवाले जीवन के अन्तराल भी होते हैं। जीवन-प्राण उन्हें सतत स्थापित रखता है : वह उन्हें उस रचना-कारक शक्ति में से उनकी सामग्री प्रदान करता है जो कि उनके अंदर आकार ग्रहण करती है। पर उनकी अधिष्ठातृ-देवता जीवन-प्राण नहीं है, वह तो है संकल्प। संकल्प 'क्रतु' है, कर्म के पीछे रहनेवाली फलोत्पादक शक्ति है। इसका स्वभाव चेतना का है, यह चेतना की शक्ति है, और यद्यपि यह सब रूपों में—सचेतन, अवचेतन या अतिचेतन, प्राणिक, भौतिक या मानसिक में—विद्यमान है तो भी यह (संकल्प) अपने राज्य का स्वामी तभी बनता है जब कि यह मन में आविर्भूत होता है। यह स्मृति की मानसिक शक्ति को उप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग में लाता है जिससे क्रियाशीलताओं को शृङ्खलाबद्ध रखा जा सके और उन्हें व्यक्ति के ध्येय की तरफ सचेतनतया प्रेरित किया जा सके।

मनुष्य के अंदर मनोमय संकल्प के द्वारा चेतना का उपयोग अपूर्णतया होता है, क्योंकि स्मृति सीमित होती है। हमारा कर्म बिखरा हुआ और मर्यादित भी होता है क्योंकि मानसिकतया हम घड़ी घड़ी काल के प्रवाह में निवास करते हैं, केवल उतने को थामे हुए होते हैं जो कि हमें आकृष्ट करता है या जो तात्कालिकतया हमारे अहंबद्ध मन को उपयोगी प्रतीत होता है। जो कुछ हम कर रहे हैं उसके अंदर हम रहते हैं, जो कुछ किया जा चुका है उसपर हम वश नहीं रखते बल्कि अपने किये जा चुके भूत कर्मों द्वारा जिन्हें हम भूल चुके होते हैं हम स्वयं वशीभूत होते हैं। यह इसलिये कि हम आत्मा में निवास करने और कर्म की धारा को इसके पीछे से देखने के बजाय कर्म में और उसके फलों में निवास करते हैं। ईश, सच्चा संकल्प, कर्मों के पीछे स्थित है और इसी लिये उनका प्रभु है न कि उनसे बद्ध।

उपनिषद् संकल्प को गंभीरतया आमंत्रित करती है कि वह कृत कर्म का स्मरण करे, जिससे जो होना है उसे वह धारण कर सके और उससे सचेतन हो सके, जिससे वह ज्ञान और आत्म-अधिकृति (self-possession) की एक शक्ति हो सके न कि केवल आवेग और आत्म-उपन्यास (self-formulation) की एक शक्ति। इस प्रकार यह अपने आपको सच्चे संकल्प के अधिकाधिक समीपवर्ती करता जायगा और सचेतन नियंत्रण से क्रमिक जीवनों को सुसंगठित कर सकेगा। जन्मजन्मांतरों में एक कुटिल मार्ग से, मानों वायु द्वारा, ले जाये जाने की जगह एक क्रमबद्ध शृङ्खला में अधिकाधिक सीधे तौर पर प्रगति कर सकेगा। एक बढ़ती जाती हुई ज्ञान और दिग्दर्शन की शक्ति के साथ यह जन्मजन्मांतरों को शृङ्खलाबद्ध करता जायगा जब तक कि यह वह पूर्णतया सचेतन संकल्प न बन जाय जो कि अमर परमानंद की ओर सीधे एक मार्ग पर प्रकाश के साथ गति करता है। तब मानसिक संकल्प, ऋतु, वह दिव्य संकल्प, अग्नि, बन जायगा जिसका यह अभी केवल प्रतिनिधित्व करता है।

संकल्प और ज्ञान

दिव्य संकल्प की सारभूत विशेषता यह है कि इसके अंदर चेतना और शक्ति, ज्ञान और बल एक होते हैं। यह सब अभिव्यक्तियों को जानता है, उन सब वस्तुओं को जानता है जो कि जगत् में जन्म ग्रहण करती हैं। यह 'जातवेदाः' है, सब जन्मों का (जात वस्तुओं का) ठीक ज्ञान रखनेवाला है। यह उन्हें उनकी सत्ता के नियम में जानता है, उनके अन्य जन्मों के साथ संबंध में जानता है, उनके उद्देश्य तथा साधन में, उनकी प्रक्रिया तथा लक्ष्य में, उनकी सबके साथ एकता तथा उनकी सबसे विभिन्नता में जानता है। यही वह दिव्य संकल्प है जो कि सब विश्व को चलाता है। जिन्हें यह जोड़ता है उन सभी वस्तुओं के साथ यह एक होता है और इसकी सत्ता, इसका ज्ञान, इसकी क्रिया परस्पर एक दूसरे से अवियोज्य हैं। जो कुछ यह है उसे यह जानता है; जो यह जानता है उसे यह करता है और वही यह हो जाता है।

परंतु ज्यों ही आहंकारिक चेतना प्रादुर्भूत होती है और हस्तक्षेप करती है त्यों ही एक गड़बड़ी, एक विभाजन, एक मिथ्या क्रिया उत्पन्न हो जाती है। संकल्प एक आवेग बन जाता है जो कि अपने गुप्त प्रेरक भाव और प्रयोजन से अनभिज्ञ होता है, ज्ञान एक संदिग्ध और आंशिक किरण बन जाता है जो कि तत् तत् संकल्प, ज्ञान और क्रिया को धारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करता किंतु इन्हें धारण करने और इन्हें आविष्ट करने का यत्न कर रहा होता है। यह इसलिये है क्योंकि हमने अपने आत्मा को, अपनी सच्ची सत्ता को, प्राप्त, अधिकृत नहीं किया है, हम 'आत्मवान्' नहीं हैं, किंतु हमने केवल अहं को प्राप्त (अधिकृत) किया है। जो कुछ हम हैं उसे हम जानते नहीं, जो हम जानते हैं उसे हम क्रियान्वित नहीं कर सकते। क्योंकि ज्ञान वास्तविक केवल तब होता है और कर्म सच्चे ज्ञान से सामंजस्ययुक्त केवल तब होता है जब कि ये दोनों (ज्ञान और कर्म) स्वाभाविक रूप में उस सचेतन, प्रकाशमय तथा अपने आपको धारण करनेवाले आत्मा से निःसृत होते हैं जिसके अंदर की सत्ता, ज्ञान और क्रिया एक गति हैं।

दिव्य संकल्प के प्रति समर्पण

यह वह परिवर्तन है जो कि तब होता है जब कि, मनोमय संकल्प के अधिकाधिक दिव्य संकल्प के समीपवर्ती होते जाने के कारण, अग्नि हमारे अंदर जल उठती है। यही वह बढ़ता हुआ ज्ञान और बल है जो कि हमें अंततः कुटिलता में से निकालकर सीधे (सरल) और अच्छे (सु) पथ में ले जाता है। यही दिव्य संकल्प है, दिव्य ज्ञान के साथ एक हुआ हुआ, जो कि हमें परम सुख की ओर, अमरता की अवस्था की ओर ले जाता है। वह सब जो कि अहं की उन्मार्ग-गतियों से संबंध रखता है, वह सब जो कि ज्ञान को आवृत करता है, और हमें इस या उस मिथ्या मार्ग में अपने झूठे प्रलोभनों से प्रलोभित करता हुआ तथा हमें ठोकरें खिलाता हुआ बहा ले जाता या खींचता है, वह सब इस (अग्नि) के द्वारा हमसे हटा दिया जाता है। ये सब वस्तुएं दिव्यत्वप्राप्त संकल्प से शीर्ण हो जाती, झड़ जाती हैं और हमारी चेतना में आश्रय प्राप्त करना छोड़ देती हैं।

इसलिये यथार्थ कर्म का चिह्न यह है कि तब व्यक्ति का दिव्य संकल्प के प्रति–जिसे उसके अंदर सूर्य के प्रकाश ने प्रकट कर दिया है–समर्पण बढ़ता जाता है और अंत में यह पूर्ण समर्पण हो जाता है। यद्यपि यह संकल्प उसकी अपनी चेतना में अभिव्यक्त होता है, तो भी यह उसका व्यक्तिगत नहीं होता। यह तो उस पुरुष का संकल्प है जो सब वस्तुओं में है और उन सबको अतिक्रांत भी करता है। यह ईश का संकल्प है।

ईश का ज्ञान, पूर्णतया आत्म-सचेतन सत्ता में स्थित ईश के रूप में उसका ज्ञान तथा ईश के प्रति समर्पण, पूर्णतया आत्म-सचेतन कर्म में स्थित जगद्व्यापक तथा परात्पर ईश के रूप में उसके प्रति समर्पण–ये दिव्य द्वारों की, अमरता के द्वारों की, दो कुंजियां हैं।

और संयुक्त हुए हुए इन दो का स्वरूप है ऐसी एक प्रकाशयुक्त भक्ति जो कि मानव अस्तित्व के अंदर परमेश्वर को स्वीकार करती है, इसके लिये अभीप्सा करती और इसे सिद्ध करती है।

परिसमाप्ति

इस प्रकार चौथी विचारधारा मनोवैज्ञानिक रूप में उस अमरता की प्राप्ति की जो कि तृतीय विचारधारा का विषय है दोहरी प्रक्रिया को सूचित करती है–अर्थात् आनंद और आंतरिक सत्य की अवस्था तथा मृत्यु के उपरांत प्रकाश के लोक जिनकी पराकाष्ठा आत्म-प्रकाशमय एक देव के तादात्म्य में है। साथ ही यह (चौथी विचारधारा) वैदिक प्रतीकों के आवरण में उस आत्मज्ञान तथा आत्मा और उसकी समस्त संभूतियों के साथ तादात्म्य की प्रक्रिया को जो कि द्वितीय विचारधारा का विषय है तथा उस मुक्त कर्म की प्रक्रिया को जिसपर कि बल देती हुई प्रथम विचारधारा जा पहुंचती है विशेष रूप प्रदान करती है। **इस तरह यह इस उपनिषद् की उपयुक्त समाप्ति और परिनिष्पत्ति है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद के पत्र

ज्योतिर्मय मार्ग--निश्चेतन तमस् की बाधा

ज्योतिर्मय मार्ग का अनुसरण केवल तभी किया जा सकता है यदि अंतरात्मा निरंतर या प्राय: सामने रहे अथवा मनुष्य में श्रद्धा और समर्पण की नैसर्गिक भावना हो या उसका मुख स्वभावत: ज्योति की ओर मुड़ा हुआ हो अथवा उसने आंतरात्मिक परिवर्तन संपादित कर लिया हो। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकाशयुक्त एवं प्रफुल्लचित्त व्यक्ति के सामने कोई कठिनाइयां आती ही नहीं; उसके सामने अनेक कठिनाइयां आ सकती हैं, पर वह उन्हें दिन के सामान्य कार्य के रूप में प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है। और जब किसी कठिनाई से उसे विशेष दु:ख पहुंचता है तो भी वह साहसपूर्वक कहता है, "अच्छा, यह विचित्र घटना थी किंतु प्रत्यक्ष ही भगवान् विचित्र भाव में हैं और यदि उनका काम करने का यही ढंग है तो यह अवश्य ही ठीक है; स्वयं मैं, निश्चित रूप से, और भी विचित्र व्यक्ति हूं और, मेरी समझ में, मुझे सुधारने का यही एकमात्र उपाय था।" परंतु प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव ऐसा नहीं हो सकता; चाहे समर्पण सब कुछ ठीक कर सकता है पर, जैसा कि तुम कहते हो, इसे पूरी तरह करना कठिन है। यही कारण है कि हम तुरंत पूर्ण समर्पण करने पर जोर नहीं देते; बल्कि प्रारंभ में थोड़े से ही संतोष मानते हैं और शेष को क्रमश: यथाशक्य बढ़ने देते हैं।

मैं तुम्हें खोलकर बता चुका हूं कि क्यों बहुतेरे लोग (निश्चय ही सबके सब नहीं) इस प्रकार उदास, ढीले-ढाले और हताश हैं। जिस चीज ने उनपर अपना अधिकार जमा लिया है वह है तमस्, निश्चेतन की जड़ता। अपिच, क्षुद्र स्थूल प्राण जो साधारण दैनिक और सामाजिक जीवन की तुच्छ और निरर्थक चीजों में ही रस लेता है और किसी चीज में नहीं। पहले जब साधना उच्चतर स्तरों (मन, उच्चतर प्राण आदि) पर चल रही थी तब, आश्रम के काम तथा जीवन की छोटी-मोटी बातों में तथा अंतर्जीवन में यथेष्ट उत्साह, स्फूर्ति एवं रस था; स्थूल प्राण भी उसी धारा में बहा करता था। परंतु बहुत से लोग अब इस अवस्था से च्युत हो गये हैं; वे असंतुष्ट प्राणमय शरीर में रहते हैं और उन्हें प्रत्येक चीज अत्यंत अंधकारमय, निरानंद और नीरस वा निष्प्रयोजन लगती है। निश्चेतन से उद्‌भूत तम ने उनके अंतर्जीवन में एक अंतराय या सूचिपथ की सृष्टि कर दी है और उसमेंसे उन्हें बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं देख पड़ता। यदि मनुष्य ठीक वृत्ति और भाव में रह सके, कर्म में तीव्र रस या साधना में तीव्र रस ले सके तो स्थूल प्राण स्तब्ध हो जाय। यह तो हुआ रोग। इसका इलाज यह है कि ठीक वृत्ति बनाये रखो और, शनैः शनैः या यथासंभव शीघ्रता से, सत्ता के इस भाग में भी उच्चतर अभीप्सा की ज्योति ले आओ, ताकि यह भी ठीक संतुलन को स्थिर रख सके, भले ही चारों ओर की परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो। तब ज्योतिर्मय मार्ग ऐसा असंभव नहीं रहेगा।

१६–६–१९४४

आश्रम में रहकर साधना करने की आवश्यकता

निश्चय ही, यह सर्वथा सत्य है कि आंतरात्मिक संबंध दूरी पर भी रह सकता है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी कि भगवान् देश से सीमित नहीं, बल्कि सभी जगह हैं। आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिये या योगाभ्यास करने के लिये, विशेषकर योगाभ्यास की प्रारंभिक अवस्था में, प्रत्येक मनुष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह आश्रम में रहे या शारीरिक तौर पर माताजी के समीप रहे। परंतु यह सत्य का एक पार्श्व है; एक पार्श्व और भी है, अन्यथा, इससे तर्कतः यह परिणाम निकलता कि माताजी के यहां रहने की, या आश्रम के अस्तित्व की, या किसी के भी यहां आने की कोई जरूरत नहीं।

अंतरात्मा सभी में विद्यमान है, किंतु बहुत ही कम लोगों में यह चेतना के अंदर सु-विकसित या सुगठित है या सामने की तरफ प्रबल रूप में उपस्थित है; अधिकतर लोगों में यह ढकी हुई है, प्रायः निर्बल या एक प्रभावमात्र है, आध्यात्मिक जीवन को आश्रय देने के लिये पर्याप्त रूप में सचेतन या समर्थ नहीं है।

इसी कारण, इस सत्य की ओर आकृष्ट लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे सहायता प्राप्त करने के लिये यहां आवें। यह सहायता उनकी अंतरात्मा के जागरण को संपन्न या तैयार करेगी,—यह उनके लिये प्रभावशाली आंतरात्मिक संबंध का प्रारंभ होगी।

और इसी कारण बहुतों के लिये,—यदि वे तैयार हों तो यहां रहना आवश्यक होता है ताकि वे सीधे प्रभाव और सामीप्य से चेतना में अंतरात्मा का विकास या गठन संपन्न कर सकें अथवा इसे सामने ला सकें। जब साधक को उसकी तात्कालिक सामर्थ्य के अनु-सार सहायता प्रदान कर दी जाती है या जब उसका विकास साधित हो चुकता है तब, वह बाहर की दुनिया में लौटता है और दूरी पर भी रक्षण तथा पथप्रदर्शन के द्वारा आंत-रिक संस्पर्श को बनाये रखने तथा आध्यात्मिक जीवन को चलाते रहने में समर्थ होता है। परंतु बाह्य जगत् के प्रभाव आंतरात्मिक संबंध तथा आंतरात्मिक विकास के अनुकूल नहीं होते और यदि साधक पर्याप्त सावधान या दत्तचित्त न हो तो, आंतरात्मिक संबंध कुछ समय बाद सहज ही लुप्त हो सकता या ढक जा सकता है और विकास विरोधी गतियों या प्रभावों के कारण मंद, अवरुद्ध या क्षीण तक हो सकता है। अतएव केंद्रीय प्रभाव के स्थान पर लौटने की आवश्यकता बनी रहती है और प्रायः अनुभूत होती है ताकि संबंध को पुनः प्राप्त या दृढ़ किया जा सके अथवा विकास को फिर से ताजा किया जा सके या आगे बढ़ने के लिये नया वेग दिया जा सके। समय समय पर ऐसी समीपता के लिये अभी-प्सा करना प्राणिक कामना नहीं है; यह प्राणिक कामना केवल तभी बनती है जब यह प्राणिक हेतु पर अहंकारपूर्वक आग्रह करती है या जब इसमें उसकी मिलावट होती है, परंतु यदि यह अंतरात्मा की एक ऐसी शांत एवं गंभीर अभीप्सा हो जिसमें चीख-पुकार या व्याकुलताजनक आग्रह न हो तब यह प्राणिक कामना का रूप धारण नहीं करती।

यह बात उन लोगों के लिये है जिनमें इस आश्रम में केंद्रीय शक्ति तथा उपस्थिति के प्रत्यक्ष दबाव के नीचे रहने की पुकार नहीं है या कम से कम अभी तक यह पुकार पैदा नहीं हुई है। जिनके लिये इस प्रकार यहां रहना आवश्यक है वे वही लोग हैं जिन्हें बिल्कुल प्रारंभ से ही पुकार आई है या जो तैयार हो चुके हैं या जिन्हें योग से तैयार हो रही रचना या सृष्टि का अंग बनने का अवसर प्रदान किया गया है। उनके लिये यहां के वायु-मंडल में निवास तथा सामीप्य अनिवार्य है; उनका यहां से चले जाना प्राप्त अवसर को खोना होगा, आध्यात्मिक भवितव्यता से मुंह मोड़ना होगा। ये कठिनाइयां बाहर रहनेवाले लोगों के संघर्ष की अपेक्षा अधिक भारी दीख पड़ती हैं क्योंकि यहां मांग तथा दबाव अपेक्षा-कृत अधिक हैं; परंतु उनका सुयोग भी विशेष है तथा विकास के लिये उनपर उंडेली गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति और प्रभाव भी एवं उनकी आध्यात्मिक भवितव्यता तथा निश्चित विकास भी, यदि वे अपने चुनाव और पुकार के प्रति सच्चे रहेंगे।

आश्रम से बाहर रहकर साधना करना

(१)

घर पर या अपने काम-धंधे के बीच साधना करना तुम्हारे लिये सर्वथा शक्य है–बहुतेरे ऐसा ही करते हैं। प्रारंभ में बस इतना ही आवश्यक है कि तुम माताजी का यथासंभव अधिक से अधिक स्मरण करो, प्रतिदिन कुछ समय हृदय में उनका ध्यान करो, यदि संभव हो तो उनका भगवती माता के रूप में चिंतन करते हुए ध्यान करो, अभीप्सा करो कि तुम्हें अपने अंतर में उनका अनुभव हो, अपने कर्म उनको अर्पित करो और प्रार्थना करो कि वे अंदर से तुम्हें मार्ग दिखावें और सहारा दें। यह प्रारंभिक अवस्था है जिसमें प्रायः बहुत समय लगता है, परंतु यदि कोई सरलता तथा दृढ़तापूर्वक इसमेंसे गुजरे तो मन धीमे धीमे बदलने लगता है और साधक में एक नई चेतना खुल जाती है। वह चेतना हृदय में माताजी की उपस्थिति को और प्रकृति में तथा जीवन में उनकी क्रिया को अधिकाधिक अनुभव करने लगती है या किसी और ऐसे आध्यात्मिक अनुभव से सचेतन होने लगती है जो अनुभव सिद्धि का द्वार खोल देता है।

२२–२–१९३७

(२)

जब कोई संसार में रह रहा होता है तो वहां वह आश्रम की तरह ही नहीं रह सकता–उसे दूसरों से मिलना-जुलना पड़ता है तथा कम से कम बाहरी तौर पर दूसरों से सब प्रकार के साधारण संबंध बनाये रखने होते हैं। मुख्य बात है अंतश्चेतना को भगवान् की ओर खोले रखना तथा उसमें विकसित होना। जब कोई ऐसा करेगा तो, साधना की आंतरिक तीव्रता के अनुसार, न्यूनाधिक वेग से, दूसरों के प्रति उसकी वृत्ति बदल जायगी। सब कुछ अधिकाधिक भगवान् में दीख पड़ेगा और भाव तथा कर्म आदि का निर्धारण उत्तरोत्तर तुम्हारे अंदर की वर्द्धमान चेतना से होगा, न कि केवल पुरानी बाह्य प्रतिक्रियाओं से।

१४–९–१९३४

(३)

कइयों के लिये यहां रहे बिना "जीवन का उत्सर्ग करना" सर्वथा संभव है। यह आभ्यंतरिक भाव का तथा भगवान् के प्रति सत्ता के पूर्ण निवेदन का प्रश्न है।

२८–६–१९३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वादश अध्याय

दिव्य कर्म

जब कर्ममार्ग के साधक की खोज अपने स्वाभाविक रूप में पूरी हो जाती है या पूरी होने लगती है तब भी उसके सामने एक प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि मुक्ति के बाद आत्मा के लिये कोई कर्म शेष रहता है या नहीं और यदि रहता है तो कौनसा तथा किस प्रयोजन के लिये? समता उसकी प्रकृति में प्रतिष्ठित हो चुकी है और उसकी संपूर्ण प्रकृति पर शासन करती है; अहं-बुद्धि से, विस्तृत अहं-भाव से, अहंकार की समस्त भावनाओं और प्रेरणाओं तथा उसकी स्वेच्छा और कामनाओं से उसे आमूल मुक्ति प्राप्त हो गई है। अन्तरात्मा ने अपने कर्मों के स्वामी के दर्शन कर लिये हैं और वह उन्हीं के सान्निध्य में निवास करती है या उन्हीं की सत्ता में सचेतन रूप से निहित रहती या उनसे एकमय हो रहती है अथवा उन्हें हृदय में या ऊपर अनुभव करती तथा उनके आदेशों का पालन करती है। उसने अपनी सच्ची सत्ता जान ली है और अज्ञान का आवरण उतार फेंका है। तब मनुष्यस्थ कर्मी के लिये क्या कर्म शेष रहता है और किस हेतु से, किस उद्देश्य के लिये, किस भावना से वह किया जायगा?

★

इसका एक उत्तर तो वह है जिससे हम भारत में खूब परिचित हैं; कर्म बिल्कुल रहता ही नहीं, क्योंकि शेष रह जाती है निश्चलता। आत्म-विभाजन के अभिशाप तथा अज्ञान के अभिशाप से मुक्त मनुष्य इस अन्य क्लेश से, कर्मों के अभिशाप से, भी मुक्त हो जाता है। तब तो कर्म करना मात्र परम अवस्था की मर्यादा से उतरना और अज्ञान में लौटना होगा। जीवनविषयक इस मनोवृत्ति के पक्ष में जो विचार प्रस्तुत किया जाता है वह प्राणिक प्रकृति की एक भ्रांति पर आधारित है। क्योंकि, आवश्यकता, राजसिक प्रवृत्ति और आवेग या कामना–इन तीन निम्न आशयों में से किसी एक से या तीनों से ही प्राणिक प्रकृति को अपने कर्म की प्रेरणा मिलती है। प्रवृत्ति या आवेग के शांत हो जाने पर, कामना का निर्वाण हो जाने पर, भला कर्मों के लिये क्या स्थान रह जाता है? कोई यांत्रिक आवश्यकता तो रह सकती है पर और किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं। और वह भी शरीर छूटने के साथ सदा के लिये समाप्त हो जायगी। परंतु तिसपर भी, जब तक जीवन है, तब तक कर्म अनिवार्य है। केवल विचार करना भी या, विचार के अभाव में, केवल जीना भी अपने आपमें एक कर्म है और अनेक कार्यों का कारण है। संसार में विद्यमान सत्ता-मात्र–मिट्टी के ढेले की जड़ता भी और निर्वाण के किनारे पर पहुंचे हुए निश्चल बुद्ध की शांति भी–एक कर्म है, शक्ति है, सामर्थ्य है और वह अपनी उपस्थितिमात्र से समष्टि पर सक्रिय प्रभाव डालती है। वास्तव में प्रश्न तो है केवल कर्म के प्रकार का, तथा उन करणों का जो काम में लाये जाते हैं या जो अपने आप ही कार्य करते हैं, और कर्म करनेवाले के भाव एवं ज्ञान का। कारण, सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, बल्कि प्रकृति अपनी अन्तःस्थ शक्ति की अभिव्यक्ति के लिये उसके द्वारा कार्य करती है और वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति उद्भूत होती है अनंत से। इस बात को जानना और कामना से तथा अहंमूलक प्रेरणा के भ्रम से मुक्त होकर प्रकृति के स्वामी की उपस्थिति में तथा उनकी सत्ता में निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है।

यह समझना कि कामना के बिना कर्म असंभव है या कम से कम निरर्थक है एक सर्व-साधारण भूल है। हमें बताया जाता है कि यदि कामना का अंत हो जाय तो कर्म भी अवश्य बंद हो जाना चाहिये। परंतु यह सिद्धांत, अन्य अति अज्ञानकल्पित व्यापक सिद्धांतों की भांति, विभेदक और परिच्छेदक मन के लिये जितना आकर्षक है उतना सच्चा नहीं है। संसार में होनेवाले काम का बहुत बड़ा भाग कामना के किसी भी तरह के हस्तक्षेप के बिना संपन्न होता है; यह विश्वप्रकृति की शांत आवश्यकता तथा स्वाभाविक नियम के कारण चलता है। मनुष्य भी सहज आवेग, अन्तर्ज्ञान तथा प्रेरणा के वश निरंतर नाना प्रकार के कार्य करता है अथवा वह मानसिक आयोजना या सचेतन प्राणिक इच्छा या भाव-मय कामना की प्रेरणा के बिना शक्तियों की स्वाभाविक आवश्यकता और नियम के अनु-सार काम करता है। कामना एक और प्रलोभन है जिसे प्रकृति ने अपने अवांतर उद्देश्यों के लिये आवश्यक एक विशेष प्रकार का राजसिक कर्म संपादित करने के लिये, चेतन प्राणि-यों के जीवन में बड़ा भाग प्रदान किया है; परंतु यही उसका एकमात्र इंजन नहीं है, यहां तक कि यह प्रधान इंजन भी नहीं है। जब तक कामना रहती है तब तक इसका एक बड़ा लाभ होता है: यह हमें जड़ता से उठने में सहायता पहुंचाती है, यह अनेक तामसिक शक्तियों का विरोध करती है, अन्यथा वे शक्तियां काम को रोक देतीं। परंतु जो जिज्ञासु कर्ममार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुका है वह इस मध्यवर्ती अवस्था को पार कर चुका है जिस-में कामना सहायक इंजन होती है। इसका वेग अब उसके काम के लिये अनिवार्य नहीं रहता, बल्कि यह विशेष भयानक रूप में बाधक होता है और होता है स्खलन, अयोग्यता तथा विफलता का स्रोत। शांत उदासीनता, प्रसन्न तटस्थता या दिव्य शक्ति को आनंदपूर्ण प्रत्युत्तर–भले ही उस शक्ति का आदेश कुछ भी क्यों न हो–यह एक आवश्यक अवस्था है जिसमें वह कोई प्रभावपूर्ण कर्म कर सकता है या किसी सार्थक कार्य का बीड़ा उठा सकता है।

ऐसा कोई संकीर्ण सिद्धांत नहीं, संकुचित कर्म का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो कर्मयोगी पर उसके नियम या उसके क्षेत्र के रूप में थोपा जा सके। इतनी बात सत्य है कि प्रत्येक प्रकार का काम, चाहे वह मनुष्य की समझ के अनुसार छोटा हो या बड़ा, क्षेत्र की दृष्टि से क्षुद्र हो या विशाल, मोक्ष की ओर प्रगति में या आत्म-अनुशासन के लिये समान रूप से उपयोग में लाया जा सकता है। यह भी सच है कि मुक्ति के बाद मनुष्य जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र में रहे और चाहे किसी भी प्रकार का काम करे उसी में वह भगवान् के अंदर अपने अस्तित्व को चरितार्थ कर सकता है। वह परम आत्मा से जिस प्रकार भी प्रेरित हो उसके अनुसार वह अपने लिये जन्म और परिस्थिति द्वारा नियत क्षेत्र में रह सकता या उस चौखट को तोड़कर ऐसे बंधनमुक्त कर्म की ओर बढ़ सकता है जो उसकी महिमान्वित चेतना तथा उच्चतर ज्ञान का उपयुक्त शरीर होगा। मनुष्यों की चर्मचक्षुओं को ऐसा दीख सकता है कि उसकी आभ्यंतरिक मुक्ति के कारण उसके बाह्य कर्मों में कोई प्रत्यक्ष अंतर नहीं आया है; अथवा, इसके विपरीत, अंतःस्थ स्वतंत्रता और अनंतता अपने आपको एक ऐसी विशाल और नवीन बाह्य शक्तिशाली क्रिया में परिणत कर सकती है कि सभी की दृष्टि इस असाधारण शक्ति की ओर आकृष्ट हो। यदि उसके अतर्यामी परमदेव का ऐसा ही संकल्प हो तो मुक्त आत्मा उन्हीं पुरानी मानवी परिस्थितियों में सूक्ष्म और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित काम से संतुष्ट हो सकती है; तब तो वे परिस्थितियां अपना बाह्य रूप किसी प्रकार भी बदलना नहीं चाहेंगी। परंतु उसे एक ऐसा कर्म करने के लिये भी आह्वान प्राप्त हो सकता है जो उसके अपने बहिर्जीवन के रूपों तथा क्षेत्र को ही नहीं बदल डालेगा अपितु, अपने चारों ओर की किसी भी चीज को परिवर्त्तित या प्रभावित किये बिना न छोड़कर नए जगत् और नई व्यवस्था को जन्म देगा।

*

एक प्रचलित विचार हमें यह विश्वास बंधायेगा कि संसार के नश्वर जीवन में व्यष्टि-जीव के लिये शारीरिक पुनर्जन्म से छुटकारा प्राप्त करना ही मुक्ति का एकमात्र प्रयोजन है। यदि ऐसा छुटकारा एक बार निश्चित रूप से प्राप्त हो जाय तो आत्मा के लिये इहलोक या परलोक के जीवन में कोई और कर्म शेष नहीं रहता अथवा केवल वही कर्म रह जाता है जिसकी जरूरत शरीर की सत्ता बनाये रखने के लिये होती है या जो गत जन्मों के अभुक्त कर्मफलों के कारण आवश्यक होता है। यह थोड़ा सा कर्म भी, योग की अग्नि से शीघ्र ही निःशेष या दग्ध होकर, मुक्त आत्मा के शरीर से प्रयाण करने पर समाप्त हो जायगा। वैयक्तिक मोक्ष की कामना अहंकार की ही उपज है, भले ही इस कामना का स्वरूप कैसा भी ऊंचा क्यों न हो; इसका मूल आधार है हमारे निजी व्यक्तित्व का तथा इसकी कामना और भलाई का विचार, इसकी दुःख से छूटने की लालसा या जन्मग्रहण के कष्ट के निर्वाण के लिये इसकी चीख-पुकार। इन्हीं चीजों को ही यह हमारे जीवन का परम लक्ष्य निश्चित करती है। अहंकार के इस आधार के पूर्ण निराकरण के लिये वैयक्तिक मोक्ष की कामना से ऊपर उठना आवश्यक है। यदि हम भगवान् को खोजते हैं तो यह भगवान् के लिये ही होना चाहिये और किसी चीज के लिये नहीं, क्योंकि यही हमारी सत्ता की परम पुकार है, हमारी आत्मा का गभीरतम सत्य है।

सच्चा मोक्ष या पुनर्जन्म के बंधन से सच्चा छुटकारा यह नहीं कि पार्थिव जीवन त्याग दिया जाय या व्यक्ति एक आध्यात्मिक आत्म-विलोप के द्वारा जीवन से भाग जाय, जैसे कि सच्चा संन्यास यह नहीं कि परिवार या समाज का केवल स्थूल रूप से त्याग कर दिया जाय; सच्चा मोक्ष है उन भगवान् के साथ आंतर तादात्म्य जिनमें अतीत जीवन और भावी जन्म का कोई बंधन नहीं बल्कि इनके स्थान पर है अज आत्मा की शाश्वत सत्ता। गीता कहती है कि जो अंदर से स्वतंत्र है वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; कारण विश्व-प्रकृति ही उसके अंदर प्रकृति के ईश्वर की अधीनता में कार्य करती है। इसी प्रकार, चाहे वह सैंकड़ों बार शरीर धारण करे तो भी वह जन्म के हर प्रकार के बंधन से या सत्ता के यंत्रवत् घूमनेवाले चक्र से मुक्त रहता है क्योंकि वह अज एवं अविनाशी आत्मा में निवास करता है, शरीर के जीवन में नहीं। अतएव आवागमन से छुटकारे में आसक्ति एक ऐसी मूर्त्ति है जिसे और कोई भले ही सुरक्षित रखे पर जिसे पूर्णयोग के साधक को तोड़कर अपने से दूर फेंक देना होगा। कारण, उसका योग समस्त जगत् के परे विद्यमान परात्पर की व्यष्टि-जीव द्वारा उपलब्धि तक ही सीमित नहीं है; यह विश्वमय, "सकल आत्माओं के सर्वयोग", की उपलब्धि को भी समाविष्ट करता है, अतएव यह वैयक्तिक मोक्ष तथा पलायन की गति के भीतर ही आबद्ध नहीं किया जा सकता। वैश्व सीमाओं के अतिक्रमण की अवस्था में भी वह ईश्वरगत सर्व के साथ एक होता है; संसार में दिव्य कर्म उसके लिये अभी भी शेष रहता है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह कर्म किसी मनोनिर्मित नियम या मानवीय प्रतिमान (मानदंड) से निश्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसकी चेतना मानवीय नियम और मर्यादाओं को पार कर दिव्य स्वातंत्र्य में पहुंच गई है, बाह्य और क्षणभंगुर के राज्य से निकलकर आन्तर और नित्य के आत्म-शासन में तथा सांत के बंधनकारी रूपों से परे हटकर अनंत के स्वतंत्र आत्म-निर्धारण में प्रविष्ट हो गई है। वह मनुष्यों के निर्णयों या अज्ञानियों के निश्चित किये हुए नियमों के अनुसार नहीं चलता; वह अंदर की आवाज का अनुसरण करता है और अदृश्य शक्ति से चालित होता है। उसका वास्तविक जीवन भीतर में होता है और उसका वर्णन यूं किया जा सकता है कि वह ईश्वर में, भगवान् में, अनंत में रहता-सहता, चलता-फिरता और काम-काज करता है।

परंतु चाहे उसका कर्म किसी बाह्य नियम से नियंत्रित नहीं होता तो भी वह एक ऐसे नियम का पालन करेगा जो बाह्य नहीं है; वह किसी वैयक्तिक कामना या लक्ष्य से प्रेरित नहीं होगा, बल्कि वह संसार में एक सचेतनतया आत्म-शासित और परिणामतः सुशासित दिव्य क्रिया का भाग होगा। गीता स्पष्ट कहती है कि मुक्त मनुष्य का कर्म कामना से परिचालित नहीं होना चाहिये, बल्कि उसका लक्ष्य होना चाहिये लोक-संग्रह करना, संसार को एकत्र रखना, उसका शासन, मार्ग-दर्शन तथा प्रचालन करना तथा उसे उसके नियत पथ पर स्थिर रखना। उस दिव्य कर्म में भाग लेना, संसार में ईश्वर के लिये जीना कर्म-योगी के कर्म का नियम होगा, संसार में ईश्वर के लिये जीना और अतएव इस प्रकार कर्म करना कि भगवान् अपने आपको अधिकाधिक प्रकट कर सकें और संसार अपनी धुंधली यात्रा के चाहे जिस भी मार्ग से आगे बढ़ता हुआ दिव्य आदर्श के अधिक निकट पहुंच सके।

ऐसा कोई विशिष्ट कर्म नहीं, कर्मों का ऐसा कोई विधि-विधान या बाह्यतः स्थिर या नियत प्रणाली भी नहीं जो मुक्त जीव की प्रणाली कही जा सके। परंतु इस करने योग्य कर्म को सूचित करने के लिये गीता में जो शब्द (कर्त्तव्य कर्म) प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ, निश्चय ही, यह लगाया गया है कि हमें फल का विचार किये बिना अपना कर्त्तव्य कर्म करना चाहिये। किंतु यह एक ऐसा विचार है जो यूरोपीय संस्कृति से उपजा है और आध्यात्मिक की अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक है और अपने प्रत्ययों या विभावनों में अन्त-र्गभीर होने की अपेक्षा कहीं अधिक बाह्य है। कर्त्तव्य नाम की किसी सामान्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है; हमारे सामने तो केवल अनेक कर्त्तव्य होते हैं, जो प्रायः परस्पर-विरोधी होते हैं; ये हमारी परिस्थिति, हमारे सामाजिक संबंधों, हमारी बाह्य जीवन-स्थिति से निर्धारित होते हैं। इनका एक बड़ा लाभ यह है कि ये अपरिपक्व नैतिक प्रकृति को सधाते हैं तथा स्वार्थपूर्ण कामना के कर्म को निरुत्साहित करनेवाले प्रतिमान को स्थापित करते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि जब तक अभीप्सु में आंतरिक ज्योति नहीं है तब तक उसे स्वलब्ध सर्वोत्तम प्रकाश के अनुसार ही अपने आपको चलाना होगा; कर्त्तव्य, सिद्धांत और ध्येय उन प्रतिमानों में से हैं जिनका वह कुछ काल के लिये निर्माण तथा अनुसरण कर सकता है। परंतु यह सब होते हुए भी, कर्त्तव्य कर्म बाह्य चीजें हैं, आत्मा की वस्तु नहीं। ये इस पथ में कर्म के चरम आदर्श वा प्रतिमान नहीं हो सकते। कर्मों के मुक्त कर्त्ता का कर्म आत्मा से निःसृत इस प्रकार का प्रवाह ही होना चाहिये; यह भगवान् के साथ उसके आध्यात्मिक मिलन के स्वाभाविक परिणाम के रूप में उसे प्राप्त होना चाहिये या उसमें से प्रादुर्भूत होना चाहिये न कि मानसिक विचार और संकल्प, व्यावहारिक बुद्धि या सामाजिक भावना की उन्नतिकारक रचना से निर्मित। साधारण जीवन में वैयक्तिक, सामा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिक या परंपरागत निर्मित नियम, प्रतिमान या आदर्श ही पथप्रदर्शक होता है; जब एक बार आध्यात्मिक यात्रा शुरू हो जाय तो, इसके स्थान पर आंतरिक जीवन-यापन का एक ऐसा बाह्य एवं आभ्यंतर नियम या प्रणाली प्रतिष्ठित करनी चाहिये जो हमारे आत्म-अनुशासन के लिये तथा हमें स्वतंत्र एवं पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक हो, एक ऐसी जीवन-प्रणाली जो हमारे अवलंबित पथ के उपयुक्त हो या आध्यात्मिक मार्गदर्शक और शिक्षक, 'गुरु', से आदिष्ट हो अथवा हमारे अन्तःस्थ पथदर्शक से निर्दिष्ट हो। परंतु आत्मा की अनंतता और स्वतंत्रता की चरम अवस्था में सभी बाह्य प्रतिमान पदच्युत या बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और तब जो कुछ रह जाता है वह यही है कि जिन भगवान् के साथ हम योगयुक्त हो चुके हैं उनके आदेश का सहज और पूर्ण रूप से पालन तथा हमारी सत्ता और प्रकृति के सर्वांग आध्यात्मिक सत्य को अनायास चरितार्थ करनेवाला कर्म।

*

जितना ही हम शुद्ध होते हैं उतना ही हमारे अंदर की सच्ची सत्ता अपने को अधिक साफ साफ प्रकट करती है; हमारी इच्छाशक्ति बाहर से आनेवाले सुझावों में उतना ही कम फंसती है अथवा हमारी निजी उथली मानसिक रचनाओं में कम आबद्ध होती है। अहंकार के छूट जाने पर, प्रकृति के शुद्ध हो जाने पर, कर्म अंतरात्मा के आदेशों से, आत्मा की गहराइयों या ऊंचाइयों से प्रेरित होगा, अथवा यह स्पष्टतया उन ईश्वर से परिचालित होगा जो हमारे हृदयों में गुप्त रूप से सदा ही आसीन थे।

ज्ञानमार्ग में हम एक ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां कि हम व्यक्तित्व तथा विश्व में से लांग लगाकर समस्त विचार, संकल्प एवं कर्मकलाप तथा प्रकृति की समस्त गतिविधि को पार करके और अनंतता में लीन तथा उन्नीत होकर, परात्परता में निमग्न हो सकते हैं। यह अवस्था चाहे ईश्वरज्ञानी के लिये अपरिहार्य तो नहीं पर यह अंतरात्मा का स्वनिर्णीत लक्ष्य हो सकती है, यह हमारे अंदर की आत्मा द्वारा अनुसृत भूमिका हो सकती है। भक्तिमार्ग में हम भक्ति और प्रीति की प्रगाढ़ता द्वारा परम सर्व-प्रियतम से मिलन (सायुज्य) लाभ कर नित्य-निरंतर उनके सान्निध्य के हर्षावेश में रह सकते हैं (सालोक्य), —उन्हीं में निमग्न, एक ही आनंदमय लोक में उनके घनिष्ठ सहचर (सामीप्य); यही तब हमारी सत्ता का संवेग तथा उसका आध्यात्मिक चुनाव हो सकता है। परंतु कर्मों के मार्ग में हमारे सामने एक और प्रकार का भविष्य खुलता है; क्योंकि इस पथ पर यात्रा करते हुए हम सनातन देव के साथ प्रकृति का साधर्म्य और सादृश्य लाभ कर मुक्ति और सिद्धि में प्रवेश कर सकते हैं; हम अपनी इच्छाशक्ति और सक्रिय व्यक्तित्व में भी उनके साथ उतने ही तदाकार हो जाते हैं जितने कि अपनी आध्यात्मिक स्थिति में; कर्मों की दिव्य प्रणाली होती है इस मिलन का स्वाभाविक परिणाम; आध्यात्मिक स्वातंत्र्य में दिव्य जीवन-यापन इसकी अभिव्यक्ति का शरीर। पूर्णयोग में ये तीनों मार्ग अपने निषेधों को त्याग देते हैं, परस्पर घुलमिलकर एक हो जाते हैं या एक दूसरे में से उद्भूत होते हैं; आत्मा पर पड़े मन के पर्दे से मुक्त होकर हम परात्परता में निवास करते हैं, हृदय की उपासना से परम प्रेम और आनंद के एकत्व में प्रवेश करते हैं और एक पराशक्ति में हमारी सत्ता की सब शक्तियों के उन्नीत हो जाने पर, एक ही परम संकल्प और शक्ति में हमारे संकल्प और कर्मों के समर्पित हो जाने पर हम दिव्य प्रकृति की क्रियाशील पूर्णता धारण करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिमानस और क्रमविकास

(गतांक के लेख 'अतिमानस और मनुष्यजाति' में श्रीअरविन्द ने प्रतिपादित किया था कि अतिमानस के अवतरण से एक नई मनुष्यजाति की सृष्टि होगी जिसका मन सत्य-चैतन्य का ज्योतिर्मय पात्र बन जायगा। किंतु उस जाति में भी चेतना के विभिन्न स्तर होंगे। आज हमारा मन अपने ज्योतिर्मय मूल से विच्छिन्न है और भ्रांत, सापेक्ष तथा खंडित ज्ञान का करण है। अतिमानस का स्पर्श होने पर यह अतिमानसिक ज्ञान का ही एक अंग बन जायगा और दिव्य ज्योति की शक्ति को निम्न स्तरों तक फैलाने में यंत्र का काम करेगा। इससे केवल अतिमानवजाति का ही जन्म नहीं होगा अपितु सामान्य रूप से मनुष्यमात्र की अवस्था अत्यधिक उन्नत हो जायगी। उसके मन-प्राण-शरीर दिव्य जीवन के आधार बन जायंगे। ये इतने बलवान् बन जायंगे कि पशु-प्रकृति इन्हें फिर नीचे की ओर नहीं घसीट सकेगी।

प्रस्तुत लेख में श्रीअरविन्द युक्तिपूर्वक बतलाते हैं कि अतिमानस का अवतरण तथा अभिव्यक्ति विकासक्रम की एक अनिवार्य घटना होगी। भौतिक विचारशैली का विकासवादी जगत् को बहिर्मुखी दृष्टिकोण से देखता है। वह परिस्थिति और उसके आघात-प्रतिघातों का अधिक महत्त्व मानता है। परंतु यदि क्रमविकास में, वास्तव में, उत्तरोत्तर चेतना विकसित हुई है तथा चेतना ही क्रमविकास का मूलगत और प्रधान तत्त्व है तब इसकी पूर्णता ही क्रमविकास का यथार्थ उद्देश्य हो सकती है। अतः वर्तमान विभक्त मन अनिवार्यतः पूर्ण अतिमन में विकसित होकर रहेगा, अतिमानस का अवतरण क्रमविकास की दृष्टि से आवश्यक है।—सं०)

पूर्ण या ज्योतिर्मय मन की प्राप्ति

तब, नई मनुष्यजाति मनोमय प्राणियों की एक ऐसी जाति होगी जो पृथ्वी के ऊपर और पार्थिव शरीर के अंदर निवास करेगी पर विश्वव्यापी अज्ञान के राज्य की वर्तमान अवस्थाओं से इस हद तक मुक्त होगी कि उसे एक पूर्ण मन, एक ज्योतिर्मय मन प्राप्त होगा जो अतिमानस या सत्य-चैतन्य—ऋतचित्—का एक गौण व्यापार तक हो सकेगा। कम से कम उसमें वे सब संभावनाएं होंगी जिनसे कि वह उस सत्य-चैतन्य का पात्र बन सकेगा, नहीं तो चिंतन और व्यवहार में उसका एक उपकरण तो जरूर बन सकेगा। इस पूर्ण मन को किसी अंश में पृथ्वी पर का दिव्य जीवन भी कहा जा सकता है। कम से कम ज्ञान में होनेवाले—नितांत रूप में या प्रधान रूप से अज्ञान में न होनेवाले—क्रमविकास का प्रारंभ तो कहा ही जा सकता है। पर किस हद तक ऐसा होना संभव है, आया यह मन अंत में समूची मनुष्यजाति में फैल जायगा या उसका केवल एक उन्नत अंश ही इसे प्राप्त करेगा—यह इस बात पर निर्भर करेगा कि स्वयं क्रमविकास के अंदर कौनसा अभिप्राय निहित है, और जो कोई विश्वव्यापी या परात्परा संकल्पशक्ति इस विश्व की गति को परिचालित कर रही है उसका अभिप्राय क्या है। हमने यहां मान लिया है कि पृथ्वी के ऊपर अतिमानस का केवल अवतरण ही नहीं होगा बल्कि वह एक अतिमानवजाति के अंदर मूर्तिमान् हो जायगा जिससे उसके सभी स्वाभाविक परिणाम सिद्ध होंगे तथा उसकी एक ऐसी नई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया होगी जिसके द्वारा नई मनुष्यजाति अपने पूर्ण विकास को तथा नई विश्वव्यवस्था के अंदर अपने सुनिश्चित स्थान को प्राप्त कर लेगी।

अतिमानस के अवतरण में कठिनाइयां

पर यह बात स्पष्ट है कि यह सब क्रमविकास के फलस्वरूप ही आ सकेगा, उस क्रमविकास के फलस्वरूप जो इस पृथ्वी पर पहले से ही चल रहा है और अपनी वर्तमान सीमाओं के पार बहुत दूर तक फैल चुका है और एक नए तत्त्व के द्वारा व्यवस्थित एक संपूर्णतः नई क्रिया के अंदर प्रवेश कर रहा है जिसमें मन और मनुष्य गौण बन जायंगे। और तब न तो मन क्रमविकास की अंतिम प्राप्ति माना जायगा और न मनुष्य प्रधान या नेता रह जायगा। जो क्रमविकास हम आज अपने चारों ओर देख रहे हैं वह उस प्रकार का नहीं है और यह भी कहा जा सकता है कि उसमें वैसी संभावना के चिह्न भी बहुत कम दिखाई देते हैं, इतने थोड़े कि हमारी बुद्धि, वर्तमान समय की हमारी एकमात्र सुनिश्चित पथप्रदर्शिका, उस संभावना में विश्वास करने का साहस भी नहीं कर सकती। यह पृथ्वी, जिस पृथ्वी को हम देख रहे हैं और जिसका जीवन निश्चेतना और अज्ञान के अंदर गहराई तक डूबा हुआ और उस निश्चेतना और अज्ञान पर ही आश्रित है, वह इस प्रकार के विकास के लिये नहीं बनी है अथवा इस प्रकार के आविर्भाव को धारण करने में समर्थ नहीं है; इसकी जड़ता और सीमाबद्धता इसे स्थायी रूप से अत्यंत निम्न कोटि की एक जीवनधारा का क्षेत्र बने रहने के लिये विवश करती है। फिर यह भी कहा जा सकता है कि एक ऐसे जीवनक्रम के लिये भी कहीं न कहीं एक स्थान होना चाहिये और अगर अतिमानस की बात महज एक अनिश्चित कल्पना ही नहीं है बल्कि एक ठोस सत्य है तो भी यहां, इस पृथ्वी पर, उसके मूर्त्तिमान् होने की न तो कोई आवश्यकता है और न उसके लिये कोई स्थान है। हमारा मन आज अज्ञान के भीतर प्राप्य ज्ञान की पूरी लीला का द्योतक है और इसका भी कहीं न कहीं अपना क्षेत्र अवश्य होना चाहिये और अगर पृथ्वी को उसके स्वाभाविक क्षेत्र के रूप में रख लिया जाय तो इससे विश्वप्रकृति के सामंजस्य में अत्यधिक सहायता पहुंचेगी। कोई भी जड़वादी दर्शन जड़तत्त्व के अंदर दिव्य जीवन की किसी सभावना को स्वीकार नहीं करेगा; पर जो दर्शन अंतरात्मा या आत्मा को या यहां की क्रमविवर्तनधारा की किसी आध्यात्मिक परिणति को स्वीकार करता है, वह भी बहुत अच्छी तरह पृथ्वी की दिव्य जीवन प्राप्त करने की योग्यता को अस्वीकार कर सकता है। वह कह सकता है कि दिव्य जीवन तो पृथ्वी और शरीर से विदा हो जाने पर ही प्राप्त किया जा सकता है। अगर विश्वसत्ता माया या भ्रम न भी हो तो भी दिव्य या पूर्णआध्यात्मिक सत्ता को केवल किसी दूसरे कम जड़ जगत् में या केवल विशुद्ध आत्मा में ही प्राप्त करना संभव है। चाहे जो हो, साधारण मानवबुद्धि को इस पृथ्वी के ऊपर किसी दिव्य वस्तु के शीघ्र स्थूल रूप ग्रहण करने के मार्ग में बहुत भारी कठिनाइयां खड़ी हुई दिखाई देती हैं।

और फिर, यहां क्रमविकास का जो वर्तमान या बाह्य स्वरूप है, जैसा कि उसे भौतिक विज्ञान ने हमारे सामने रखा है, उसपर यदि अत्यधिक जोर दिया जाय तो, यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा कोई भी चिह्न नहीं दिखाई देता जिससे यह आशा की जाय कि मानव-मन से उच्चतर कोई तत्त्व या अतिमानव-जैसी कोई चीज जड़-तत्त्व के इस जगत् मे आविर्भूत होगी। चेतना स्वयं अपनी उत्पत्ति और अपनी क्रियाओं के लिये जड़तत्त्व और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थूल साधनों की अपेक्षा रखती है और एक दोष-त्रुटिहीन सत्य-चैतन्य का होना, जैसा कि अतिमानस का होना हम मानते हैं, इन अवस्थाओं का विरोधी ही होगा। इसलिये उसे असंभव कल्पना कहकर उड़ा देना चाहिये। मुख्यतया भौतिक विज्ञान क्रमविकास को बाहरी आकार और प्राणिक क्रियाओं का विकास मानता है; उसकी दृष्टि में एक विशालतर और अधिक सक्षम चेतना का विकास प्राण और आकार के विकास का ही एक गौण फल है, वह क्रमविकास का कोई प्रधान या मुख्य विशेषत्व या परिस्थिति नहीं है और वह मन और प्राण के स्थूल मूल के द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं के परे नहीं जा सकता। मन ने अपने विषय में यह दिखा दिया है कि बहुत से असाधारण कार्य करने की क्षमता उसमें है, पर स्थूल आधार या भौतिक अवस्थाओं के बंधन से मुक्त हो जाना या स्थूल साधनों से प्राप्त न होनेवाली किसी प्रत्यक्ष और निरपेक्ष ज्ञान की शक्ति-जैसी किसी चीज को प्राप्त करने की क्षमता पा जाना प्रकृति की लादी हुई अवस्थाओं के परे की चीज होगी। अतएव एक विशेष स्थान पर आ जाने के बाद चेतना का क्रमविकास और आगे नहीं जा सकता। अगर कोई सुनिश्चित और स्वतंत्र वस्तु, जिसे हम अंतरात्मा कहते हैं, विद्यमान भी है तो यहां, जहां कि जड़तत्त्व ही आधार है, भौतिक जीवन ही परिस्थिति है और मन ही सबसे श्रेष्ठ संभाव्य साधन है, वह अपनी स्वाभाविक अवस्थाओं से सीमित है; यहां शरीर से अलग होकर या इस अन्नमय, प्राणमय या मनोमय प्रकृति को अतिक्रम करके चेतना के लिये कार्य करने की कोई संभावना नहीं है। यह बात हमारे यहां के क्रमविकास की सीमाओं को निश्चित कर देती है।

अतिमानस या सत्य-चैतन्य की आवश्यकता

यह भी कहा जा सकता है कि जब तक अतिमानस-जैसी, स्पष्ट रूप में पहचानी जाने योग्य, कोई चीज कुछ निश्चितता और पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं हो जाती अथवा जब तक अतिमानस अवतरित नहीं हो जाता और हमारी पार्थिव चेतना को अधिकृत नहीं कर लेता, तब तक हमें इस बात का निश्चय नहीं हो सकता कि वह है ही; उस अवस्था के आने तक मन ने एक साधारण विचारकर्त्ता के रूप में या सभी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के लिये सहायक क्षेत्र के रूप में स्थान ग्रहण कर रखा है। परंतु मन कोई भी निश्चित या पूर्ण-निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है, उसे सब बातों पर संदेह करना ही पड़ता है, सबकी जांच करनी ही पड़ती है और यह करते हुए सब कुछ अधिकृत करने का यत्न करना होता है; परंतु वह अपने ज्ञान में या अपनी सफलता में कभी सुरक्षित नहीं अनुभव कर सकता। यही बात, प्रसंगवश, किसी भी बुद्धिगम्य विश्व के अंदर अतिमानस या सत्य-चैतन्य जैसे एक तत्त्व की आवश्यकता को प्रस्थापित करती है, क्योंकि उसके बिना कोई समाधान नहीं रहता, जीवन या ज्ञान का कोई लक्ष्य नहीं रहता। उसके बिना चेतना अपने संपूर्ण अर्थ को, अपने चरम परिणाम को नहीं प्राप्त हो सकती; वह व्यर्थता के अंदर या असफलता के अंदर समाप्त हो जायगी। चेतना के अस्तित्व का मुख्य उद्देश्य ही है अपने सत्य और समस्त सत्य को जानना और वह तब तक ऐसा नहीं कर सकती जब तक उसे अज्ञान के अंदर और अज्ञान के द्वारा सत्य की ओर, ज्ञान की ओर जाना पड़ रहा है; उसे अपनी कोई ऐसी शक्ति विकसित या प्राप्त करनी होगी जिसका मूल स्वभाव ही हो स्वयं अपनी शक्ति से जानना, देखना और अधिकृत करना। यही वह शक्ति है जिसे हम अतिमानस कहते हैं और, एक बार जब हम इसे स्वीकार कर लेते हैं तब बाकी सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीजें समझ में आ जाती हैं। पर जब तक ऐसी स्थिति नहीं आती तब तक हम संदेह में रहते हैं और यह तर्क कर सकते हैं कि अगर अतिमानस को एक सत्य के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी इस बात का कोई निश्चय नहीं कि उसका आविर्भाव और उसका राज्य होगा ही : तब तक उस ओर जाने के सभी प्रयास असफलता में समाप्त हो सकते हैं। यह पर्याप्त नहीं है कि अतिमानस वास्तव में हमारे ऊपर विद्यमान हो, उसके अवतरण की संभावना मौजूद हो अथवा प्रकृति का भावी अभिप्राय हो। हमें तब तक इस अवतरण की सत्यता के ऊपर भरोसा नहीं है जब तक कि हमारी पार्थिव सत्ता के अंदर यह एक विषयीभूत, स्पष्ट व्यापार नहीं बन जाता। ज्योति बराबर ही पृथ्वी पर अवतरित होने की चेष्टा करती रही है, परंतु ज्योति आज भी असिद्ध और अपूर्ण अवस्था में ही है; मनुष्य ज्योति को अस्वीकार कर सकता है, संसार आज भी अंधकार से भरा हुआ है और ज्योति का आविर्भाव एक प्रकार के संयोग से थोड़ा ही अधिक प्रतीत होता है; इस संदेह का समर्थन भूतकाल की घटनाओं तथा आज भी भविष्य के लिये वर्तमान संभावनाओं के द्वारा कुछ हद तक होता है। यह संदेह केवल तभी टिके रहने में असमर्थ होगा जब कि एक बार यह स्वीकार कर लिया जायगा कि विश्वव्यवस्था का एक आनुषंगिक अंग अतिमानस भी है। अगर क्रमविकास जड़तत्त्व से अतिमानस की ओर जाता हो तो वह अतिमानस को जड़तत्त्व में उतार लाने का भी प्रयास अवश्य करेगा और उसका परिणाम सुनिश्चित है।

हमारी इस अनिश्चितता की सारी कठिनाई ही इस बात से उत्पन्न होती है कि हम इस जगत् के, जैसा कि यह है, समूचे सत्य की ओर सीधे नहीं ताकते और उसे देखकर निर्णय नहीं करते कि इस जगत् को कैसा होना चाहिये और कैसा हुए बिना यह रह ही नहीं सकता। इसमें संदेह नहीं कि यह जगत् आपाततः जड़तत्त्व के ऊपर स्थापित है; पर इसका शिखर है आत्मा और आत्मा की ओर आरोहण करना ही इसके अस्तित्व का उद्देश्य और इसकी सार्थकता होनी चाहिये और इसके अर्थ और अभिप्राय का सूचक होना चाहिये। परंतु आत्मा की इस प्रधानता और उसकी शीर्षस्थानीय स्थिति से जो स्वाभाविक निष्कर्ष निकाला जा सकता था वह आध्यात्मिकतासंबंधी उस मिथ्या या अपूर्ण भावना के द्वारा आच्छादित हो गया है, जिसे हमारी बुद्धि ने अपने अज्ञान के अंदर और साथ ही ज्ञान को अत्यधिक जल्दबाजी के साथ एकदेशीय दृष्टि से पकड़ने की अपनी वृत्ति के द्वारा निर्मित किया है। आत्मा के विषय में ऐसी मान्यता नहीं है कि वह कोई सर्वव्यापी वस्तु है और हमारी सत्ता का निगूढ़ सारतत्त्व है, बल्कि यह है कि वह एक ऐसी वस्तु है जो केवल ऊंचाई पर से नीचे हमारी ओर ताक रही है और हमें केवल ऊंचाइयों की ओर तथा शेष जागतिक सत्ता से दूर खींच रही है। अतएव हम इस सिद्धांत पर आ पहुंचते हैं कि हमारी विश्वगत और व्यष्टिगत सत्ता एक महान् माया है और इससे अलग हो जाना, हमारी चेतना में से व्यष्टि और विश्व दोनों की सत्ता का विलुप्त हो जाना ही एकमात्र आशा है, एकमात्र मुक्ति है। अथवा हम यह मत बना लेते हैं कि यह पृथ्वी अज्ञान-अंधकार, दुःख-कष्ट और परीक्षा का एक जगत् है और हमारा एकमात्र भविष्य है विश्वातीत स्वर्गों में भाग जाना; यहां पर हमारे लिये किसी दिव्य प्राप्ति या उन्नति की आशा नहीं है, इस पृथ्वी पर आत्यंतिक क्रमविकास होने पर भी शरीर के अंदर कोई परिपूर्णता प्राप्त होने की संभावना नहीं है, इस पार्थिव जीवन में कोई भी सिद्ध करने योग्य विजयी रूपांतर, कोई भी महान् उद्देश्य नहीं है। पर अतिमानस यदि हो, वह यदि अवतरित हो, वह यदि यहां का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियामक तत्त्व बन जाय तो मन के लिये जो सब चीजें असंभव प्रतीत होती हैं वे सब केवल संभव ही नहीं बल्कि अनिवार्य हो जायंगी। अगर हम गंभीरतापूर्वक देखें तो हमें यह दिखाई देगा कि मन और प्राण के अंदर, उनकी उच्चतम स्थिति में, अपनी निजी पूर्णता प्राप्त करने का, किसी दिव्य सिद्धि को पूर्ण करने का, अपने निजी निरपेक्ष पूर्ण स्वरूप को आयत्त करने का प्रयास चल रहा है। यही चीज, न कि केवल परे की और दूसरी जगह की कोई चीज, इस सतत क्रमविकास का और अविराम जन्म तथा पुनर्जन्म की यंत्रणा का तथा प्रकृति के वक्र आरोहण का यथार्थ लक्षण, वास्तविक अर्थ है। परंतु वस्तुओं के अंदर निहित जो यह अभिप्राय है, आत्मा और प्रकृति का जो यह प्रच्छन्न अर्थ है, यह केवल तभी एकदम दृष्टिगोचर हो सकता और अपनी सर्वांगपूर्णता के साथ सिद्ध किया जा सकता है जब कि अतिमानस का अवतरण हो जाय और मन तथा प्राण अपने आपको अतिक्रम कर परिपूर्णता प्राप्त कर लें। क्रमविकास की दृष्टि से अतिमानस का स्वरूप और तात्पर्य यही है, पर वास्तव में देखा जाय तो अतिमानस एक शाश्वत तत्त्व है जो गुप्त रूप से जड़ विश्व के अंदर भी विद्यमान है, समस्त सृष्टि का निगूढ़ आधार है; यही वह चीज है जो आपाततः निश्चेतन, जड़ जगत् के अंदर चेतना के आविर्भाव को संभव और सुनिश्चित बनाती है और प्रकृति को एक परम आध्यात्मिक सद्वस्तु की ओर ऊपर उठने के लिये बाध्य करती है। यह वास्तव में सत्ता का एक ऐसा लोक है जो पहले से ही है और बराबर ही विद्यमान रहता है, आत्मा और जड़तत्त्व की एक ऐसी गांठ है जो अपने सत्य और सत्स्वरूप में विश्व को धारण करती और उसके समूचे अर्थ और उद्देश्य को निश्चित रूप देती है।

क्रमविकास का मूल तत्त्व और उद्देश्य

अगर हम क्रमविकाससंबंधी अपनी वर्तमान भावना को अस्वीकार कर दें, अगर हम यह स्वीकार कर सकें कि क्रमविकास का मूलगत और प्रधान तत्त्व चेतना है, प्राणशक्ति और बाहरी आकार नहीं है, तथा चेतना की संभावनाओं का पूर्ण विकास ही क्रमविकास की प्रेरणा का उद्देश्य है, तो फिर सब कुछ बदल जायगा, सारी बातें और समस्याएं ही नया रूप धारण कर लेंगी। फिर जड़तत्त्व की निश्चेतनता–जड़ता ऐसी बाधा नहीं रह सकती जिसे पार न किया जा सके; क्योंकि उस समय हम इस निश्चेतनता के अंदर ही एक निवर्तित, प्रसुप्त चेतना को देख पायंगे जिसे यहां अभी विकसित होना है; मन और प्राण उस विकास के साधन और सोपान हैं; निश्चेतन जड़शक्ति की उद्देश्यपूर्ण प्रेरणा और उसकी क्रियाएं निश्चित रूप से ऐसी हैं कि हम यह कह सकते हैं कि उनके होने का कारण है एक प्रकार की यंत्रवत् कार्य करनेवाली निवर्तित चेतना का विद्यमान होना जो मन की तरह विचारों का उपयोग नहीं करती पर जो एक ऐसी चीज के द्वारा परिचालित होती है जो स्वाभाविक भौतिक सहजप्रेरणा की जैसी होती है, अपने सभी कार्यों में व्यवहारतः निर्भ्रांत होती है, जो अभी ज्ञानार्जन करने योग्य नहीं होती पर आश्चर्यजनक रीति से सृष्टि-क्षम होती है। पूर्ण रूप से और स्वाभाविक ढंग से आलोकित जिस सत्य-चैतन्य को हम अतिमानस का गुण-धर्म मानते हैं, वह भी वही सद्वस्तु होगा, क्रमविकास की एक अंतिम अवस्था में प्रकट होगा, अंत में विकसित होगा और अब अधिक दिनों तक पूर्ण रूप से निवर्तित नहीं रहेगा जैसा कि वह जड़तत्त्व के अंदर है अथवा अंशतः और अपूर्णतः विकसित नहीं होगा और इस कारण अपूर्ण बने रहने और भूल करने के लिये बाध्य नहीं होगा जैसा कि वह प्राण और मन के अंदर है, अब वह अपनी निजी स्वाभाविक अखंडता और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णता को अधिकृत कर लेगा, सज्ञान होकर यंत्र के रूप में कार्य करेगा, निर्भ्रांत-निर्दोष होगा। अतएव पूर्ण क्रमविकास की संभावना के विरुद्ध उठाई गई सभी आपत्तियां उड़ जाती हैं; बल्कि, यह संभावना अनिवार्य परिणाम का रूप ग्रहण कर लेती है जो केवल साधारण तौर पर समूची प्रकृति में ही वर्तमान नहीं है अपितु स्थूल जड़प्रकृति में भी है।

वस्तुओं को देखने का एक नया दृष्टिकोण

वस्तुओं के इस दृष्टिकोण के अंदर यह विश्व अपने एकत्व और पूर्णत्व के अंदर एक अद्वितीय दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई देगा, प्रकृति उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति के रूप में और क्रमविकास यहां जड़तत्त्व के अंदर उसके क्रमशः होनेवाले आत्म-प्राकटच की प्रक्रिया के रूप में प्रतीत होगा। हम देखेंगे कि जड़तत्त्व से लेकर चरम आत्मा तक आरोहण की एक सीढ़ी के रूप में विभिन्न जगतों की एक दिव्य क्रमपरंपरा विद्यमान है; हमारे सामने एक चरम अभिव्यक्ति की संभावना, भावी आशा स्वयं प्रकट होगी, जो अभिव्यक्ति तभी संभव होगी जब कि स्वयं आत्मा और उसकी शक्तियां अब और अधिक प्रच्छन्न और अस्पष्ट रूप में नहीं वरन् सचेतन रूप में जड़तत्त्व के इस निम्नतम जगत् में भी अपनी पूर्णता के साथ अवतरित होंगी। इस विश्व की पहेली अब और अधिक दिनों तक पहेली नहीं बनी रहेगी; वस्तुओं का संदिग्ध रहस्य अपनी जटिलता को, अपनी चिर-कालीन अस्पष्टता को दूर फेंक देगा, जटिल लेख स्पष्ट और बुद्धिगम्य हो जायंगे। इस अभिव्यक्ति के अंदर अतिमानस अपना स्वाभाविक स्थान ग्रहण करेगा और अब अधिक दिनों तक संसार की जटिलता से विभ्रांत बुद्धि के लिये संदेह या प्रश्न का विषय नहीं रह जायगा। ऐसा प्रतीत होगा कि यह मनोमय, प्राणमय और अन्नमय प्रकृति का अनिवार्य फल है, मन-प्राण-अन्न के अर्थ की, उनके स्वाभाविक तत्त्व और उनकी प्रवृत्तियों की परिपूर्णता है, उन-की अपूर्णता का आवश्यक पूर्णत्व है, वह शिखर है जिसपर सभी आरोहण कर रहे हैं, दिव्य सत्-चित्-आनंद की वह चरम परिणति है, जिसकी ओर यह सबको लिये जा रहा है, वस्तु-ओं के जन्म का अंतिम फल है और यहां जीवन में हम जिस क्रमवर्द्धमान अभिव्यक्ति को देख रहे हैं उसका चरम लक्ष्य है।

अतिमानसिक विकास का क्रम और फल

इस अतिमानस का पूर्ण आविर्भाव सिद्ध होने के लिये यह आवश्यक है कि यहां एक सर्वोच्च अभिव्यक्ति हो, पार्थिव चेतना में एक प्रकार का अवतरण हो और उसकी शक्ति-यां यहां शीघ्रता से आत्मसात् कर ली जायं और उसके रूपों को प्रकट किया जाय और एक अतिमानवजाति और अतिमानसिक जीवन की सृष्टि हो जाय; यही वास्तव में प्रकृति के अंदर उस अवतरण की क्रिया का संपूर्ण फल होना चाहिये। परंतु भूतकाल में पृथ्वी पर जो प्रकृति का क्रमविकास हुआ उसकी धारा इस प्रकार की नहीं रही है और बहुत संभव है कि यह अतिमानसिक विकास भी अपने क्रमों को निश्चित कर दे, यद्यपि यह एकदम उसी प्रकार का विकास नहीं हो सकता जिस प्रकार का विकास अब तक पृथ्वी देखती आ रही है। परंतु एक बार जहां वह आरंभ हो गया कि बाकी सब कुछ अनिवार्य रूप से और पूर्णता के साथ अवश्य अभिव्यक्त होगा और प्रकृति के सभी अंग अवश्य ही यथासंभव अधिक से अधिक ज्योतिर्मय और पूर्ण होने का प्रयास करेंगे। यही वह निश्चितता है जो हमें यह विश्वास करने का अधिकार प्रदान करती है कि मन भी और मनुष्यजाति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उस सिद्धि का प्रयास करेगी जो पूर्णतासंबंधी हमारे वर्तमान स्वप्नों से अत्यंत परे की चीज होगी। इस पार्थिव अज्ञान की वर्तमान अस्तव्यस्तता और संघर्ष के स्थान में एक ज्योतिर्मय मन स्थापित हो जायगा; यह भी संभव है कि मनुष्यजाति का जो भाग इस अवस्था को नहीं पहुंच सकेगा वह भी इस संभावना के विषय में सचेतन होगा और जान-बूझकर इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा; इतना ही नहीं, बल्कि इस ज्योतिर्मय तत्त्व के द्वारा मनुष्यजाति का जीवन आलोकित, उन्नीत, संयमित और सुसमंजस हो जायगा और यहां तक कि शरीर भी ऐसा बन जायगा जो अपनी स्वाभाविक वृत्तियों में बहुत कम शक्ति-हीन, अंध और पशु रह जायगा और बदले में एक नवीन और सामंजस्यपूर्ण परिपूर्णता प्राप्त करने में समर्थ हो जायगा। यही वह संभावना है जिसकी ओर हमें अपनी दृष्टि ले जानी है और इसका अर्थ होगा कि एक नई मनुष्यजाति उत्पन्न होगी जो ज्योति के अंदर उन्नीत होगी, एक अध्यात्मभावापन्न सत्ता प्राप्त करने और आध्यात्मिक कर्म करने में समर्थ होगी, सत्य-चैतन्य की किसी ज्योति के परिचालन की ओर खुली होगी, अपने मानसिक स्तर और अपने निजी जीवनक्रम में भी कुछ ऐसी चीज पाने के योग्य होगी जिसे दिव्य-भावापन्न जीवन का आरंभ कहा जा सके।

—श्रीअरविन्द

दूसरों की आलोचना और वादविवाद

जो कोई भी अपना समय दूसरों के गुण-अवगुणों की आलोचना में बिताता है, वह अपना समय गंवा रहा है; क्योंकि वह समय उसकी अपनी आत्मा या परमात्मा के चिंतन में नहीं बल्कि दूसरों की आत्मा के चिंतन में व्यय होता है।

★

केवल वाद-विवाद से तुम किसी को निश्चित रूप से उसका दोष जतला देने में कभी सफल नहीं होगे। प्रत्येक मनुष्य अपने दोष तभी समझ पायगा जब उसपर भगवान् की कृपा अवतरित होगी।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

★

मेरे बेटे, वादविवाद में अपना समय बिताना छायाओं के साथ लड़ाई करना है।

—र्हार्मिज

★

निरर्थक और मूर्खतापूर्ण विवादों से बचो, यह जानते हुए कि उनसे लड़ाई-झगड़े पैदा होते हैं।

अज्ञानी लोग यदि चुप रहें तो कलह का अंत हो जाय।

—सुकरात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोक के पथ पर--

नियति की धारा

ले० श्री नलिनीकांत गुप्त

प्रत्येक मनुष्य की अपनी अपनी नियति होती है। नियति की धारा का अनुसरण करते हुए चलने के लिये वह बाध्य होता है; उसका जीवन भाग्यचक्र के आवर्तन के इशारे पर बनता-बिगड़ता है।

इस गति का लक्ष्य है जीव को नाना अभिज्ञताओं के भीतर से क्रमशः ऊर्ध्वतर, बृहत्तर, समृद्धतर चेतना की ओर लिये जाना।

मनुष्य संसार में परस्पर के बीच संबंध जोड़ता और प्रति जन्म में उन्हें तोड़ता या छोड़ता, बदलता चलता है सो यह सब प्रत्येक की अपनी अपनी नियति की प्ररोचना के अनुसरण पर करता है।

नियति का एक दूसरा नाम है कर्मसूत्र–जिसकी उत्पत्ति अंतरात्मा के प्रयोजन से होती है।

अंतरात्मा के प्रयोजन का अर्थ है अंतरस्थ भगवान् की इच्छा।

संसार में वही ज्ञानी हैं, श्रेष्ठ हैं, आदर्श हैं जो अपने नियति-निर्दिष्ट आवेष्टन का–संबंधावली का–कर्त्तव्य यथायथ संपादित किये जाते हैं, किंतु अनासक्त होकर, फलाकांक्षा-शून्य होकर–'निराशीनिर्ममो भूत्वा'।

अपना मानकर नहीं–अपने देश, अपने समाज, अपने परिवार की यदि सेवा करूं तो इसलिये नहीं कि वे मेरे अपने हैं, बल्कि वे मेरी जन्मजन्मांतरव्यापी समग्र जीवन-साधना में एक विशेष अवस्था–उपयोगी धर्म-कर्म के क्षेत्र हैं, इसलिये।

प्रत्येक जीव ही स्वाधीन स्वतंत्र है–दूसरों के साथ उसका संबंध गौण है; मुख्य संबंध है उसकी अपनी नियति–अपने अंतर्यामी भगवान्–के साथ। दूसरे के साथ उसका संबंध उतना ही सार्थक है जितना वह उसकी व्यक्तिगत नियति–व्यष्टि–के बीच भागवत सत्ता को स्फुट और सत्य कर पाती है।

किंतु मनुष्य और भी ऊपर उठ सकता है।

विकास के उच्चतम शिखर पर वह तभी आरूढ़ होता है जब नियति की धारा का केवल अनुसरणमात्र करता हुआ नहीं चलता, परंतु स्वयं उस धारा को देख-सुनकर ज्ञानपूर्वक गढ़ता है।

भीतर के प्रयोजन के अनुसार वह अपने जन्म और कर्म की स्वयं ही सृष्टि करता है, आवेष्टन और परिजन का स्वयं ही निर्वाचन कर लेता है।

अवश्य ही इसके लिये जानना पड़ता है अंतरात्मा को, चीन्हना-पहचानना होता है अंतरस्थ भगवान् को–आविष्कृत करना होता है, उपलब्ध करना होता है एक अभिनव धर्म और कर्म को–एक लोकोत्तर साधना और सिद्धि को।

(अनुवादक—मोहनलाल वाजपेयी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यात्म-जिज्ञासा और पश्चिम

ले०—श्री जेरल्ड हर्ड

(योरुप की आधुनिक संस्कृति सर्वथा बुद्धि-प्रधान है। विज्ञान और शिल्प ही नहीं बल्कि जीवन और सत्तासंबंधी इसके दर्शन भी सर्वथा बौद्धिक रचनाएं हैं। यहां तक कि आध्यात्मिक जीवन को भी यह प्रधानतया विचार और बुद्धि से ही अधिगत करना चाहती है। बौद्धिक संस्कृति के इस सामान्य प्रवाह और प्रभाव से पश्चिम में बहुत कम ही विचारक बचे हुए हैं। परंतु जो थोड़े से हैं उनमें जेरल्ड हर्ड, निश्चय ही, प्रमुख हैं। आप आध्यात्मिक जीवन के सच्चे जिज्ञासु और साधक हैं। आपकी जन्मभूमि इंग्लैंड है परंतु आपका निवास अमरीका (कैलीफोरनिया) में है जहां आपका एक आश्रम है। सुनने में आता है कि इस आश्रम का वातावरण निश्चित रूप में क्रियात्मक तथा आध्यात्मिक प्रेरणा से परिपूर्ण है।

आप आध्यात्मिक चेतना को व्यक्ति तथा समाज के विकास का अनिवार्य लक्ष्य मानते हैं और कहते हैं कि विकासक्रम में एक नई मानवजाति पैदा होगी जो आत्मिक चेतना को स्वभावतः उसी प्रकार अधिकृत करेगी जिस प्रकार आज की मानवजाति मानसिक चेतना को अधिकृत करती है।

आप भारतीय अध्यात्मवाद के विशेष भक्त हैं और अपने ग्रंथों में इसकी विस्तृत चर्चा करते हैं।

प्रस्तुत लेख उनके कुछ एक विचारों तथा भारतीय संबंध को विशेष रूप से प्रदर्शित करता है। —सं०)

आजकल आध्यात्मिक जीवनसंबंधी पुस्तकों की मांग बढ़ रही है। किंतु ऐसी पुस्तकों की मांग करना जितना आसान है उसे पूरा करना उतना आसान नहीं। धार्मिक पुस्तकें तो अब भी हजारों की संख्या में छपती हैं, परंतु आधुनिक जिज्ञासु की आवश्यकता पूरी करनेवाली पुस्तकों की एक छोटी सी सूची भी तैयार करना कठिन है। यह क्यों? कुछ तो इसका कारण यह है कि अधिकतर धार्मिक पुस्तकें वृत्तिभोगी लेखकों (professionals) से विशेष शैली में अपने संप्रदाय-विशेष के पक्ष की पुष्टि के लिये लिखी जाती हैं। यह ठीक है कि ऐसे लेखक अपने पाठकों को निश्चित रूप से सुख और आत्मज्ञान प्राप्त कराना चाहते हैं। किंतु यह सिद्ध करना भी उनका कर्तव्य होता है कि हमारा धर्म सच्चा है और बहुधा यह भी कि केवल हमारा ही धर्म सच्चा है। यह चीज उन धर्मों के लिये सदैव एक बड़ी भारी रुकावट थी, जो कि पहले भी अनुदार थे और अब भी अधिकांश में अनुदार हैं, पश्चिम में अभी हाल तक सिर्फ ऐसे ही धर्मों का प्रचार था। जो लोग आज आध्यात्मिक जीवन के संबंध में जिज्ञासा रखते हैं उनमें से अधिकतर अपने उस धर्म को छोड़ चुके हैं जिसमें उन्होंने अपनी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी; अथवा उनसे पहले ही उनके माता-पिता उसे छोड़ चुके थे, कारण, वह धर्म अपनी बहुत सी उक्तियों की सच्चाई के बारे में असावधान था और जो लोग इस सच्चाई के संबंध में गंभीर शंका करने का साहस करते थे उनकी ओर तो वह नितांत अनुदार था। इसलिये यदि उन लोगों को ऐसे धर्मविज्ञान के शब्दों में आध्यात्मिक बातें बताई जायंगी तो वे इनके प्रति आकृष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो होंगे ही नहीं, वरन् वे इनसे दूर ही दूर भागेंगे। इनके प्रति उनके मन में घृणा ही पैदा होगी। धर्माचार्यों और पुरोहितों के लिये यह समझ सकना अत्यंत कठिन है कि पुनः धर्म की राह पर आने का अर्थ कट्टरता की ओर लौटना नहीं बल्कि अध्यात्म में पुनः रुचि पैदा होना है और इसका कारण यह नहीं कि किसी ऐतिहासिक घटना की व्याख्या अधिक विश्वसनीय हो गई है। वास्तव में सत्य इसके बिल्कुल विपरीत है।

क्या कारण है कि आजकल बहुत से लोग अध्यात्म के संबंध में विशेषज्ञों से सुनना चाहते हैं? इसलिये कि आर्थिक विप्लव असफल रहा है और समाप्त हो चुका है और मनोवैज्ञानिक क्रांति आरंभ हो चुकी है। स्वतंत्र विचारवाले लोग आज मन का नया साम्राज्य खोजने में लगे हैं, मतों और संस्कारों के सहारे नहीं, अपितु नृतत्त्व-विज्ञान, मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक गवेषणा के बल पर। ऐसे लोग धर्म के ठेकेदारों से नहीं बल्कि सच्चे धर्माभ्यासियों से उनके अनुभव पूछ रहे हैं, वे कोई सिद्धांत अथवा बंधी-बंधाई प्रणाली नहीं जानना चाहते, वे तथ्य के जिज्ञासु हैं। आज संसार को जिस चीज की आवश्यकता है, और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अग्रगामी जिसकी टोह में हैं, वह है एक मनोवैज्ञानिक या अध्यात्मवेत्ता जिसने मनोभौतिक-विज्ञानी के संकुचित सिद्धांतों और मनोविश्लेषक की सीमित प्रक्रियाओं को अतिक्रांत कर रखा हो, जो मनोवैज्ञानिक गवेषणा के तथ्यों को भी व्यवस्थित कर सकता हो और जो अंत में इस सारी क्रिया की उपयुक्तता के सच्चे प्रमाण के रूप में अपने जीवन में समन्वय ला सकता हो; फिर उसका वह समन्वित जीवन सब अनुभवों की व्याख्या भी कर सकता हो तथा उन्हें अंगीकार कर उनका आशय बता सकता हो। यही कारण है कि आजकल प्रोटैस्टेंट लोगों (Protestants) की रुचि फ्रांस्वा डी सेल्स (Francois de Sales) और फैनीलों (Fenelon) जैसे महान् आध्यात्मिक विशेषज्ञों की कृतियां पढ़ने में उत्तरोत्तर बढ रही है। ये लेखक आरंभ से ही सिद्ध जंचने लगते हैं। ये सिद्धांत की बात बहुत कम और विधि के संबंध में अधिक बताते हैं। ये दोनों व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं और विशेष शिक्षा और परामर्श देने में रुचि रखते हैं। ये सामाजिक संगठन का उपयोग करते हैं लेकिन तभी जब वह व्यक्तिगत चेतना और चरित्र के विकास के लिये अनुकूल तथा सहायक होता है। पाठक को इनमें जो एक और विशेषता दृष्टिगोचर होती है वह है इनकी शैली। जब हम किसी डाक्टर के पास जाते हैं तो हम उससे वाक्पटुता और मनोहर शब्दोपहार की इच्छा नहीं करते। हम उससे मनोमोहक वक्तृत्व और काव्य नहीं चाहते, हम तो चाहते हैं रोगनिदान और औषध। काव्य और वह भी घटिया प्रकार का, दूसरे शब्दों में तुकबन्दी, वक्तृता अर्थात् साप्ताहिक धर्मोपदेश और वह भी बहुधा उतना ही निस्तेज जितनी कि तुकबंदी, यही प्रोटैस्टेंटों की शिक्षण और निर्माण की दो प्रामाणिक शैलियां हैं। सुप्रसिद्ध रोमन केथोलिक धर्माध्यक्षों की अपने अनुयायियों में अथवा अन्य क्षेत्रों में जो ख्याति है उसका कारण यह है कि वे बड़े निदाननिपुण मनोवैज्ञानिक होते हैं और सदा संक्षिप्त और उपयुक्त परामर्श देते हैं। उनके लेख शताब्दियों तक हजारों मनुष्यों के लिये उपयोगी पाये गये हैं पर वे, बड़े चिकित्सकों की तरह, अवस्थाविशेष और व्यक्तिविशेष के लिये परामर्श देते हुए प्रतीत होते हैं।

मंत्रणा वास्तव में तब तक बहुत लाभदायक नहीं होती जब तक कि वह किसी प्रश्न के उत्तर में न दी गई हो। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि इसका लाभ प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा की तीव्रता के अनुपात में होता है। यद्यपि आत्मासंबंधी उलझनों का निरीक्षण करनेवालों को पश्चिमी अध्यात्म-विशेषज्ञों से अचूक सहायता मिलती है और यद्यपि वे संकल्प-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति द्वारा आत्म-संयम की झूठी आशा दिलानेवाले उतावले बुद्धिवाद और "मनुष्य-स्वभाव न कभी सीखता है और न कभी उसे सिखाया जा सकता है" का ढिंढोरा पीटनेवाली हताश भावुकता के बीच का आशा का मार्ग साफ साफ दिखा देते हैं, तथापि हमारी आवश्यकता निश्चित रूप में इससे अधिक है। अध्यात्म-विशेषज्ञ सहमत हैं और कहते हैं कि बिना धार्मिक कृत्यों और आशीर्वादों के, जो चर्च द्वारा ही सम्पन्न तथा प्राप्त होते हैं, अवनति रोकना तो संभव है किंतु उन्नति साधित करना सर्वथा असंभव है। मनुष्य "सामान्य स्वस्थ अवस्था" लाभ कर सकता है और इस योग्य बन सकता है कि वह समाज को स्वीकार कर सके और समाज उसे अंगीकार कर सके। संभव है वह विश्वसत्ता को भी इस तन्मयता से स्वीकार कर सके जो प्रत्यक्षतः शांति-लाभ की अवस्था प्रतीत हो किंतु उसे निजका ज्ञान, दूसरों का और प्रकृति का ज्ञान प्राप्त नहीं होंगे, जिसके बिना यह संसार और जीवन एक साहसपूर्वक सुलझाने योग्य पहेली ही बने रहेंगे। यहां पर पाठक को, जिसे पश्चिमी धर्माध्यक्षों की शिक्षा से लाभ हुआ है, अपने-आपसे पूछना पड़ जाता है कि यदि मुझे किसी प्रकार की पूर्णता प्राप्त करनी है तो क्या मुझे उनके संप्रदाय में शामिल न हो जाना चाहिये अथवा क्या ऐसा करना मेरे लिये आवश्यक नहीं है? इस उलझन या इस प्रश्न से उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य लोगों को बड़ी वेदना हुई थी। वे चिंतित थे कि क्या हम अध्यात्म-ज्ञान के लिये ऐसे संप्रदाय में सम्मिलित होवें जो बाकी सबका बहिष्कार करता है, और जो अविश्वासियों को दंड देने के अधिकार का दावा करता है। कारण, यह मानता है कि केवल इसी को सत्य का ज्ञान है? प्रसिद्ध अंग्रेज कवि मैथ्यु आर्नल्ड ने आवाज उठाई थी कि "क्या मनुष्य को पागल अथवा गुलाम होना ही चाहिये?" एक ओर तो था भौतिक बुद्धिवाद जो उत्तरोत्तर अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिये बाह्य संसार का संचालन कर रहा था, परंतु मनुष्यों से न्यायसंगत आचरण कराने में निरुपाय था। दूसरी ओर था मनोवैज्ञानिक-दृष्टियुक्त चर्च जो विशेष विशेष प्रकृतियों का रूपांतर करने में सक्षम था, परंतु वह प्रत्यक्ष ऐतिहासिक सच्चाइयों और वैज्ञानिक प्रमाणों की ओर उतना ही उदासीन था जितना कि वह मानव अधिकारों की अवज्ञा करता था।

वह दुविधा अब समाप्त हो चुकी है। संभव है कि इतिहासरचयिता हमारे युग पर दृष्टि डालते हुए परमाणु-शक्ति के आविष्कार या वनस्पतियों की हरितता के स्थिरीकरण की अपेक्षा इस परिवर्तन को मनुष्यसमाज के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण मानें। अब हम देखते हैं कि परंपरागत धर्म हमें अध्यात्म-शिक्षा के लिये विधि-विधान के रूप में जो कुछ दे सकता है वह सब हम वेदांत के बढ़ते हुए ज्ञान से प्राप्त कर सकते हैं, सत्य-पथ से तिलभर भी हटे बिना प्राप्त कर सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि हम दूसरे धर्मों और मार्गों की ओर उदार भी बने रह सकते हैं और पाश्चात्य अध्यात्म द्वारा अब तक प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा अधिक गूढ़ और विशाल ज्ञान की आशा कर सकते हैं। इसके लिये दो छोटे छोटे उदाहरण देना उचित होगा।

प्रथम है पाश्चात्य अध्यात्मवेत्ताओं का आंतरिक तथ्यों (Psychic phenomena) की ओर दृष्टिकोण। विशाल विश्वोत्पत्तिविषयक ज्ञान और वेदांत के सूक्ष्म मनोविज्ञान के अभाव में यहां अंतर्दर्शन और सब प्रकार की आध्यात्मिक सिद्धियां या तो चर्च के सिद्धांतों को प्रमाणित करनेवाली मान ली गईं और इसी लिये जिन्हें ये प्राप्त हुईं उनकी आध्यात्मिक पदवी ऊंची कर दी गई तथा प्रभाव बढ़ा दिया गया, या यदि वे सिद्धियां चर्च के सिद्धांतों का समर्थन नहीं करती थीं तो वे जादू और छल करार दे दी गईं। निःसंदेह इनका जान आफ दी क्रास (John of the cross) जैसा महान् गुरु मानता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक तीसरा समाधान भी है जो मानव मन की अज्ञात शक्तियों के ज्ञान से प्राप्त हो सकता है। किंतु यह विषय कैसा विशाल है और आध्यात्मिक विकास के लिये यह कितना महत्त्व-पूर्ण है इस संबंध में उसकी अपनी धारणा अत्यंत अस्पष्ट है और इसलिये भक्ति के जीवन में उन्नत साधकों के पथप्रदर्शन के लिये जिस निपुण सावधानता की आवश्यकता है उसके विषय में भी उसका ज्ञान अत्यंत धुंधला है।

दूसरा उदाहरण पूर्वोक्त के सदृश ही है। पश्चिम को मनोदैहिक विद्या का ज्ञान न होने के कारण उसकी मन और शरीर को सधाने की विधियां अत्यंत अपक्व और संकटपूर्ण थीं। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि "अनुशासन" अर्थात् चाबुक अब भी सब बंद मठों में प्रयोग में लाया जाता है, जब हम शारीरिक तपस्या का, जैसा कि यह रोमन कैथोलिक मत में मानी जाती है, अध्ययन करते हैं और जब हम ऐसी विधियों की भयानक स्थूलता की, वेदांत और महायान में और निःसंदेह हीनयान में प्रयोग की जानेवाली विधियों की सूक्ष्मता, पूर्णता और विचित्रता से तुलना करते हैं, तो हम पूर्व की विधियों की अद्वितीय श्रेष्ठता देखते हैं। निःसंदेह जिस प्रकार हमने अब तक एशिया को एक ऐसा सीमा-प्रदेश समझा है जहां हमारा भौतिक विज्ञान केवल अभी अभी घुसना शुरू हुआ है, उसी प्रकार अब हमें अपने पश्चिम को अंधकार का एक ऐसा घेरा समझना चाहिये जिसमें आखिरकार सच्चे पूर्वीय मनोविज्ञान और मनोदैहिक विज्ञान प्रवेश कर रहे हैं।

अंत में विचार का विषय, वेदांत और इसकी शाखाओं महायान और हीनयान के ज्ञान-सूत्रों का भाष्य, उस संकुचित और उतावले चित्र की अपेक्षा कितना विशाल और कितना विवेकपूर्ण है जिसे रोमन कैथोलिक मत ने पिछड़े हुए यहूदी मत से लिया था और जिसका पुनर्निर्माण और विस्तार करने का नैतिक साहस उसे नहीं हुआ। नित्य नरक तथा नित्य स्वर्ग (Eternal punishment) का सिद्धांत, जो यहूदी भाव-भावनाओं और यूनानी दार्श-निक विचार का भद्दा मिश्रण है, पाश्चात्य अध्यात्म-जिज्ञासुओं के लिये सदा हौआ और बाधा बना रहा है। महान् तत्त्वविज्ञान के कारण वेदांत, न्यायपरता को सुरक्षित रखते हुए, इसे ईश्वरीय करुणा के साथ एकरस कर सका है। केवल इसी एक महत्त्वपूर्ण विचार से ही, ईश्वरीय ज्ञान की पूर्वी व्याख्या पश्चिम की सभी व्याख्याओं की अपेक्षा, परम ज्ञान के लिये अधिक अचूक पथप्रदर्शक है। फिर भी बहुत से लोग जब कोई पूर्वी मूल-ग्रंथ उठाते हैं, उदाहरण के लिये, शंकर का "विवेकचूड़ामणि" या पतंजलि के सूत्र, तो वे इनके विचार की सूक्ष्मता और इनके सारगर्भित प्रतिपादन से घबरा जाते हैं। अंतएव उन्हें पहले भारतीय अध्यात्मज्ञान के वर्तमान गुरुओं की कृतियों का अध्ययन करना चाहिये।

—'वेदांत केसरी' के सौजन्य से

(अनुवादक—जगदीशचन्द्र)

श्रीअरविन्द संसार के सर्वाधिक महान् आध्यात्मिक गुरुओं में से हैं। जो लोग प्रकाश के दर्शन करना चाहते हैं और उस अंधकार से मुक्त होना चाहते हैं जिसमें वे सब तरफ से घिरे हुए हैं, वे उनकी शिक्षाओं में उन्नतिप्रेरक सूत्र प्राप्त कर सकेंगे।

—एम. एस. अणे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के गुह्यविद् और दार्शनिक श्रीअरविन्द

लेखक–चिल्ली के भारतस्थित राजदूत डाक्टर जूआं मारिन

(डा. जूआं मारिन चौंतीस पुस्तकों के लेखक हैं और साहित्यिक उत्कृष्टता के लिये दो वर्ष 'चिल्ली राष्ट्रीय पारितोषिक' प्राप्त कर चुके हैं। आप चिल्ली और दक्षिणी अमरीका के एक दर्जन समाचारपत्रों, साहित्यिक और वैज्ञानिक पत्रिकाओं के लिये नियमपूर्वक लिखते रहते हैं। राजदूत के रूप में आप चीन, मध्य अमरीका, मिस्र, सीरिया, लेबेनान आदि में अपने देश का प्रतिनिधित्व कर चुके हैं। आज जितने भी कूटनीतिज्ञ नई दिल्ली में हैं उन सबमें आप निर्विवाद रूप से अधिक योग्य हैं। प्रस्तुत लेख आपने अपने देशवासियों को श्रीअरविन्द का परिचय कराने के लिये लिखा था, जो दक्षिण अमरीका के कई पत्रों में प्रकाशित हो चुका है। यह हमारे पाठकों के लिये जरूर रोचक होगा। –सं०)

नोबल-पुरस्कार-प्राप्त कवयित्री श्री गेबरिला मिस्ट्राल का मेक्सिको से मुझे एक पत्र आया। उससे मुझे श्रीअरविन्द और उनके आश्रम का परिचय प्राप्त हुआ। उनके आश्रम से मेरा अभिप्राय उनके साधनालय, मंदिर और एकांतधाम से है। अपने इसी आश्रम में वे जगत्-प्रसिद्ध "गुरु" एकांतवास कर रहे हैं। बहुत वर्ष पहले जब उन्होंने अपने आपको अनन्य भाव से आध्यात्मिक जीवन पर न्योछावर करने के लिये "संसार का त्याग किया था" तभी से वे बराबर यहीं हैं। उनके पास पहुंचने के लिये हमें भारत की सीमाएं पार करके इसके दक्षिण-पूर्वी तट पर पांडिचेरी नाम के छोटे से फ्रांसीसी प्रदेश में प्रवेश करना पड़ता है। यह प्रदेश भी आज संपूर्ण एशिया की तरह राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की प्रबल आंधी से आलोड़ित हो रहा है। इसी छोटे से नगर में 'पांडिचेरी के ऋषि' अभेद्य नीरवता में निवास करते हुए दृश्य और अदृश्य जगतों के स्पन्दनों को तन्मयता से सुनते हैं। यहीं हमने उनके पास यह समाचार पहुंचाया था कि हमारी महान् देशबहिन श्रीमती गेबरिला मिस्ट्राल ने अगले वर्ष साहित्य के नोबल-पुरस्कार के लिये उनका नाम प्रस्तावित किया है।

श्रीअरविन्द की अनेक भव्य साहित्यिक कृतियां हमारे सम्मुख हैं जो इस बात का पूर्ण प्रमाण हैं कि वे ऐसे उच्च गौरव के अधिकारी हैं। उनका उत्कृष्ट 'गीता-प्रबंध', उनकी संक्षिप्त, गंभीर और सूत्रबद्ध सी 'माता', 'योग-समन्वय' का पहला भाग और उनकी चमत्कारक अत्युत्तम रचना 'दिव्य जीवन', जो उनके दर्शन और गुह्यज्ञान का शिखर है और श्रेष्ठ सार है। स्मरण रहे कि इन कृतियों के रचयिता ने युवावस्था में एक उच्च कोटि के अंग्रेजी विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी; अतएव उन्होंने हमारे लिये प्रसादपूर्ण काव्यमय अंग्रेजी गद्य में अपनी भगवदनुभूति का वर्णन किया है और हमें लौकिक आचार-व्यवहार के नियमों सहित उच्च नैतिक ज्ञान प्रदान किया है। यहां एक ऐसे मनुष्य का अद्भुत दृष्टांत हमारे सामने है जो प्रथम श्रेणी के क्रांतिकारी नेता के रूप में जीवन में पदार्पण करता है तथा अपने देश की स्वतंत्रता के लिये जीवन-मरण-संग्राम में तल्लीन हो जाता है। जेल की कालकोठरी में रहते हुए वह एकाएक नए पथ पर चलने के लिये भगवान् की पुकार सुनता है, 'एकं सत्' का, विश्व के महान् मन का उद्बोधन श्रवण करता है। अपनी जाति के पवित्र ग्रंथों अर्थात् वेदों, उपनिषदों, पुराणों और सूत्रग्रंथों में पारंगत और साथ ही साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाइबल, कुरान और अवस्ता में सुरक्षित शिक्षाओं में निष्णात श्रीअरविन्द, सन् १९१० में, इसी भूतल पर दिव्य जीवन उपलब्ध करने के ध्येय के लिये अपने आपको पूरी तरह अर्पित कर देते हैं।

उनका जन्म कलकत्ते में सन् १८७२ में हुआ। उनके पिता ने उन्हें छोटी आयु में ही शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंग्लैंड भेज दिया। लंदन में वे "लोटस और डैगर" (कमल और खड्ग) नाम के एक गुप्त दल के सदस्य बन गये। यह दल हिंदू नवयुवकों का संगठन था और इसका ध्येय था अंग्रेजों को भारत से बल-प्रयोग द्वारा बाहर निकालना। भारत में लौटते ही युवा श्रीअरविन्द ने विविध प्रभावशाली कार्यक्षेत्रों में प्रवेश कर अपनी जीवनयात्रा शुरू की: कालिज के शिक्षक, एक उच्च कोटि के साप्ताहिक पत्र के संपादक, सार्वजनिक सभाओं के वक्ता, संस्थाओं के व्यवस्थापक और सरकार के विरोधी दल के नेता। शीघ्र ही वे अंग्रेजों के पहले नंबर के प्रकट वैरी बन गये।

पर ये सब तो पुरानी बातें हैं। हम देख चुके हैं कि कृष्णमंदिर में बंदी रहते हुए ही वे योग में प्रवीण हो चुके थे और उन्हें भगवान् के दर्शनों का प्रसाद भी प्राप्त हुआ था। अब वे गत उनतालीस वर्षों से आत्म-चिंतन और ध्यान का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बहुत वर्षों के मौन अभ्यास के पश्चात् अतिमानस की महान् उपलब्धि द्वारा उन्हें समग्र भागवत सद्वस्तु का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। इस अद्भुत ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर उन्होंने हिंदूधर्म के पवित्र ग्रंथों की व्याख्या लिखनी आरंभ की। उनकी पुस्तकें विशुद्ध आध्यात्मिक रत्नों से परिपूर्ण हैं।

किंतु यह मानना गलत होगा कि श्रीअरविन्द अपने देश की भवितव्यता की कुछ भी परवाह नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि भारत की स्वतंत्रता और पुनरुत्थान के आंदोलन के पग पग पर बराबर लगी रही है और अब भी भारतीय राष्ट्र के जीवन की बहुमुखी प्रगति की ओर उनका ध्यान रहता है। बहुत ही कम अवसरों पर वे किसी एक अथवा दूसरे कार्यक्रम की पुष्टि में अपनी सम्मति साफ शब्दों में प्रकट करते हैं। पहले के क्रांतिकारी योद्धा और आज के योगी श्रीअरविन्द में भेद इस बात में है कि अब वे आध्यात्मिक खोजों में रत रहते हैं और संसार में परिवर्तन लाने के लिये प्रधानतया अपनी शक्ति के गुप्त प्रभाव पर ही विश्वास रखते हैं। उनके मत में, भारत को आह्वान हुआ है कि वह भावी संसार में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग ले; विशेषकर, राष्ट्रों में शांति और समरसता स्थापित करने के सभी कार्यों में योग दे। उनका यह भी विश्वास है कि उच्च दार्शनिक और नैतिक मूल्योंवाली आर्य संस्कृति का पुनरुत्थान होगा और मनुष्यजाति की भलाई तथा उसके भावी भाग्य के लिये संसार में इसका प्रचार होगा। इसी विश्वास के कारण वे उपनिषदों और गीता में सुरक्षित हिंदूधर्म के पवित्र ज्ञान में रस लेते हैं और इसी से वे उस ज्ञान की व्याख्या और प्रसार की प्रेरणा भी प्राप्त करते हैं।

श्रीअरविन्द की कृतियों को समझना सदा सुगम नहीं होता। उसके लिये असाधारण मानसिक एकाग्रता, अंग्रेजी भाषा का सम्यक् ज्ञान और कुछ संस्कृत शब्दों के साथ साथ हिंदू दर्शनशास्त्रों का तारतम्यपूर्वक ज्ञान आवश्यक है। श्रीमती गेबरिला मिस्ट्राल के शब्दों में श्रीअरविन्द की कृतियां समुद्रतटवर्ती उन ऊंची चट्टानों जैसी प्रतीत होंगी, जो ठंडी, रपटीली और ढालू होने के साथ साथ पथरीले मार्गों के कारण निरुत्साहित करती हैं और जिनका सामना इसी लिये विशेष उत्साह से करना होता है। किंतु यह सब होते हुए भी उनकी कृतियां अपने आध्यात्मिक पोषण के अमूल्य तत्त्व के कारण संपूर्ण यूरोपीय साहित्य में अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सानी नहीं रखतीं। पांडिचेरी के ऋषि श्रीअरविन्द एक अतिश्रेष्ठ महान् अन्वेषक हैं जो स्वयं उन जगतों की ओर, जिनकी अभी तक हमें धुंधली छाया भर दिखाई देती है, यात्रा कर रहे हैं और हमें भी उस ओर ले चल रहे हैं।

सद्हृदयता

२

सच्चे हृदय से की हुई प्रत्येक अभीप्सा फलवती होती है; यदि तुम सद्हृदय हो तो तुम अवश्य ही उत्तरोत्तर दिव्य जीवन प्राप्त करोगे।

पूर्ण रूप से सद्हृदय होने का अर्थ है—एकमात्र भागवत सत्य की कामना करना, भगवती माता के प्रति अधिकाधिक आत्मसमर्पण करते रहना, इस एक अभीप्सा के सिवा अन्य सभी वैयक्तिक मांगों और कामनाओं का त्याग करना, जीवनका प्रत्येक कर्म भगवान् के चरणों में अर्पित करना, प्रत्येक कर्म को भगवान् का सौंपा हुआ समझकर करना और उसमें कहीं भी अहंकार को न आने देना। यही दिव्य जीवन का आधार है।

परंतु मनुष्य एकबारगी ही पूरा पूरा ऐसा नहीं हो सकता; यदि वह नित्य-निरंतर अभीप्सा करे और सदा सच्चे हृदय तथा सत्य-संकल्प के साथ भागवत शक्ति की सहायता को पुकारता रहे तो वह अधिकाधिक इस चेतना को प्राप्त करता जायगा।

*

सद्हृदयता का अभिप्राय यह है कि चेतना और अनुभूति का जो ऊंचे-से-ऊंचा स्तर तुमने प्राप्त किया हो उसी स्तर तक अपनी सत्ता की सभी गतियों को ऊंचा उठा ले जाओ।

सद्हृदयता हमारी संपूर्ण सत्ता को, उसके सभी अंगों और चेष्टाओं को केंद्रीय भागवत चित्शक्ति के चारों ओर एकीभूत तथा समन्वित करके ही छोड़ती है।

*

जो लोग पूर्ण सद्हृदयता से माताजी के लिये नाम करते हैं उन्हें वह काम ही यथार्थ चेतना की प्राप्ति के लिये तैयार कर देता है, चाहे वे कभी बैठकर ध्यान न भी करें या योग का कोई खास साधन न भी साधें। ध्यान कैसे किया जाय यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। यदि तुम अपना काम करते हुए तथा सदा-सर्वदा ही सद्हृदय बने रहो और अपने आपको माताजी के प्रति खोले रखो तो, जो कुछ भी आवश्यक है वह सब अपने-आप आ जायगा।

*

अभीप्सा की सुनवाई के लिये सबसे मुख्य वस्तु है केंद्रीय सद्हृदयता और इसके लिये यह पर्याप्त भी है। अभीप्सा की सफलता के लिये पूर्ण सद्हृदयता का होना आवश्यक है।

*

सच्ची और अटूट अभीप्सा तथा केवल भगवान् की ही ओर अभिमुख होने का संकल्प, ये अंतरात्मा को सामने लाने के सर्वोत्तम साधन हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् के प्रति सच्चे हृदय से की हुई अभीप्सा सफल हुए बिना नहीं रह सकती।

*

आध्यात्मिक विषयों में केवल एक ही तर्क काम करता है: कि जब भगवान् के लिये मांग और सच्ची पुकार उपस्थित हो तो वह एक न एक दिन अवश्य पूरी होगी। यदि हमारे अंदर कहीं भी छल-कपट दृढ़मूल हो, किसी और चीज की—शक्ति, महत् पद, बड़प्पन आदि की—लालसा हो, जो आंतरिक पुकार का प्रतिरोध करती हो, तो फिर यह तर्क लागू नहीं होता।

*

यह ठीक है कि केंद्रीय सद्हृदयता ही काफी नहीं है। एक प्रारंभ और आधार के रूप में यह बेशक पर्याप्त होती है। अवश्य ही, जैसा कि तुमने वर्णन किया है, हृदय की सच्चाई को सारी प्रकृति में ओतप्रोत हो जाना होगा। परंतु ऐसा होने के लिये प्रायः यह केंद्रीय सद्हृदयता का आधार ही पर्याप्त उपक्रम होता है; पर यदि व्यक्ति की प्रकृति दुरंगी हो (उसमें केंद्रीय समन्वयकारी चेतना का भी अभाव हो) तब बात दूसरी है।

*

गुरु के निर्देश का अनुसरण पूरे विश्वास के साथ और सच्चे हृदय से करना चाहिये; अपने निजी मन और उसके विचारों तथा रुचियों को हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये।

*

अपनी सच्ची आत्मा के प्रति सदा सच्चे रहो—यही है वास्तविक सद्हृदयता। डटे रहो और विजय लाभ करो।

*

सद्हृदयता का अर्थ यह है कि हमारी सारी सत्ता एकमेव सत्य, एकमेव भगवान् की ओर सचेतन रूप से मुड़ी हुई हो। परंतु यह मानव प्रकृति के लिये एक अत्यंत कठिन कार्य है, यह कठोर तपश्चर्या या उत्साहपूर्ण ईश्वर-भक्ति से अत्यधिक कठिन है। स्वयं धर्म से भी ऐसी पूर्ण समस्वरित सद्हृदयता प्राप्त नहीं होती—यह केवल अंतरात्मा और एकनिष्ठ आध्यात्मिक अभीप्सा से ही प्राप्त हो सकती है।

*

जहां तक योग्यता-अयोग्यता का प्रश्न है, कोई भी मनुष्य इस योग के लिये पूर्ण रूप से योग्य नहीं है; मनुष्य को अभीप्सा से, अभ्यास से, सद्हृदयता और समर्पण से योग्य बनना होता है।

*

यदि तुम सच्चे हृदय से अभ्यास करो तो तुम्हें जैसी भी सहायता की जरूरत होगी वह सब प्राप्त होगी।

—श्रीअरविन्द

यदि मैं अ-कर्म द्वारा कर्म करता हूं तो लोगों का कायापलट आपसे आप हो जायगा। यदि मुझे शांति से प्रेम है तो लोग अपने आप साधुस्वभाव बन जायंगे। यदि मैं कामना से मुक्त हूं तो लोग स्वयमेव शुद्ध सरलता की ओर लौट आयंगे।

—लाओट्से, एक चीनी महात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृत्पुरुष की पांच किरणें

श्रीअरविन्द के योग के साधकों के लिये हृत्पुरुष की पांच किरणों को अच्छी तरह से पहचान लेना अत्यावश्यक है। इन किरणों की उपासना किये बिना, इन्हें अर्घ्य दिये बिना परम ज्योति का दर्शन असंभव है। अथवा इन पांच फूलों के गुच्छे को समर्पित किये बिना, अंदर के देव को प्रसन्न करना स्वप्नमात्र है। ये प्रभातकालीन पांच सितारे ही हमारी भारी मोहनिशा की समाप्ति की सूचना देते हैं। ये हैं :–

(१) श्रद्धा (faith)
(२) अभीप्सा (aspiration)
(३) सच्चाई (सद्हृदयता) (sincerity)
(४) भक्ति (devotion)
(५) समर्पण (surrender)

(१) **श्रद्धा**–श्रद्धा का दीप हाथ में लेकर हम घने अंधकार को पारकर अपने गंतव्य स्थान पर पहुंच सकते हैं। इसके बिना तो भौतिक जगत् का भी काम नहीं चलता; भला फिर आध्यात्मिक साधना कैसे चल सकती है! श्रद्धा जब जग जाती है तो मार्ग के बहुत से रोड़े तो स्वयं हट जाते हैं, कांटे भी फूल हो जाते हैं। पर यह श्रद्धा अंध श्रद्धा नहीं होती जिसपर आजकल के पढ़े-लिखे लोग कटाक्ष करते हैं। श्रीअरविन्द के शब्दों में, "हमारा योग जिस श्रद्धा का प्रतिपादन करता है वह थोथा मानसिक विश्वास नहीं है बल्कि आत्मा की, पुरुष की, उस पथप्रदर्शक परम ज्योति के प्रति निष्ठा और वफादारी है जो उसके अंदर ही है। और उस ज्योति के प्रति आत्मा की यह वफादारी तब तक बनी रहेगी जब तक वह उसको ज्ञान तक न पहुंचा दे अथवा अपना दर्शन न करा दे।" .....फिर, एक जगह वे लिखते हैं: "श्रद्धा, आत्मा की गवाही है एक ऐसी वस्तु के प्रति जो अभी तक प्रकट नहीं हुई है अथवा उपलब्ध नहीं हुई है; पर उस वस्तु को हमारे भीतर की आत्मा, सारे प्रकट चिह्नों के अभाव में भी, सत्य अनुभव करती अथवा समझती है और जानती है कि वही वस्तु परम अनुसरणीय है अथवा उपलब्धि के योग्य है।"

(२) **अभीप्सा**–अभीप्सा, श्रीअरविन्द की साधना के त्रिविध अभ्यासक्रम (अभीप्सा, त्याग और समर्पण) में अति उच्च स्थान रखती है। साधक का वैयक्तिक प्रयत्न इसी से शुरू होता है। अभीप्सा से ही मनुष्य, मनुष्य है, वर्ना वह पशुतुल्य है। अभीप्सा से ही वह देव-मानव बन सकता है। सामान्य विश्वास के अनुसार, लख-चौरासी का चक्कर काटने के बाद भगवान् की तरफ से यही अभीप्सा ही वरदान-रूप मिलती है, जिसे पाकर मानव जीवन धन्य होता है और जिसके द्वारा अंत में वह सारे बंधनों से मुक्त हो जाता है। अभीप्सा चातक की टेर है जो स्वातिबिंदु को लेकर ही दम लेती है। परंतु अभीप्सा चाहिये सर्वथा अविराम तथा अविच्छिन्न। श्रीअरविन्द लिखते हैं: "अभीप्सा चाहिये अनिमेष, अविराम, अविच्छिन्न–मन में उसी का संकल्प, हृदय में उसी की खोज, प्राणों का वही अभिमत, देह की चेतना और प्रकृति को उसी की ओर उद्घाटित और सहजनम्य करने की दृढ़ इच्छा।"

(३) **सच्चाई** (सद्हृदयता)–जब साधक को श्रद्धा और अभीप्सा के देवदूत मिल जाते हैं तो उसे भटकना नहीं पड़ता। ये दो देवदूत साधक को भगवान् के मंदिर की सीढ़ियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चित्र-विचित्र फाटकों से गुजारते हुए मंदिर के द्वार पर उपस्थित कर देते हैं। परंतु सद्हृदयता के बिना सब कुछ व्यर्थ है। सद्हृदयता के बिना हम अपने देव को नहीं पहचान सकेंगे। यदि साधक सद्हृदय नहीं है तो उसे पग पग पर खतरा है। श्री माताजी कहती हैं: "यह अनिवार्य है कि मनुष्य अपने आपको धोखा न दे, न दूसरों को धोखा दे और न उनसे धोखा खाय। .....भगवान् को धोखा देने की कोशिश करना व्यर्थ और दयनीय चेष्टा होगी। .....सद्हृदय होना ही सारी बात है। यदि तुम सद्हृदय नहीं तो योग में हाथ मत डालो। .....यदि सद्हृदयता है तो सिद्धि निश्चित है।" अवश्य ही यदि हमने सच्चाई को छोड़ा तो हमारी साधना की, धन से भरीभराई नाव उसी तरह लापता हो जायगी जिस तरह सत्यनारायण की कथा में साधुनाम बनिये की हो गई थी।

(४) **भक्ति**—अब आपके सामने देव उपस्थित हैं। आप प्रेम से उन्हें प्रसन्न कीजिये और जीवन को कृतकृत्य कीजिये। भगवान् की भक्ति जीवन का सार है। भक्ति तो भगवान् का स्वरूप है। आनंद, भक्ति और भाव किसमें नहीं? आनंद तो हमारी सत्ता का सर्वोत्तम और सर्वोच्च शिखर है। पर भक्ति और भाव में हम अपने विकृत प्राण को न मिलावें। श्रीअरविन्द जहां जहां भक्ति का वर्णन करते हैं उसे पढ़कर हृदयकमल खिल उठता है। शरीर रोमांचित हो जाता है। वास्तव में, हम जैसे बुद्धि के गरीबों के लिये भक्ति ही सब कुछ है। गुरु और भगवान् के प्रति यह प्रेमभाव ही निस्तार करेगा। श्रीअरविन्द भी आश्वासन देते हैं: "इस योग का मूल आधार ही भक्ति है.....यदि मुझे भक्ति का विरोधी समझा जाय तो यह एक भूल होगी। सच्ची बात तो यह है कि योग के विषय में मैंने जो कुछ लिखा है उसमें भक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया है।"

(५) **आत्मसामर्पण**—श्रीअरविन्द के साधनाभ्यास की तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है समर्पण। 'माता', 'योग-समन्वय' तथा अपने पत्रों में श्रीअरविन्द ने समर्पण के विषय में जो कुछ और जितना लिखा है वह अद्भुत है। वास्तव में इन पुस्तकों में उपर्युक्त पांचों साधनों का खूब सुन्दर और विशद वर्णन है। उनका प्रेमपूर्वक भजन-साधन करना और फल चाखना बेशक व्यक्तिगत साधना की बात है।

—रघुवीरशरण

श्रीअरविन्द योग मंदिर, उनाओ (जि. होशियारपुर) पंजाब

उनाओ (जिला होशियारपुर) के वैद्य तथा कवि श्री योगेन्द्र श्रीअरविंद साहित्य के पुराने विद्यार्थी हैं। आप श्रीअरविंद आश्रम पांडिचेरी में भी आ चुके हैं। उनकी इच्छा हुई कि जिस साहित्य और संपर्क से उन्हें जीवन में प्रेरणा प्राप्त हुई है उसका रस किसी अंश में प्राप्त करने का सुयोग वे अपने प्रदेश में अन्यों के लिये भी प्रस्तुत करें।

उन्होंने माताजी से प्रार्थना की और उन्हें श्रीअरविंद कार्य का एक केंद्र खोलने और चलाने की आज्ञा प्राप्त हुई। इस केंद्र का नाम श्रीअरविंद योग मंदिर भी स्वीकृत हुआ।

इसका उद्घाटन गत १२ मई को हुआ और हम आशा करते हैं कि उनाओ के समीपवर्ती प्रदेश तथा संपूर्ण पंजाब में श्रीअरविंद का आध्यात्मिक संदेश पहुंचाने में यह सफलता लाभ करेगा।—सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविन्द क्या कर रहे हैं ?

(१)

ले०—श्री किशोर गांधी

लगभग चालीस वर्ष हुए श्रीअरविन्द ने जीवन के क्रियात्मक क्षेत्र से "अवसर ग्रहण" कर लिया था, और विगत २० वर्षों से तो लोगों को, जिनकी संख्या धीरे धीरे बढ़ती रही है, वर्ष में तीन बार (अब ४ बार) एक क्षणिक दर्शन देने के रूप में ही उन्होंने संसार से अपना प्रत्यक्ष संपर्क रखा है। कुछ व्यक्तियों को इन अवसरों पर दर्शन प्रदान करने के सिवाय वह सब समय पूर्ण "एकांत" में ही रहते रहे हैं। इस 'एकांतवास' में जाने से पूर्व वह अपने प्रेरणाप्रद आदर्शवाद; प्रखर विद्वत्ता, प्रचण्ड देशभक्ति, देदीप्यमान राजनैतिक जीवन तथा सबसे बढ़कर अपने शुद्ध तथा उच्च आचरण के कारण भारत में चतुर्दिक् विख्यात थे। क्या बात हुई जिससे वह अपने सामाजिक जीवन का इतना अचानक अंत करके इस तरह पूर्णतया एकांत में चले गये? इन गत ४० वर्षों से इस एकांतवास में अकेले वह क्या कर रहे हैं? जब भी श्रीअरविंद का प्रसंग होता है तब ही प्रायः प्रत्येक व्यक्ति उनके विषय में ये उपर्युक्त प्रश्न पूछता है।

अधिकतर लोगों को इसका जो एकमात्र उचित स्पष्टीकरण प्रतीत होता है वह यह है कि श्रीअरविन्द के स्वभाव में जो उत्कट आदर्शवादिता तथा आध्यात्मिकता विद्यमान थीं उनके स्पष्ट दबाव के कारण वह अंततः क्रियात्मक जीवनक्षेत्र से हटकर ऐकांतिक साधना में लग गये। यह उनके अपने लिये तो निःसंदेह प्रशंसनीय है किंतु इससे संसार को क्या लाभ? आत्मा इस संसार की वस्तु नहीं है। तथा जैसा कि प्राचीन काल से होता आ रहा है, वे, जो आत्मा को प्राप्त करना चाहते हैं, संसार से मुख मोड़ लेते हैं। वे तो ऐहिक दुःखों से अपनी मुक्ति पा जाते हैं किंतु मानवता असहाय अवस्था में सदा के समान घोर दुःख भोगती रहती है। श्रीअरविन्द जैसे पवित्र तथा महान् आत्माओं की आध्यात्मिक मुक्ति से दुःखग्रस्त संसार को क्या लाभ पहुंचता है?

श्रीअरविन्द के विषय में यह सर्वसम्मत मान्यता प्रतीत होती है कि वह जीवन के संघर्ष तथा वेदनाओं से पृथक् होकर सदा विरत शांत आत्मा में, सांसारिक कर्म के श्रम तथा उथल-पुथल से परे शुद्ध आत्मा की निर्बाध निश्चलता में पहुंच गये हैं। उन्हें अपनी मुक्ति तो अवश्य प्राप्त हो गई होगी किंतु मनुष्यजाति के कष्टों के विषय में या तो वह उदासीन हैं अथवा असमर्थ। संभवतः संसार के साथ किंचित् भी संपर्क उनके आत्मा की शुद्ध शांति को भंग कर देता है, अथवा संभवतः यह समस्त सांसारिक उथल-पुथल उनके मुक्त हुए आत्मा को सर्वथा तत्त्वरहित तथा व्यर्थ अथवा सर्वथा असत्य प्रतीत होती है। या संभवतः आत्मा का आनंद इतना आकर्षक, मुग्ध कर देनेवाला तथा इतनी पूर्ण तल्लीनता उत्पन्न कर देनेवाला होता है कि एक बार इसका आस्वादन कर लेने पर पार्थिव जीवन की इस सब वेदना तथा विग्रह के विषय में वह बेपरवाह हो जाता है। वास्तविक कारण जो कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हो, अधिकतर लोगों को यही प्रतीत होता है कि संसार के लिये तो श्रीअरविन्द सर्वथा खोये ही जा चुके हैं तथा संसार की अत्यावश्यक समस्याओं, इसकी कठोर कठिनाइयों तथा इसकी सर्वग्राही विनाशकारी विपत्तियों में वह इसे कोई सहायता नहीं दे सकते। निःसंदेह संसार को उनसे कभी कभी कोई पुस्तक अवश्य मिल जाती है, किंतु क्या उनकी पुस्तकें भी उनकी प्रकृति तथा भावों की ही परिचायक नहीं हैं? क्योंकि ये पुस्तकें किस विषय पर हैं? दर्शनशास्त्र, कविता तथा योग। मनुष्यजाति की वास्तविक तथा क्रियात्मक समस्याओं के साथ इन विषयों की अपेक्षा कम संबंध रखनेवाले कोई और भी विषय हो सकते हैं क्या? क्या एक प्रमुख दार्शनिक ने स्वयं नहीं कहा कि "दर्शनशास्त्र किसी मनुष्य की रोटियां नहीं पकाता" तथा एक दूसरे ने कहा है कि "दर्शनशास्त्र से तो दांत का दर्द तक भी नहीं रुक सकता।" और कविता! हमारे स्वप्नों तथा कल्पनाओं के रोचक चित्र खींचने के अतिरिक्त और क्या करती है? ये चित्र अच्छे तो अवश्य लगते हैं किंतु रोचक स्वप्नों तथा रंगीली कल्पनाओं से क्या कभी संसार की रक्षा हो सकती है? और फिर योग से बढ़कर पलायन की दूसरी और कौन सी वस्तु हो सकती है? एकचित्त होकर इस ऐहिक वास्तविकता से भिन्न किसी सत्ता की खोज करना तथा उस सत्ता में पूर्णतः लय होकर इस पार्थिव जीवन का अंतिम रूप में त्याग करना, क्या यही योग का एकमात्र उद्देश्य नहीं है?

किंतु यह कहना कि श्रीअरविन्द संसार के लिये खोये गये हैं क्योंकि वे आत्मा में तल्लीन हो गये हैं, उन लोगों की दृष्टि में जो आत्मा की सत्ता में ही विश्वास नहीं रखते, श्रीअरविन्द के प्रति एक अत्यधिक रियायत करना प्रतीत होगा। यदि सत्ता अंततः भौतिक ही है तो वे सब जो इस सत्ता की, अपने अंदर गंभीरतर अध्यात्मतत्त्व में प्रवेश करके, खोज करना चाहते हैं उन अंधों की तरह हैं जो "अंधेरी कोठरी में एक काली बिल्ली को ढूंढ़ रहे हैं जो कि वहां नहीं है।" इसके अतिरिक्त ऐसी खोज न केवल व्यर्थ ही है अपितु मनोविश्लेषण के अनुसार तो अत्यंत अस्वास्थ्यकर भी है क्योंकि ऐसी खोज इस बात का प्रमाण होती है कि मनुष्य दबी हुई कामवासनाओं की अन्य रूप में तृप्ति चाह रहा है या वह चिंताग्रस्त अन्तर्लक्षी अथवा विकृत स्नायविक रोगियों की तरह पलायन करके स्वनिर्मित आत्मप्रवंचनाओं में आश्रय ले रहा है। पिछले दिनों एक भारतीय लेखक ने गौतम बुद्ध का मनोविश्लेषण करके क्या यह परिणाम नहीं निकाला था कि वह (बुद्ध न कि लेखक) स्नायविक निर्बलता के रोगी थे और उनका समस्त दर्शन एक अति संवेदनशील अन्तर्लक्षी (introvert) व्यक्ति की कल्पनात्मक रचना है। यदि आत्मा विकृत मानसवाले व्यक्तियों की भ्रम-सृष्टि है तब तो श्रीअरविन्द किसी प्रकार भी श्रेय के अधिकारी नहीं हैं; वह न केवल संसार के लिये ही खोये गये हैं अपितु अपने लिये भी खोये गये हैं।

किंतु जिज्ञासु के लिये तो यह प्रश्न बना ही रहेगा कि क्या हम श्रीअरविन्द की सी योग्यता तथा महत्त्व के व्यक्ति को (केवल दूर से ही उनकी प्रशंसा कर तथा उनके लिये सहानुभूति दिखला) इतनी सरलता से निपटाकर छोड़ सकते हैं? क्या उनके जीवन तथा चरित्र तथा लेखों में ऐसे निर्देश विद्यमान नहीं हैं जो हमें एक भिन्न परिणाम की ओर ले जाते हैं?

—(अनुवादक, डा० संतोषानंद)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या 'मीरा' से आज भी सजीव संबंध हो सकता है?

मानवीय व्यक्तित्व अत्यंत गहन वस्तु है। अनेक बार यह अनायास ही हमारे सब सामान्य नियमों तथा मर्यादाओं को अतिक्रांत करके हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। श्रीअरविन्द आश्रम का आध्यात्मिक क्षेत्र सामान्य जीवन से वैसे भी बहुत कुछ भिन्न है। जीवन के अनेक तथ्य जो बाहर असाधारण और असत्य समझे जाते हैं यहां सामान्य और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। परंतु जिस घटना का हम इस समय उल्लेख करने जा रहे हैं वह आश्रम के वातावरण के लिये भी असाधारण और कौतुकपूर्ण रही है।

लगभग ३ महीने हुए एक अर्द्धवयस्क महिला यहां पधारीं और, जैसे आगंतुक लोग आकर रहने-सहने लगते हैं, रहने-सहने लगीं। वे सहज रूप में ही कभी कभी, साधारणतया बैठी हुई अवस्था में ही, बिल्कुल स्थिर हो जातीं और घंटों वैसे बैठी रहतीं। उस अवस्था में उन्हें बाह्य ज्ञान न रहता। यह अवस्था उनकी अपने घर पर भी हो जाया करती थी। यहां यह अवस्था अब अधिक बार होने लगी है।

इसमें जहां परिस्थिति का संवेदनात्मक ज्ञान लुप्त हो जाता है वहां अपने आपमें वे अचेतन नहीं होतीं, क्योंकि जाग्रत् में लौटने पर वे उस अवस्था के अनुभव बतलाती हैं। यह अनुभव ही, वास्तव में, आश्चर्यजनक हैं। उसमें वे प्रायः मीरा के दर्शन करती हैं। ये दर्शन उन्हें अत्यंत स्पष्ट होते हैं। वे हर बार अनोखी वस्तुस्थिति का पूरा वर्णन देती हैं। कभी मीरा बैठी होती हैं, कभी गाती, कभी ताल देती और लगभग हर बार उनके वस्त्र भिन्न होते हैं, जिनका वर्णन हमारी महिला अच्छे प्रकार कर सकती हैं। परंतु प्रायः वे मीरा को गाती हुई पाती हैं। कई बार उन्हें वे दिखती नहीं बल्कि केवल गीत ही सुनाई देता है, जिसे वे पीछे लिख लेती हैं। इन्हीं गीतों में से कुछ एक गीत हम यहां दे रहे हैं।

इन गीतों के भाव मीरा के व्यक्तित्व से असंगत नहीं हैं परंतु संभव है भाषा और छंद में थे मीरा की स्वीकृत कृतियों से भिन्न हों और कुछ अंशों में ये भिन्न प्रतीत होते भी हैं। परंतु इस संबंध में दो-एक बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो, जैसे वे स्वयं भी कहती हैं कि, कई बार कोई शब्द उन्हें स्पष्ट सुनाई नहीं देता; दूसरे, यह भी संभव है कि उनके अपने मन की चीजें भी कुछ मिश्रित हो जाती हों। परंतु आश्चर्यजनक तो यह है कि वे कई बार अपने गीतों में ऐसे शब्द प्रयुक्त करती हैं जिनके अर्थ वे नहीं जानतीं और होते वे सर्वथा उपयुक्त हैं। अपने गीत लिखने के बाद स्वयं उसके किसी किसी शब्द का अर्थ पूछतीं हैं। जैसे कि पहले गीत में ही 'कुई' तथा 'राची' शब्द उन्हें पता न थे। और, वास्तव में, उनका हिंदी का ज्ञान उतना ही है जितना कि सामान्य बोल-चाल द्वारा किसी सामान्य पंजाबी-भाषी को हो जाता है। स्कूल-कालिज में वे लाहोर में उर्दू पढ़ती रही हैं और देवनागरी लिपि उन्होंने गतवर्ष ही लिखनी सीखी है जिसे वे अब भी अच्छी प्रकार लिख नहीं सकती हैं। हिंदी वे पढ़ कसती थीं और किसी अंश में उन्होंने कबीर पढ़ रखा है। हिंदी साहित्य से और अधिक संपर्क उनका नहीं हुआ है। कविता करने का तो पहले कभी प्रयास ही नहीं किया है।

आध्यात्मिक जिज्ञासा भी संभवतः जीवन के दुःख-कष्टों के दबाव में हाल ही में जाग्रत् हुई है। और इस संबंध में उनकी भावना विशेष रूप से गुरु नानक के लिये रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री दिलीप कुमार राय के मीरा के गीतों द्वारा ही, जो उन्होंने गत वर्ष में दो-चार बार सुने, उनमें मीरा के लिये भावना पैदा हुई।

परंतु जो वे मीरा के साथ अब संबंध अनुभव करती हैं वह अवर्णनीय है, वह अलौकिक है। इसमें अपूर्व माधुर्य है और अत्यंत समीपता तथा घनिष्ठता। ऐसी घनिष्ठता कि मीरा व्यक्त रूप में उनसे बातचीत करती हैं, उन्हें गीत सुनाती हैं।

एक मित्र ने उपर्युक्त वर्णन सुनकर कहा, "अच्छा, तो फिर मीरा इस समय अशरीर हैं, क्योंकि अगर वे शरीर में होतीं तो कैसे यूं आ सकती थीं।" इसके अतिरिक्त भी वे सामान्य रूप से अत्यंत आश्चर्य अनुभव कर रहे थे। निश्चय ही, आश्चर्य अनुभव करना सजगता और जिज्ञासा की निशानी है। परंतु प्रायः मनुष्य आश्चर्य को धीरज से सहन नहीं कर सकता और वह जिज्ञासा को छोड़ परिचित स्थूल भौतिक तथ्यों की दुहाई देकर ऐसी घटना को असत्य कह देता है अथवा शंकाशील भाव में उपस्थित विषय को छोड़ देता है। अवश्य ही साधारण मानव, जिसके ज्ञान के साधन केवल इन्द्रिय और मन ही हैं, ऐसे विषय में भावात्मक निश्चयपूर्वक निर्णय करने में सफल नहीं हो सकता। परंतु यदि वह अनावश्यक रूप में शंकाशील नहीं है तो उसे इस विषय में श्रीअरविंद का मत जानकर विशेष प्रसन्नता होगी। श्रीअरविंद के पास इन महिला की इन अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन पहुंचाया जाता रहा है और उन्होंने इस सारे मामले में विशेष रुचि रखी है। उन्होंने एत-त्संबंधी अपने एक श्री दिलीपकुमार को लिखे ताजे पत्र में कहा है कि "अनामिता* का ऐसी भाषा में लिखना जिसे वह अच्छी तरह नहीं जानती तथा ऐसे छंदों में लिखना जिन पर उसे अधिकार नहीं अवश्य ही सारे मामले की सच्चाई का काफी विश्वास दिलाते हैं।"

यह वचन हमें कम से कम ऐसे विषयों में एक उन्मुक्त दृष्टिकोण बनाने में जरूर सहायक हो सकता है, और, वास्तव में, हम इस व्यक्तित्व के भावी विकास की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं, ताकि इस बारे में हमारा ज्ञान अधिक निश्चयात्मक हो सके।

—इन्द्रसेन

(१)

हरि मिलन का चाव मोहे, हरि मिलन का चाव,
कुंई तो चंदा संग राची, नित कुंज मिले दरियाव,
मैं ही क्यों प्रीतम बिन तरसूं, कबहूं दरस दिखाओ,
चंदा तेरी आरति पलछिन, दुःख राहु से पाओ,
ऐसो ग्रहण लगो विरह को, अंग अंग दिओ जलाओ,
बिन मांगे तो सब पाओं प्रभु, मांगूं तो तरसाओ,
मीरा तुम बिन और न चाहे, अपनी शरण लगाओ।

१५. ६. ५०

---

*असली नाम की जगह हम यहां काल्पनिक नाम दे रहे हैं क्योंकि वे महिला इस मामले को प्रकाशित करने के लिये कठिनाई से ही तैयार हुईं और वह भी इस शर्त्त पर कि कम से कम उनका नाम न दिया जाय। —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

मैं काह कहूं मैं क्या हूं प्रभु,
मैं काह कहूं मैं क्या हूं।
तुम दीपक हो मैं हूं बाती,
तुम नील कमल मैं हूं पाती,
हर रंग पिया तेरे राती,
फिर भी जानूं न क्या हूं प्रभु,
मैं काह कहूं मैं क्या हूं।
तुम प्रेम घटा मैं हूं छाया,
तुम नाथ प्राण मैं हूं काया,
प्रभु तेरी लीला मैं माया,
तुम ही सब तो मैं क्या हूं प्रभु,
मैं काह कहूं मैं क्या हूं प्रभु।
तुम चंदा, रैन अंधेरी हूं,
तुम स्वामी हो मैं चेरी हूं,
हूं जैसी भी मैं तेरी हूं,
तुम ही बोलो मैं क्या हूं प्रभु,
मैं काह कहूं मैं क्या हूं प्रभु।

(३)

पूजा करने आई पुजारिन हरिगुण गाने आई हूं,
मन मंदिर के खोले द्वारे पिया रिझाने आई हूं,
चांद से चंदन रैन से कजरा टीका तारों से लाई,
कली से हंसना नदी से चलना पवन से ली शीतलतायी,
हरि चरनन में माला बाहों की पहनाने आई हूं,
हृदय दीप में हरि प्रेम की जोत जलाने आई हूं।
उनकी मेरी प्रीत पुरानी जन्ममरण के मीत दिया,
प्रभु सागर हैं, तरंग हूं मैं, साज हूं मैं संगीत सिया,
तन, मन अर्पण कर प्रीतम में आज समाने आई हूं,
फिर मीरा की प्रेम कहानी सुनो सुनाने आई हूं।

१३. ६. ५०

(४)

अंतर में गोपाल

वसो मोरे अंतर में गोपाल।
देखे ना कोई जाने ना कोई छिप आना नंदलाल॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशा का मैं महल बनाऊं,
हिये सिंहासन तोहे बिठाऊं,
नैनन नीर से चरन धुलाऊं,
राखूं तोहे संभाल।
कहियो ना कुछ सुनियो ना कुछ सामने रहियो लाल॥
लय बंसी की गल पहनाना,
चरन धूल का कुमकुम लाना,
हरी नाम दे मोहे सजाना,
शरन मिले बरमाल।
सर्व सुहागन मीरा नाचे नूपुर देवे ताल॥

१५. ६. ५०

'मौनं व्याख्यानम्'

(गतांक से आगे)

और दूसरी तरफ दुनिया में जो दिनरात इतना अधिक शब्द और वाणी का प्रयोग हो रहा है, इतना ज्यादा बोला जा रहा है, उससे क्या कुछ बनता बिगड़ता है? उससे वस्तुतः जगत् में कुछ होने या न होने में क्या सहारा लगता है? जगत् में जो इतना कोलाहल है-बाजारों में, कचहरियों में, रेलों में, चाय की दूकानों या भोजनालयों और सिनेमाघरों में जो इतना शोर-गुल है तथा सभा-मंचों और धार्मिक वेदियों के व्याख्यानों तथा उपदेशों का यह जो हो-हल्ला है, इन सबमें कितना अंश है जो समर्थ है, जिसका कुछ वस्तुतः प्रभाव पड़ता है? क्या यह सब बेकार, निष्फल कोलाहल नहीं है? महान् वाक्-शक्ति का निरर्थक, निष्प्रयोजन बिखेरन नहीं है?

और जो इतनी पुस्तकें छप रही हैं, हजारों लाखों परचे दिनरात बांटे जा रहे हैं, इतनी पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं, साप्ताहिक व दैनिक पत्रों के रूप में इतना कागज काला होकर प्रातः सायं बिक रहा है, अनेक प्रकार के आकर्षक 'साइन बोर्ड' हमारा ध्यान खींच रहे हैं, दीवारें भी मोटे मोटे अक्षरों द्वारा मानों कुछ बोल रही हैं, यह सब बोलना भी क्या वैसा ही निरर्थक, नपुंसक व निष्प्रभाव नहीं है?

यह सब कोलाहल किस लिये है?

यह सब बोलकर हम क्या बना रहे हैं? —

*

एक विद्वान् ने सच कहा है कि संसार में जो यह इतना अधिक बोला जा रहा है वह सत्य को प्रकट करने के लिये उतना नहीं है जितना झूठ को छिपाने के लिये। एक बार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे एक मित्र के पुत्र ने, जो नौ दस साल का बालक था, आकर अपने पिताजी को, उनके बिना पूछे ही, कहा, 'पिताजी, मैंने पैन्सिल नहीं उठाई है।' बस, पिताजी जान गये कि पैन्सिल उसी ने ली है और जहां वह अपनी वैसी चीजें रखता था वहां उन्हें वह मिल भी गई। हमारा बहुत सा बोलना इसी प्रकार का होता है। जो विज्ञापन जितना झूठा होता है उसे उतने ही जोर से प्रचारित करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के प्रचार या विज्ञापन का सिद्धांत ही है–जैसे कि हिटलर कहा करता था–"एक झूठ को दस बार बोलो तो वह सच हो जायगा"। आजकल हम अधिकांश बोलना कुछ प्रकाशित करने के लिये नहीं करते, बल्कि कुछ छिपाने के लिये करते हैं। कम से कम यह तो है ही कि जो हम मुंह से कहते हैं वही हमारा आंतरिक आशय हो यह कम ही होता है। और ज्यों ज्यों लोग ये समझते जा रहे हैं त्यों त्यों एक दूसरे की बात में उनका विश्वास कम होता जा रहा है। हमारे कूटनीतिज्ञों की भाषा जितनी पेचीदी तथा सूक्ष्म होती जा रही है उतनी ही वह विश्वास कम पैदा करती है। प्रत्येक देश अपने को शांति का पुजारी घोषित कर रहा है तथा मानवता के ऊंचे आदर्शों की दुहाई दे रहा है। परंतु गुप्त रूप में वह युद्ध की तैयारियों में संलग्न है।

इस सब बोलने से किसका क्या कल्याण होता है? कुछ मूर्ख और अज्ञानियों पर इस-का अवश्य कुछ क्षणिक प्रभाव पड़ता है, एवं बोलनेवाले स्वार्थियों का कुछ तात्कालिक स्वार्थ भी सिद्ध होता है। परंतु क्या असल में दुनिया में इससे किसी का कुछ कल्याण होता है?

यही देखकर समझदार लोग बहुत बोलने से, और सुनने से भी, विरक्त हो जाते हैं। ऐसे बोलने और सुनने में उन्हें कुछ रस नहीं रहता। इस सब कोलाहल में उन्हें कुछ तत्त्व नहीं दिखाई देता। कभी कोई कहीं विरली आवाज ही उन्हें काम की लगती है। पुस्तकों को भी वे उनके कुछ पन्ने पलटकर या उनके शीर्षक या लेखक का नाम देखकर ही छोड़ने लगते हैं।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।*

कवि लोग कहते हैं कि जब हृदय भरा होता है तब मुंह से बोल नहीं निकलता। जब घट पूर्ण होता है तब उसमें घोष उत्पन्न नहीं होता।

कबीर साहब कहते हैं:–

जब मन मस्त हुआ तब क्यों बोले॥
हीरा पायो गांठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले॥
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले॥
हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले॥

और साधक लोग कहते हैं कि बहुत बार बिना कुछ उपदेश सुने, बिना कुछ मौखिक समाधान प्राप्त किये, बिना कुछ प्रत्युत्तर पाये ही उनके दुःख एकवारगी हरे जाते हैं, उनके चिरस्थायी संशय मिट जाते हैं, उनके वेगयुक्त विकार शांत हो जाते हैं तथा उनके भौतिक संकट तक–जैसे जादू हो गया हो–टल जाते हैं; केवल गुरु के सान्निध्यमात्र से, केवल गुरु का आंतरिक संपर्क पाने से।

प्रभावकारिणी वाणी के विषय में माताजी कहती हैं कि "दस मिनट तक सार्थक रूप

---

*"तब तू (हे अर्जुन!) जो सुना है और जो सुनने को है उस सबके प्रति विरक्ति को पा जायगा।" गीता २–५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बोलने के लिये दस दिन तक मौन रहना चाहिये। उसमें मैं यह और जोड़ दे सकती हूं कि एक दिन सार्थक रूप में कार्य करने के लिये एक वर्ष तक शांत रहना चाहिये।" –मातृवाणी पृ० १३१।

श्रीअरविंद ने कोई 'मौन'-व्रत ले रखा हो ऐसी बात नहीं है। उन्हें मुख या जिह्वा का बोलने के लिये उपयोग नहीं करना ऐसा भी कुछ नहीं है। वे आवश्यकता होती है तो बोलते हैं, बात करते हैं, हंसते भी हैं। परंतु वे अनावश्यक क्यों बोलें? विशेषकर जब कि उनके मौन दर्शन के समय भी, बहुत लोग स्पष्ट रूप में अनुभव करते हैं कि उनकी आंखें बोल रही होती हैं, उनका चेहरा दर्शनार्थियों के प्रति नानाविध रूप से कुछ कह रहा होता है। पर उनका वह मौन दर्शन उस समय अपने जिस व्यापक सत्य की ओर संकेत कर रहा होता है वह यह है कि जगत् के इस ऊपरी कोलाहल के पीछे एक मौन शक्ति है जो जगत् को वस्तुतः हिलाजुला रही है, पीछे एक मौन वाक् है जिसका स्पंदन बोलता नहीं किंतु कर देता है, जो जो चिंतन करती है वह हो जाता है, पीछे एक मौन व्याख्यान हो रहा है जिसमें जो कहा जा रहा है वह हुए बिना रह ही नहीं सकता। –अभय

श्रीअरविन्द् के प्रति

(संकलन)

(१)

कविवर श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

("रजत और आलोक की कविता" नाम के एक लेख में कविवर ने श्रीअरविन्द के काव्य तथा व्यक्तित्व और कार्य का एक सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किया है। सारा अध्ययन खूब गंभीर, मार्मिक और प्रामाणिक है, उपयुक्त उद्धरणों से सम्पुष्ट और सुसज्जित है। उसका एकांश हम यहां देते हैं।)

श्रीअरविन्द एक काल एक देश अथवा एक समाज के महापुरुष नहीं, प्रत्युत वे मानवता के विकास के नेता हैं। श्रीअरविन्द आश्रम के साधकों का विश्वास है कि जिस प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर विद्यमान हैं उनसे मानवता की सभी समस्याओं का निराकरण नहीं हो सकेगा। मानवजाति की सभी समस्याओं का मूल कारण यह है कि मनुष्य अभी छोटा है, पशुता से अभी वह पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हुआ है। 'जोश' ने हंसी हंसी में आदमी को लक्ष्य करके कहा है कि अभी तो इसकी फकत पूंछ झड़ी है। श्रीअरविन्द जिस महामानव को पृथ्वी पर लाना चाहते हैं उसके लक्षण पहले भी कितने ही महापुरुषों में व्यक्त हो चुके हैं और आज उसकी आहट श्रीअरविन्द की कविता में अस्पष्ट रूप से मिल रही है। मुझ जैसे सामान्य मनुष्य की कल्पना में वह ठीक से नहीं समा सकता। किंतु सोचता हूं कि वह ऐसा मनुष्य होगा जिसमें आज के मनुष्यों की क्षुद्रता नहीं होगी, जो भीतर और बाहर सर्वत्र ज्योतिष्मान् तथा पवित्र और शक्तिशाली होगा एवं जिसके लिये एकमात्र वे ही सत्य ग्राह्य नहीं होंगे जिनकी स्थापना विज्ञान कर रहा है। संभव है, वह अदृश्य को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी ग्राह्य बनाने के लिये विज्ञान जैसी ही किसी अन्य विधि का आविष्कार करे, संभव है वह मिट्टी और आकाश के बीच इन्द्रधनुष के सेतु पर विचरे और धरती के वक्ष में सचमुच ही किसी सुनहरी नदी का संगीत भर दे। वह कब आयगा, इसका संकेत नहीं है। किंतु जब सपने आ गये हैं तब उनका सत्य-रूप भी कभी न कभी आयगा ही।

"योगी", दीपावली अंक, '४९

(२)

श्री स्वामी रामानंद तीर्थ

(आप गत वर्ष नवंबर में दर्शन के लिये आश्रम पधारे थे। उसके बाद आपका एक लेख "एक स्मरणीय दिन" प्रकाशित हुआ जिसका एक खंड यहां उद्धृत है।)

आश्रम के अंदर मैं पंक्ति में अपने नंबर पर बैठा हुआ था। आश्रम में सहस्रों व्यक्ति और थे जो उसी उद्देश्य से वहां आये हुए थे। सारा वातावरण गंभीर और शांत था। ऐसा प्रतीत होता था मानों कोई अज्ञात शक्ति हमारे अंदर काम कर रही है, हम उसकी ओर खिंचे जा रहे हैं और अपने वाह्यपन को भूलते जा रहे हैं। सामने से लौटते हुए वे लोग थे जो दर्शन करके वापस आ रहे थे। हम उनकी आंखों और चेहरों में यह पढ़ने की कोशिश कर रहे थे कि उन्हें क्या चीज मिली है। जब मेरी बारी आई तब मैं भी सीढ़ियों पर चढ़ा और दूसरे क्षण ही श्रीअरविन्द के सम्मुख जा पहुंचा। मैं कमल के फूल उनकी भेंट चढ़ाने के लिये ले गया था और उन्हें उनको अर्पित कर मैंने हाथ जोड़कर उनके दर्शन किये। उन्होंने मेरी आंखों में गंभीर दृष्टि से देखा। मुझे ऐसा लगा मानों मेरे सामने एक शक्तिशाली दीप्तिमान् नक्षत्र चमक रहा है। मैं मुश्किल से आधा मिनट उनके सामने रह सका और मुझे यह अनुभव हुआ कि यहां एक आत्मा है जिसने चुपचाप गंभीर कार्य किया है और एक नवीन शक्तिशाली करण्ट की सृष्टि की है जो कि मानवता को नैसर्गिक जीवन की राह पर ले जा सकती है।

"मा", फरवरी '५०

(३)

प्रो. रामेश्वर गुप्त, बनस्थली विश्वविद्यालय, उदयपुर

पांडिचेरी की एक एकांत गुहा में लुप्त, पुराना अदम्य क्रांतिकारी, किंतु आज संसार से दूर समाधिस्थ अरविन्द किस कर्मयोग की साधना कर रहा होगा--कुछ समझ में नहीं आता। माना अरविन्द विरक्त मुनि हो, मुक्त अरविन्द हो, ब्रह्मज्ञानी अरविन्द हो, किंतु कर्मयोगी अरविन्द कैसा? समाज तथा इतिहास के क्रांतिमय क्षेत्र से भी परे रहकर कहीं किसी कर्मयोग की साधना हो सकती है?

किंतु मुझे ऐसा प्रतीत होता है--निस्तब्ध गुहा में छिपा हुआ उसका स्वर्णमय प्रकाशमान शरीर मानों अटूट विद्युत्-शक्तिसंपन्न बहुत ही सेंसिटिव एक प्लेट है--जिसकी ओर संसार के प्रत्येक घात-प्रतिघात, आन्दोलन एवं इतिहास की क्रिया-प्रतिक्रिया की करंट (current) आकर्षित होकर मानों स्वयं पहुंचती रहती है और वहां उसकी प्रतिक्रिया होती रहती है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरविन्द की क्रियाशीलता को हम अपनी स्थूल दृष्टि से तथा जीवन के स्थूल दैहिक (physical) स्तर से नहीं देख सकते। अपने जीवन काल में वह भयावह क्रांतिकारी रहा है–वह महान् विचारक, लेखक एवं कवि भी रहा है: इस रूप को हमने अपनी स्थूल दृष्टि से देखा है, किंतु अब एकांत मौन लुप्त उसकी सतत क्रियाशीलता में जो एक अभूत-पूर्व क्रांतिकारिता है उसका हम अपनी स्थूल दृष्टि से अनुमान नहीं लगा सकते। मानों वह अपनी ही धुरी पर स्थित, अपनी ही धुरी पर घूमता हुआ एक ज्वलंत किंतु मौन सूर्य है। जैसे सूर्य की किरणें चुपचाप "मातस" को खिलाती रहती हैं, चुपचाप तरुपल्लव में, जगत् जीव में शक्ति भरती रहती हैं,–उसी प्रकार इस सूर्य की किरणें अदृश्य उच्च मानस स्तर पर चलती हुई हमारी "मानवीय चेतना" को जाग्रत् करती रहती हैं,–मानों वह "मानवीय चेतना" अब "दैविक चेतना" में विकसित होने जा रही है। सृष्टि में यह एक युगांतकारी क्रांति होगी–वैसी ही जैसी उस समय हुई थी जब कि "अचेतन द्रव्य" (unconscious matter) में से प्राण (life) जागे थे;–"प्राण" में से "चेतना" जागी थी। इस धर्म में अरविन्द सतत लग्न हैं—सतत क्रियाशील हैं। वहां से चुपचाप, अनजाने, सृष्टि के तत्त्वों को मानों प्रेरणा मिलती रहती है—

"मानव, तू दैवी-चेतनायुक्त-(superconscious) बन।"

"विश्ववाणी", अप्रैल, ५०

(४)

डा. जे. एन. चब

(हाल ही में आपने बंबई से एक रेडियो-भाषण दिया था, जिसका शीर्षक था "कांट (Kant) से श्रीअरविन्द तक"। उसमें आपने पश्चिम और पूर्व के आधुनिक दार्शनिक चिंतन की समीक्षा की थी। उसी का एक खंड हम यहां दे रहे हैं।)

आज जगत् में भीषण खलबली मची हुई है जिसके कारण हमारे सभी मूल्य उलट-पुलट हो रहे तथा नीचे गिर रहे हैं। तो भी सारे संसार में लोगों को आशा के एक ऐसे नए प्रकाश और नए संदेश की बड़ी प्यास लगी हुई है जो उन्हें उनकी वर्तमान व्याकुलता में से बाहर निकाल ले चले। यह संभव नहीं लगता कि आज का पश्चिमी दर्शन जो चरम मूल्यों से इन्कार करता और हमारी आदिम, असंस्कृत तथा कामुक प्रकृति का गुणगान करता है, हमारी इस अभीप्सा को संतुष्ट कर सके। यहां तक कि अंग्रेज हीगलवादियों (English Hegelians) का निरपेक्षसत्तावाद भी अनुर्व्वर एवं निष्फल है, क्योंकि यह मनुष्य को सुसंस्कृत करने के लिये कोई सुविधा नहीं प्रदान करता और इस अज्ञेयवादात्मक स्वर पर अपना राग समाप्त करता है कि "अंत में सब कुछ ही हमसे परे है"।

घबड़ाई हुई आवाजों के इस गड़बड़झाले में आज दार्शनिक जगत् में केवल एक ही वाणी एसी है जो पूर्ण अधिकार के साथ अपने विचार प्रकट करती है। श्रीअरविन्द एक गुह्यदर्शी और योगी के रूप में तो सुप्रसिद्ध हैं ही, परंतु यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि उन-में अकाट्य तर्क तथा ओजस्वी एवं प्रसादपूर्ण अभिव्यंजन की भी प्रखर प्रतिभा है। उन्हीं के अपने शब्दों में, "वे योगी होने के साथ साथ तत्त्वज्ञ दार्शनिक भी हैं।" श्रीअरविन्द अपूर्ण समाधानों को तजकर निरपेक्ष पर-तत्त्व और विकास की प्रक्रिया को, निरपेक्षसत्तावाद और मानवतावाद को अपनी समग्र दृष्टि में समन्वित करते हैं, वे दिव्यता को मानव में अवतरित कराते हैं और मानव को दिव्यता की ओर उठाते हैं। इसके विपरीत, जेम्स का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवतावाद सीमित एवं संकुचित है। वह मनुष्य को उसकी शारीरिक, प्राणिक एवं मानसिक प्रकृति की बेड़ियों में बांधे रखता है और प्राणिमात्र के हृदयों में विराजमान दिव्य सत्ता से इन्कार करता या उसकी उपेक्षा करता है। अंतरस्थ भगवान् की ओर खुलने से, "आत्मा का क्षितिज अनंत दूरी तक विस्तृत हो जाता है", और फिर इसका परिणाम होता है "मनुष्य में देवाधिदेव का अवर्णनीय प्रादुर्भाव।"

–दि इंडियन लिसनर, अप्रैल २, १९५०

(५)

प्रो. अनुकूलचंद्र मुकर्जी, अध्यक्ष दर्शनविभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

ऐसा व्यक्ति कौन होगा जिसे यह मालूम न हो कि भारत की राजनीतिक स्वाधीनता में श्रीअरविन्द ने क्या योगदान किया और देश की स्वतंत्रताप्राप्ति के भीषण संग्राम की प्रारंभिक अवस्थाओं में उन्होंने क्या महत्त्वपूर्ण भाग लिया। यह एक मार्मिक तथ्य है कि उनका स्वप्न उनके जन्मदिन के ठीक पचहत्तर साल बाद पूरा हुआ। परंतु भारत की सांस्कृतिक मुक्ति के लिये उन्होंने जो कुछ किया है उसके सामने, भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये उनकी देन अत्यंत मद्धम पड़ जाती है। राजनीतिक स्वाधीनता राष्ट्र के जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये एक अनिवार्य साधन है सही, किंतु यह अपने आप में साध्य नहीं है; तो भी यह एक प्रकार की बाहरी सफलता अवश्य है। यह, सभी बाह्य संपत्तियों की भांति, केवल एक साधन है जो राष्ट्र की भवितव्यता को सफलतापूर्वक चरितार्थ करने में सहायक होता है।

श्रीअरविन्द अपने एक ग्रंथ के एक अत्यंत प्रेरणाप्रद प्रकरण में कहते हैं कि मानव प्रकृति के दो पहलू हैं और तदनुसार इससे दो प्रकार की मांग की जाती है। एक ओर तो है हमारी आध्यात्मिक सत्ता की पुकार–जो सत्ता कि हमारी सच्ची आत्मा है और जिसकी उत्पत्ति संसार से नहीं हुई है; दूसरी ओर है हमारे चारों ओर के संसार की मांग। संसार और उसके साथ ही साथ हमारी ऊपरी सत्ता भी स्थूल तथा अपूर्ण है; निश्चय ही, यह शक्तियों से, भौतिक जन्म से और परिस्थिति से उत्पन्न हुई है। तो भी, हमारे भीतर कोई एक और चीज भी है जिसका हमें धुंधला सा भान होता है, वह कोई ऐसी चीज है जो हमारी बाह्यतः निर्मित सत्ता से भिन्न है, एक स्वयं-सत्, स्व-निर्धारक आत्मा है जो अपनी गुह्य पूर्णता या पूर्णताविषयक अपनी भावना की मूर्त्ति गढ़ने के लिये हमारी प्रकृति को प्रेरित करती है।

यदि अपने अंदर के इस दिव्य सर्जनशील तत्त्व के संबंध में हमारा ज्ञान अभी संदिग्ध और दोलायमान है तो इसका यथार्थ कारण यह है कि मन, प्राण और जड़तत्त्व विकास की चरितार्थ शक्तियां हैं और, इसलिये, ये हमें सुविदित हैं, किंतु अतिमानस और सच्चिदानंद ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें अभिव्यक्ति के रूपों में चरितार्थ करना अभी शेष है, "और इन्हें हम संकेतों तथा आंशिक एवं खंडात्मक क्रिया से ही जानते हैं। ये संकेत आदि अभी निम्नतर गति से विलग नहीं हुए हैं और इसलिये आसानी से नहीं पहचाने जाते।" अपनी सत्ता के विषय में हमारी जो सचेतनता है वही हमारे सामने इन परम तत्त्वों का सबसे स्पष्ट संकेत प्रस्तुत करती है; कारण, यहां हमें अनुभव का तादात्म्य-ज्ञानमय स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी मानसिक आत्म-सचेतनता की शक्ति को विस्तारित कर विश्वात्मा से सचेतन हो जायं।

–एडवेण्ट अप्रैल '५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तवन

मर्त्य जगत् में तुम अमर्त्य इक
रचते नूतन नन्दन;
अरु भव-मरुता में 'अतिमानव'
का करते अभिनन्दन!
फुरा तुम्हारे ही मानस में
वह 'विज्ञान' अनुत्तम,
पाकर जिसको हो सकता नर
भू पर ही देवोपम।
मानवता में मौन धरे तुम
करते वह सुर-स्पंदन,
जिससे इसके मिट सकते अब
युग युग के सब क्रंदन।
अविदित था मानव को अपने
अन्तर का अमरासन;
बना हुआ था याचक सम वह,
सुरतरु रहते आंगन;
बाहर भीतर के छेदन कर
उसके सारे बंधन;
दिखा रहे तुम आज उसे फिर
श्रद्धा का दृढ़-स्पंदन।
ज्योतित पारस तुम जन-गण के,
भव के भव्य-उपायन!
दृष्टि तुम्हारी करती नर को
क्षण में जंगम कांचन।
जीवन के सर्वस! प्राणों के
प्राण! मनुज-मानस-धन!
तपा तपाकर निखराओ अब,
जन को कर दो कुन्दन।
संतापित जगती का तामस—
जरा-व्याधि-अवगुंठन
अपसारित कर, भर दो अपना
स्वर्णिम वैभव पावन;
दिखलाओ स्वर्गाधिक शोभा
का इसका नव-आनन,
जिसमें हो लीलामय प्रभु का
अभिनव क्रीड़ा-कानन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसकी क्षमता, जो कर पावे
तेरा गुण-गण-वर्णन;
मुझको तो बस आजीवन तव
करने दो पद-वंदन।

—कुंजविहारी

मां

अखिल भू भुव चेतन चिन्मयी
सतत क्रांतिमयी चिर चंचला
विमल शांतिमयी करुणामयी
परम सुन्दरि हे सुषमामयी।

झलकते रहते तव रूप में
जगत के सब दृश्य विचारणा
करुण अंतर की अनुभूतियां
मधुर आश निराश विकल्पना।

प्रखर प्राणमयि चिर चेतने
मरण सागर में नित स्नान कर
जगत तो नव जीवन पा रहा
झरत झृं तव झृं पद ताल में।

परम वैभवशालिनि तू उषे!
जगत के सब स्तब्धित नेत्र तो
क्षितिज में आलोकित झांकि से
चकित हैं तव रूप विलोक के।

दिप उठे अब तो उर में प्रभा
तव अलौकिक मंगल रूप की
रुनझुनी तव किंकिणि की प्रिये
नन निनादित हो हिय में उठे।।

—रामेश्वर गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री मां के प्रति

मेरे उर के द्वार द्वार पर आज बंधा है बंदनवार,
किसका यह आनंदोत्सव है, स्वागत किसका बारंबार।
अरुण-रक्त में सुमन हंस रहे, सांसों में परिमल डोला,
रुद्ध हृदय के द्वार आज शत-शत किसने आकर खोला।
किसने हास बिखेरा जिससे नाच उठा तन-मन-जीवन,
किसके पद-रज-अंजन से खुल गये युगों के अंध नयन।
किसकी कृपा आज वाणी कवि के छंदों में बोल उठी,
किसका आशीर्वाद, शक्ति निज कंठ-स्वरों को तोल उठी।
किसकी कृपा-कोर का सम्बल--जीवन ने गति पहचाना,
अवचेतन मन ऊपर उठ अध्यात्म चेतना को जाना।
युग-युग से जो देख रहे थे भौतिक जग के स्वप्न नयन,
किस अदृश्य के शुभ स्पर्श से विहंस उठी आलोक-किरन।
हुआ आज मानव-मन निर्मल, तन में सुप्त शक्ति जागी,
किस ज्योतिर्मय के प्रकाश से कलुष भावनाएं भागीं।
घोर कुहू में भी झलकी उषा के अधरों की लाली,
किसके अक्षय वरदानों से जय तम पर उसने पा ली।
कौन शक्ति है छिपी हुई मेरे इन प्रश्नों के भीतर,
मांग रहा था मुझसे उत्तर मेरा मन अधीर होकर।
हुईं शांत जिज्ञासु-वृत्तियां, हुआ जभी मानस-मंथन,
जगद्धात्री के विमल रूप का मुझे मिला पावन-दर्शन।
मां! मेरा मन निर्मल हो, उर बने तुम्हारा अनुपम धाम,
श्रद्धा-विनत आज होकर कर रहा तुम्हें है हृदय प्रणाम!

—कृष्णराज गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय–

विचार और अभीप्सा

१५ अगस्त की पुनरावृत्ति

१५ अगस्त हमारे लिये कई दृष्टियों से एक अत्यंत विशेष दिवस है और इसकी पुनरावृत्ति विशेष आनंद का विषय है। यह पुण्य तिथि हमें श्रीअरविंद के आविर्भाव की याद दिलाती है तथा भावी आध्यात्मिक युग का संदेश सुनाती है। यह हमें भारत के स्वाधीनता-दिवस को स्मरण कराती है तथा देश के महान् भविष्य की आशा बंधाती है। श्रीअरविंद ने, वास्तव में, कब से भारतीय स्वाधीनता की बाट जोही है! इसकी स्वाधीनता का प्रयोजन ही था मानव का व्यापक आध्यात्मिक विकास, मानव की तुच्छ अहंकार से अधिकाधिक विमुक्ति और विशाल हितभाव की चरितार्थता। १५ अगस्त आज हमारा महान् आध्यात्मिक और राष्ट्रीय पर्व है, कल शायद यह मानवमात्र के लिये युग-परिवर्तन की तिथि बन जाय। हम इसका हृदय से स्वागत करते हैं, हर प्रकार से मान करते हैं।

श्रीअरविंद प्रधानतया एक आध्यात्मिक संदेश के वाहक हैं। वे हमें बार बार जतलाते हैं कि व्यक्ति और विश्व में मूल तथ्य आत्मा और भगवान् हैं। उन्हें अधिगत करना तथा अभिव्यक्त करना ही हमारा सच्चा ध्येय हो सकता है। व्यक्ति के बहुविध मानसिक विचारों की और उच्छृङ्खल प्राणिक इच्छाओं-वासनाओं की जड़ में एकत्वमय तत्त्व उसकी आत्मा ही है। इसी प्रकार जगत् की व्यापक भौतिक-प्राणिक-मानसिक गतियों-प्रगतियों के मूल में एक भगवान् ही कर्ता-धर्ता हैं। सारा व्यक्त जीवन स्वभावतः द्वंद्वमय है और इसके द्वंद्वों का वास्तविक समन्वय केवल आत्म-तत्त्व में होता है। हमारे सब प्रकार के विरोधों और विरोधाभासों का असली समाधान आत्मा के स्तर पर ही हो सकता है। परंतु इसके लिये शरीर और जगत् से विरक्त हो जाना भीरुता होगा। श्रीअरविंद कहते हैं कि भगवान् सब जगह हैं अतः हम उन्हें सभी जगह प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिये शरीर और जगत् बाधा नहीं हैं। वास्तव में, ये तो उनके कर्म और व्यवहार के क्षेत्र हैं। यहीं उन्हें सक्रिय रूप में चरितार्थ किया जा सकता है। अतः श्रीअरविंद के आध्यात्मिक कार्य का उद्देश्य ही मानवजाति में इस जिज्ञासा को जाग्रत् करना तथा अंत में इस आदर्श को चरितार्थ करना है। मानव दृष्टिकोण और चेतना में ऐसा रूपांतर, जगत् के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को विचारने से असंभव प्रतीत नहीं होगा। क्योंकि, अवश्य ही, पशु और मानव में जो बुद्धि का भेद है वही मानव की संस्कृति और सभ्यता का कारण है। परंतु यह बुद्धि प्रत्यक्ष ही अपूर्ण है, तथा मानव इतिहास में ऐसे व्यक्ति जरूर हुए हैं जिन्होंने सामान्य मानव बुद्धि से उच्चतर आत्म-प्रकाश को अभिव्यक्त किया है। फिर क्या यह इस बात का निर्देश नहीं कि वह आत्म-प्रकाश कभी मानव में ऐसा ही व्यापक तत्त्व हो जायगा जैसी कि आज उसकी बुद्धि है। श्रीअरविंद कहते हैं कि भारतीय संस्कृति का अवतार का विचार मानव में भगवान् की उत्तरोत्तर उच्चतर चेतना के अवतरण का द्योतक है। और मानव अनेक प्रकार के उतार-चढ़ावों में से होता हुआ अंत में ऊपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही को उठ रहा है। आज स्वार्थ और अहंकार का संसार में विशेष साम्राज्य दिखाई देता है। परंतु इस संबंध में जीवन का एक तथ्य अत्यंत विचारणीय है। वह यह कि जब किसी सामान्य वृत्ति पर उच्चतर वृत्ति का रूपांतर के लिये दबाव पड़ता है तब वह विशेष आग्रहशील हो उठती है। योगविद्या का तो यह स्थिर सत्य है कि जब निम्न प्रकृति पर उच्चतर शक्ति का दबाव पड़ता है तब वह पहले तो आत्मरक्षा के लिये उग्र हो उठती है। परंतु उस उग्रता में वह अपने बल को क्षीण कर देती है और तब वह रूपांतर के लिये तैयार हो जाती है। आज हम निम्नतर प्रवृत्तियों की आग्रहशीलता से बहुत बार व्यग्र हो उठते हैं। संसार के अधिकांश विचारक और नेता व्यग्र और उद्विग्न हो रहे हैं। परंतु जरा कल्पना कीजिये कि निम्नतर प्रवृत्तियों की यह व्यग्रता उनकी भयभीत अवस्था की झुंझलाहट है। और वास्तव में आज की जागतिक अवस्था असाधारण रूप में उच्छृङ्खल हो रही है और साफ ही अस्वस्थ व्यग्रता का प्रमाण देती है। यदि यह अवस्था निम्न प्रवृत्तियों का असाधारण बलवा प्रतीत होती है तो, निश्चय ही, किसी शुभ शक्ति ने इन्हें उत्तेजित किया है। वह शक्ति मानों और अधिक इन्हें सहन करने को तैयार नहीं। अब जरा कल्पना कीजिये उस शुभ शक्ति के रूप और कर्म की। यह शक्ति वस्तुतः कितनी विशाल होगी जो विश्व की इन उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों का नाश करने जा रही है। मानव हृदय जरूर आह्लादित हो उठेगा। वह शुभ शक्ति को तुरंत अंगीकार करेगा और निम्न प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष करने लगेगा तथा पूर्ण विजय की आशा से कष्ट में भी आनंद मनायगा।

भारत को मानव विकास के इस कार्य में विशेष हाथ बंटाना है। इसकी स्वाधीनता का, श्रीअरविन्द हमें बताते हैं, मुख्य प्रयोजन ही यह था। तब, प्रत्यक्ष ही, हमें अत्यंत विचारपूर्वक काम करना होगा। हमें देखना होगा कि हम व्यक्तिगत तथा राष्ट्रगत रूप में जगत् की बहुविध प्रवृत्तियों में सदा मौलिक शुभ और हितकर प्रवृत्ति और प्रगति को अनुभव कर पायं, ऊपर के नाम-रूपों तथा घोषित उद्देश्यों के धोखे में न आयं। इस संबंध में हमें यह भी याद रखना होगा कि जगत् की सभी लीला त्रिगुणात्मक है। इसमें निर्दोष कुछ भी नहीं। हर पक्ष में ही हमें कुछ गुण भी दिखाई देंगे और कुछ दोष भी। गत महायुद्ध में ही क्या दोनों पक्षों के लिये अच्छी तथा बुरी बातें नहीं कही जा सकती थीं? लेकिन प्रधान प्रवृत्ति मानवजाति के लिये किस पक्ष की शुभ थी, इस संबंध में आज उनको भी संदेह नहीं है जिन्हें उस समय था।

आज की स्थिति भी विकट होती जा रही है। जगत् दो प्रवृत्तियों के संघर्ष का क्षेत्र बनता दिखाई देता है और इस विश्वव्यापी संघर्ष से कोई देश भी अछूता नहीं रह सकेगा। प्रत्यक्ष ही, हर देश के लिये कठिन निर्णय तथा उसके कर्णधारों की परीक्षा का समय है। स्वभावतः हम चाहेंगे कि जगत् के सभी नेता अहंकार, अभिमान, महत्त्वाकांक्षा, ईर्ष्या-द्वेष आदि प्रवृत्तियों को हार्दिक रूप में छोड़कर सत्य के जानने का यत्न करें, भगवान् से निर्देश की याचना करें और फिर निर्भय होकर शुभ के लिये संघर्ष करें। आज का यह निर्णय भावी इतिहास के लिये महत्त्वपूर्ण होगा, भावी मानव संतति पर इसका असर पड़ेगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ, कई अंशों में अपूर्ण संस्था होते हुए भी, आज जगत् में अधिकतम संभव मर्यादा बनाये रखनेवाली एकमात्र संस्था है। इसकी सुदृढ़ता आज और भी अधिक आवश्यक हो गई है। इसके अनुशासन को मानना तथा व्यापक बनाना और भी जरूरी हो गया है। इसके बल में ही, वास्तव में, शांति की अधिकतम आशा निहित है।

भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का पोषक है तथा विश्वशांति का सक्रिय इच्छुक। यह हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श और उद्देश्य के अनुरूप ही है। अवश्य ही हमारी तटस्थता विश्वशांति के लिये साधन-रूप ही है, साध्य नहीं। यदि हमें अपनी तटस्थता से मोह हो गया, इसमें हम अपनी विशेषता मानकर इसपर अभिमान करने लगे तो यह आसानी से साधन की जगह साध्य बन जायगी और तब देश की सारी नीति विफल हो सकती है। अत्यंत सजगता से हमें अपनी तटस्थता को साधन के रूप में ही रखना होगा और इसे साध्य नहीं बन जाने देना होगा।

इस तटस्थता के प्रयोग में भी हमें देखना होगा कि इससे कहीं अधिक लाभ उस पक्ष को तो नहीं पहुंच रहा, जो अपने आदर्श-उद्देश्य तथा कार्य-शैली से आततायी-मनोवृत्ति की सूचना दे रहा है। यदि हमारी नीति का यह फल होगा तो हम विश्वशांति के नाम के धोखे में आकर वस्तुतः आततायी-पक्ष की सहायता करेंगे और तब हमें संसार के अंतिम न्याय में आततायी के साथ परिणाम भोगने होंगे। यह विचार जरा सूक्ष्म है लेकिन आज हमारे लिये है विशेष विचारणीय। हम महान् शब्दों तथा 'शुद्ध' सिद्धांतों पर अपनी बलि नहीं दे सकते। हमारा निवास एक वास्तविक जगत् में है। इस जगत् के और आज की मानवजाति के विकास के अगले कदम के लिये हम सक्रिय रूप में सहायक होना चाहते हैं; इस विकास के मार्ग में जो बाधा उपस्थित हो उसे दूर करने में सहायक होना चाहते हैं। यह हमारा कर्तव्य है और इससे हम चूकना नहीं चाहते। उपदेष्टा तथा परोपकारी होने के यश की लालसा से भी हम काम नहीं कर सकते। रूस को अपनी जीवनशैली के अनुसार रहने-सहने की स्वतंत्रता है। विस्तृत तथा विकसनशील मानव-जीवन की अनेक शैलियों में उसका भी उचित स्थान हो सकता है। परंतु रूस मानव जीवन को ही संकीर्ण और क्षुद्र बना देगा यदि वह केवल अपनी शैली ही मानवमात्र पर लाद देगा। प्रत्यक्ष ही यह अज्ञान तथा उग्र अहंकार की प्रवृत्ति है, जिसे मानव संस्कृति के नाते मर्यादा में रखना आवश्यक है।

इस १५ अगस्त को भारतीय स्वाधीनता के तीन वर्ष पूरे होते हैं और इस अल्प काल में देश के सामने अनेक कठिन विषय आये हैं और उन्हें उसने काफी साहस और योग्यता से निपटाने का यत्न किया है। परंतु कोरिया के संघर्ष से जो प्रश्न उपस्थित हो गया है वह शायद कठिनतम तथा गंभीरतम है। यह युद्ध और शांति का प्रश्न है। इस समय शांति खोजने से संभव है आततायी और उत्साहित हो जाय और वह अधिक उत्साह से कल दूसरी जगह और परसों तीसरी जगह ऐसी ही स्थिति पैदा कर दे। इसके विपरीत इस समय युद्ध के लिये तैयार हो जाने से संभव है वह संकोच कर जाय और शांति के लिये तैयार हो जाय। स्थिति खूब सूक्ष्म है जिसमें विवेक और साहस की विशेष आवश्यकता है। भगवान् हमें विवेक दें, साहस दें, हम उनके निर्देश को पहचान सकें, उसपर साहस से कार्य कर सकें।

बंबई-प्रांतीय शारीरिक शिक्षण-समारोह--खेलों में योगदृष्टि

आज देश में खेलों के संबंध में हम जो उत्साह देखते हैं वह सर्वथा अभिनंदनीय है। बच्चों और युवकों के जीवन-विकास के लिये यह अनिवार्य साधन है और बड़ों के स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिये हितकर उपाय। खेल केवल शारीरिक विकास और स्वास्थ्य के लिये ही उपयोगी नहीं हैं बल्कि अवकाश के समय की स्वस्थ व्यस्तता भी हैं। इस प्रकार इनके देशव्यापी संगठन और प्रोत्साहन से शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य भी बढ़ेगा। प्रत्यक्ष ही, खेल देश और जाति की शक्ति तथा प्रसन्नता की वृद्धि का सुन्दर साधन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेल आज अंतर्राष्ट्रीय संबंधों तथा मानव एकता के भी अपूर्व साधन बने हुए हैं। खिलाड़ी, वास्तव में, एक विशिष्ट चरित्र और स्वभाव का प्रतीक बन गया है, कुछेक विशिष्ट मानवीय गुणों का प्रतिनिधि बन गया है। इस कारण वह देश देश में जो सद्भाव पैदा करने में सफल होता है वह वर्तमान युग की एक आनंददायक प्रवृत्ति है। अंतर्राष्ट्रीय ओलिम्पिक खेल भी देशों के लिये एक निश्चित प्रेरणा बन गये हैं और हर एक देश ही उनमें अपनी विशिष्टता दिखाना चाहता है। खेल भी जीवन के अन्य अंगों की तरह, किसी संस्कृति की उपज होते हैं और उसकी विशेषता को लिये हुए रहते हैं। भारत के, अवश्य ही, कुछ अपने खेल हैं, परंतु इससे अधिक भारत का खेलों के संबंध में एक विशेष दृष्टिकोण है जो आज तथा कल के खेल-विज्ञान और कला के लिये अत्यंत उपयोगी हो सकता है। यह भारत की जगत्-प्रसिद्ध योगविद्या का फल है। पिछले दो-तीन वर्षों में दो-एक अंतर्राष्ट्रीय अवसरों पर भारतीय खिलाड़ियों ने, जहां पर विशेष रूप से भारतीय खेलों को प्रदर्शित किया है, विशेष सम्मान प्राप्त किया है। परंतु यदि भारतीय खिलाड़ी इस विशिष्ट भारतीय दृष्टिकोण से सभी खेलों का अभ्यास करेंगे तो उनके सामर्थ्य और कौशल में जो विलक्षणता आ जायगी वह प्राचीन स्वदेशीय तथा आधुनिक खेलों में समान रूप से उन्हें विशेष सफलता प्रदान करेगी।

इस दृष्टिकोण को वर्तमान समय में अत्यंत सजीव तथा परिवर्द्धित रूप में श्रीअरविंद और माताजी ने निरूपित किया है तथा इसे आश्रम के लड़कों और लड़कियों में चरितार्थ तथा प्रदर्शित करने का यत्न किया है। यह आश्रम की एक विशेष देन है और हमें अत्यंत प्रसन्नता है कि श्री अंबालाल बालकृष्ण पुराणी ने, जो कि आश्रम के एक पुराने साधक हैं, बम्बईप्रांतीय शारीरिक शिक्षण-समारोह के विस्तृत वातावरण में गत १५ अप्रैल को इसे विशदता से उपस्थित किया। आप समारोह के उद्घाटक थे और अध्यक्षा थीं माननीया श्री राजकुमारी अमृतकौर। अध्यक्षा महोदया ने अपने प्रेरणापूर्ण भाषण में राष्ट्र की स्वास्थ्य-वृद्धि के लिये अपील की और उसके लिये अनेक क्रियात्मक सुझाव दिये। श्री पुराणीजी ने उपर्युक्त दृष्टिकोण को, जिसे हम आज बहुत हद तक भूल चुके हैं, बलपूर्वक रखा।

आपने अपने भाषण में पहले तो गुजरात की "जिमनेजियम" प्रगति का, जो आज इतिहास की चीज बन चुकी है, कुछ विवरण दिया। इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष थे और विदेशी राज्य का आतंक सर्वत्र छाया हुआ था। ऐसे समय में श्री पुराणीजी ने अपने सहयोगियों की सहायता से गुजरात प्रदेश में शारीरिक विकास के नाते ओजस्वी राष्ट्रीय भाव जाग्रत् कर दिया था। अखाड़े खोलने की एक लहर दौड़ गई थी और युवक लोग उनमें जाकर शारीरिक शक्ति तथा देशप्रेम विकसित करते थे। श्री पुराणीजी ने स्वीकार किया कि मूल में उस प्रगति की प्रेरणा उन्हें श्रीअरविन्द से प्राप्त हुई थी जो कि उस समय बड़ोदा कालिज में प्रोफेसर थे।

यह ऐतिहासिक विवरण उनके भाषण की भूमिकामात्र था। उनका अपना प्रधान विचार और संदेश तो था खेलों में योग अथवा आध्यात्मिक दृष्टि की उपयुक्तता तथा विशेषता और इसे उन्होंने व्याख्यापूर्वक देश के उपस्थित नेताओं, खेलों के आयोजकों तथा खिलाड़ियों के सामने रखा। शारीरिक शिक्षण का आदर्श, निश्चय ही, शरीर की पूर्णता है। परंतु इस पूर्णता को प्राप्त करने के साधन अनेक हो सकते हैं जिन्हें हम भौतिक-प्राणिक-मानसिक अथवा आत्मिक कह सकते हैं। हमारे मध्यकालीन पहलवान एक विशेष प्रकार की शारीरिक पूर्णता अधिगत किया करते थे और उनके साधन भी प्रधानतया भौतिक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणिक होते थे। परंतु उनकी पूर्णता आज हमें अपूर्ण दिखाई देती है और हम स्वीकार करते हैं कि शरीर के सामर्थ्य और कौशल में विशिष्टता प्राप्त करने के लिये मन की शक्ति का पूरा पूरा उपयोग करना चाहिये। इसी कारण आज के खेल-व्यवहार में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का काफी समावेश है, खेल आज केवल शारीरिक व्यापार नहीं हैं। उनके लिये कुछ विशेष मनोवृत्तियों का अभ्यास तथा सतर्कता और सजगता चाहिये। भारत में मन और प्राण की शक्तियों को भी, हठ और राजयोग द्वारा, उच्चतर शिखर तक विकसित किया गया था। आसन, प्राणायाम और मन की एकाग्रता से मनुष्य शरीर में चमत्कारी कौशल प्राप्त कर लेता है।

परंतु हमारे व्यक्तित्व का अधिकतम शक्तिशाली अंग मन नहीं, आत्मा है और श्रीअरविन्द और माताजी का आग्रह है कि यदि आत्मा को शरीर के व्यापारों में सक्रिय बनाया जाय तो इसमें वस्तुतः आत्मा के अमरत्व तक का प्रादुर्भाव हो सकता है। श्रीअरविन्द का कहना है कि इससे "दिव्य शरीर" का जन्म हो सकता है, जिसकी आज हम कल्पना करना भी कठिन पाते हैं। माताजी ने आश्रम की शारीरिक-शिक्षण-पत्रिका में अपने कई एक छोटे छोटे अमूल्य लेखों में दर्शाया है कि यदि खिलाड़ी अपने आपको शक्ति के अक्षुण्ण भण्डार, वैश्व चेतन सत्ता, के प्रति खोलना सीख जाय तो वह थकावट तथा अवसन्नता होने पर शीघ्र ही उस असीम स्रोत से शक्ति का आहरण करके पुनः ताजा हो सकता है। एक अन्य लेख में उन्होंने यह भी दिखाया है कि एकाग्रता के उचित अभ्यास से खिलाड़ी अनेक खेलों में विशेषता लाभ कर सकता है। उसे एक, दो या तीन खेलों तक अपने आपको सीमित रखना आवश्यक नहीं रहता। खिलाड़ियों के लिये यह संदेश कितने आनंददायक हैं। एक और लेख में माताजी ने बतलाया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने अंदर अपनी आत्मा को सक्रिय बना सके तो वह अपने भविष्य तक को बदल सकता है। अवश्य ही, हम आत्मा की शक्ति से अनभिज्ञ होते हैं जब हम किसी खिलाड़ी से कहते हैं कि अमुक खेल या कौशल तो तुम्हारे लिये संभव ही नहीं।

श्रीअरविन्द और माताजी की यह दृष्टि अत्यंत अपूर्व है। इसका सार श्री पुराणीजी ने अपने भाषण के एक वाक्य में ही बहुत सुन्दर रूप में अभिव्यक्त कर दिया। आपने कहा कि "यदि हमें शरीर की अत्युच्च पूर्णता प्राप्त करनी है तो हमें आत्मा की सहायता लेनी होगी, शरीर और उसकी शक्तियों पर आंतरिक उच्चतर चेतना का नियंत्रण अधिकाधिक मात्रा में स्थापित करना होगा।"

इस नियंत्रण को हम चरितार्थ कैसे कर सकते हैं यह क्रियात्मक अभ्यास का प्रश्न है जिसका निरूपण यहां संभव नहीं। यहां हमने खेलों में योगदृष्टि के किंचित् रूप तथा उसकी संभावनाओं का ही उल्लेख किया है और हमें अत्यंत आनंद है कि श्री पुराणीजी ने यह दृष्टिकोण बम्बईप्रांतीय शारीरिक शिक्षण-समारोह के सामने रखा। हम आशा करते हैं कि हमारा देश खेलों के विषय में भी मौलिक भारतीय प्रतिभा से सक्रिय लाभ उठाकर विशेष सामर्थ्य और कौशल का परिचय देगा।

—इन्द्रसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं

Vedic Culture : ले०—श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्रकाशक—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली, मूल्य ३॥)

आर्यसमाज के प्रसिद्ध तथा विद्वान् नेता श्री गंगाप्रसादजी उपाध्याय द्वारा लिखित यह अंग्रेजी पुस्तक अपने 'वैदिक संस्कृति' के विषय का अच्छा प्रतिपादन करती है। वेदोक्त संस्कृति तथा सभ्यता की जिन बातों का पुस्तक में वर्णन किया गया है उनके लिये वेद के उपयुक्त प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। वैदिक संस्कृति को जो लोग एक पुरानी अर्थात् असंस्कृत तथा जंगली और हीन संस्कृति समझते हैं—वे चाहे विदेशी लोग हों या पाश्चात्य विचारों से प्रभावित भारतीय हों—उन्हें यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। जड़वाद (materialism) पर आश्रित अन्य संस्कृतियों से अपने को भिन्न करनेवाली इस वैदिक संस्कृति की जो विशेष विशेषता है—अर्थात् यह संस्कृति जीवन को अध्यात्मप्रसूत तथा आध्यात्मिकता से ओतप्रोत देखती है—उसको भी इस पुस्तक में ठीक स्थान दिया गया है।

वैदिक अध्यात्मविद्या (वलासुरवध) : ले०—श्री भगवद्दत्तजी वेदालंकार, प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, मूल्य १।)

पुस्तक के लेखक श्री भगवद्दत्तजी वेदालंकार चिरकाल से वेद के स्वाध्याय में लगे हुए अनुसंधानशील पंडित हैं। उनकी यह पुस्तक उनकी पहली कृतियों से भी उत्कृष्टतर प्रतीत होती है। इसमें अच्छी तरह समझाया गया है कि वेद में वर्णित 'वल' नामक असुर क्या चीज है, उसका स्वरूप क्या है, उसका विनाश कैसे किया जाना चाहिये और उसमें बृहस्पति का क्या स्थान है। 'वल' गाथा के अन्य अंगों, उपांगों को भी स्पष्ट किया गया है। वेदोक्त अध्यात्मविद्या में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिये तो यह पुस्तक पठनीय और मननीय है ही, पर सामान्यतया अपनी आत्मोन्नति चाहनेवाले सभी पाठकों के लिये भी उपादेय है।

—अभय

कल्याण, हिन्दू संस्कृति विशेषांक, संपादक—सर्वश्री हनुमानप्रसाद पोद्दार तथा चिमनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री, पृ० ९०४, मूल्य ६॥), गीता प्रेस, गोरखपुर।

हिन्दू संस्कृति विश्व के इतिहास में एक सर्वथा अनूठा स्थान रखती है। यह पुरातन संस्कृतियों में भी पुरातन थी और आज नवीन युग में भी यह संघर्ष कर रही है और पुनः व्यापक प्रभाव प्राप्त करती जा रही है। इसके अस्तित्व में मानों कोई अमर जीवन-तत्त्व मौजूद है जिससे यह सब विपत्तियों को झेल जाती है। यह बार बार अलौकिक महापुरुषों को जन्म दे देती है। वे इसमें नई शक्ति का संचार कर देते हैं और यह युग युग में नवनिर्मित होती रहती है।

हिन्दू संस्कृति अत्यंत विशालकाय है। इसके धर्म-मत, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि अत्यंत विस्तारपूर्ण हैं तथा इसके ऋषि-महर्षि, संत-महात्मा, योद्धा-राजनेता भी अनंत हैं। इसका भौगोलिक विस्तार भी बहुत बड़ा है। कुछ आश्चर्य नहीं जो इसके रूप-स्वरूप और मर्म को कई अच्छे विद्वान् भी नहीं समझ पाते। पश्चिमी विद्वानों को तो प्रायः ही यह विकट जंगल दिखाई देती है। वे कहते हैं इसमें व्यवहार तथा विश्वास की एकरूपता तो कहीं दिखती ही नहीं। परंतु इस संस्कृति के जन्मदाताओं ने ही कहां बाह्य एकरूपता पर आग्रह किया था। उनका आग्रह वस्तुतः आत्मानुभव पर था, बाह्य व्यवहार तो गौण तथा अधिकार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद से साधनरूप वस्तु हैं। पश्चिम इसी तत्त्व को न जानकर बाह्य व्यवहार पर ... करता है और उसका परिणाम है आज की असहनशीलता और सांस्कृतिक संकट।

हिन्दू संस्कृति आज विश्व के लिये एक दृष्टांत है, जगत् में सद्भाव और एकता स्थापित करने का नमूना है। इसने अपने जीवन में बड़े बड़े विरोधी तत्त्वों में समन्वय सिद्ध किये हैं, जो आज के जगत् में विशेष प्रेरणा दे सकते हैं।

प्रस्तुत अंक ने, प्रत्यक्ष ही, एक अत्यंत सामयिक तथा उपयोगी ग्रंथ प्रदान किया है। इसके ठोस नौ सौ पृष्ठों में हिन्दू संस्कृति पर भरपूर सामग्री इकट्ठी की गई है। वास्तव में, यह अपने विषय का एक विश्वकोष बन गया है। यदि इसके अंत में एक सुन्दर विषय-वर्णानुक्रमणिका (Subject Index) और हो जाती तो ग्रंथ की उपयोगिता, अवश्य ही, बहुत बढ़ जाती। अंक में समकालीन लेखकों के विद्वत्तापूर्ण लेखों के साथ साथ जो वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि के उपयुक्त मूलांश दिये हैं वे हमें विशेष पसंद आये हैं। यही, वास्तव में, हिन्दू संस्कृति के आधार हैं और यही हमें अपनी संस्कृति का सीधा संपर्क प्रदान कर सकते हैं। महापुरुषों के वृत्तांत भी अत्यंत सुन्दर रहे हैं। समग्र रूप से हिन्दू संस्कृति का स्वरूप अच्छे यथार्थ भाव में प्रतिपादित हुआ है। पाठक इसके अध्ययन से बहुत ज्ञान तथा प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। हम कल्याण के संपादकों तथा सहयोगियों को बधाई देते हैं।

—इन्द्रसेन

हिन्दी संदेश: संपादक—पं० भीमसेनजी विद्यालंकार, हिन्दी संदेश कार्यालय, निकलसन रोड, अंबाला छावनी।

हिन्दी संदेश के तीन अंक हमारे सामने हैं। प्रसिद्ध पत्रकार श्री भीमसेनजी विद्यालंकार ने अपना यह मासिक फिर इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित करना आरंभ कर दिया है यह देखकर प्रसन्नता होती है। आजकल पंजाब में ऐसे मासिक की आवश्यकता थी जो हिन्दी का विशेष प्रचारक हो, जनता का ठीक दिशा में पथप्रदर्शन करनेवाला हो तथा उत्तम ज्ञान-युक्त साहित्य प्रदान करता हो। हिन्दी संदेश इस आवश्यकता की अच्छी तरह पूर्ति करता है। तीनों अंकों में जहां अच्छे अच्छे लेखकों के उद्दाम और उपयोगी लेख हैं वहां बहिरंग भी सुन्दर है। हम चाहते हैं कि पंजाब में इसका प्रचुर प्रचार हो।

—अभय

प्रदीप, वार्षिक कहानी विशेषांक: प्रधान संपादक—श्री लाजपत राय नागर, संपादक—श्री रजनी पनिकर तथा सत्यभूषण 'योगी', प्रकाशक—डाइरेक्टर, प्रचार विभाग, शिमला। वार्षिक मूल्य ३ रु० ८ आ ०, इस अंक का मूल्य चार आने।

मई मास का यह कहानी विशेषांक हमारे सामने है। इसमें ग्यारह कहानियां हैं और एक एकांकी। कहानियों का चुनाव अत्यन्त सुरुचिपूर्ण हुआ है। इनमें 'पाजेब', 'पुंछ के पुत्र', 'मंगलगीत', तथा 'जानदार अभिनय' हमें विशेष पसंद आई हैं।

कहानी का मुख्य गुण साधारणतया मनोरंजन माना जाता है परन्तु इसके साथ ही उसमें पात्रों के मनोभावों के उतार-चढ़ाव, संघर्ष तथा चित्रण में वास्तविकता तथा स्वाभाविकता का होना अति आवश्यक है। हमारे विचार में एक गुण कहानी का और भी है और वह शायद सब से बड़ा है। कहानी में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह पाठक के गहरे कोमल भावों को न केवल छू ही दे वरन् उनको प्रोत्साहन भी दे। यह गुण इस अंक के एकांकी 'अशोक' में प्रकट है। इसके संवादों में सजीवता है, कोमलता है और साथ ही एक अपूर्व गांभीर्य। श्री विष्णु प्रभाकर इसके लिये बधाई के पात्र हैं।

सब मिलाकर यह कहानी अंक अच्छा बन पड़ा है।

—लीलावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। मूल्य २॥)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं–जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २॥)

योगदीक्षा

श्री अनिलबरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है। मूल्य १)

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८, ४९ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६॥)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १॥)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

सुन्दर कहानियां		प्रकाश की ओर	॥)
कर्मयोगी	२॥)	वेद-रहस्य (सजिल्द), खंड १, २	९), ४)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,,	८), ३)
चार साधन	॥)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२॥)	इस जगत् की पहेली	१)
विचार और झांकियां	॥।)	जगन्नाथ का रथ	॥।)
दयानन्द	॥।)	श्रीअरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम)	॥)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१॥)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१॥।)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२)
गीताप्रबन्ध	६॥)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	॥।)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	१)	श्रीअरविन्द और उनका योग	॥=)
योग के आधार	२)	पूर्णयोग	१॥)

फोन: कार्यालय ८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली

(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

फोन: घर २५१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वर्ष ८ अङ्क ४ नवम्बर १९५०

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

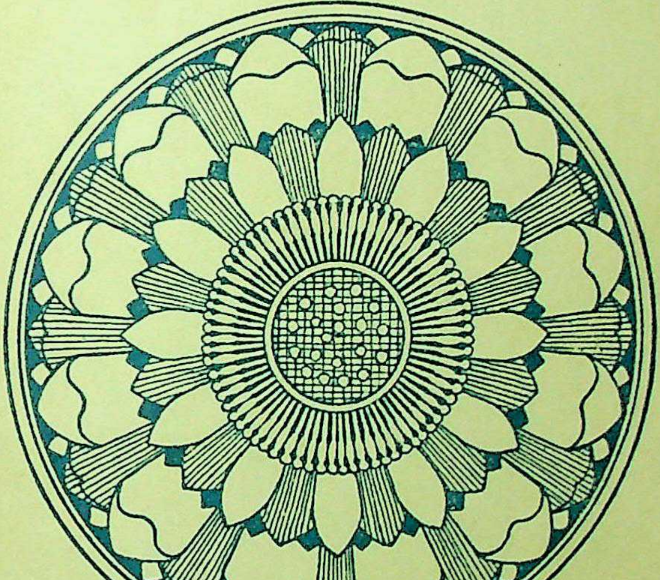

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं–एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

–श्रीअरविन्द

प्रकाशक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर
नई देहली

मूल्य
एक अङ्क १।)
वर्ष भर के चारों अङ्क ५)

विदेश का चन्दा
एक अङ्क ३।। शिलिंग वार्षिक १२।। शिलिंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

बत्तीसवीं कला

श्रीअरविन्द के महाप्रयाण के बाद १५ जनवरी, १९५१ को प्रकाशित

संपादक

डा० इंद्रसेन

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* सूचना *

सार्बजनिक पुस्तकालयों को अदिति आधे दाम पर मिल सकती है।

'अदिति' की प्रेरणा

१. अदिति साधना की, क्रियात्मक जीवन-विकास की पत्रिका है। इसमें साधारणतया मौलिक अनुभवपूर्ण लेखों को ही स्थान दिया जाता है। सामान्य ज्ञान का प्रचार इसका उद्देश्य नहीं।

२. अदिति अपने पाठकों से साधकभाव की अपेक्षा करती है। इसके विषय को वे पढ़ें, विचारें और अपने अंदर रमने दें। इसके भाव और भावनाएं उनका सामान्य वातावरण बन जायं। तब जो स्फूर्त्ति और प्रेरणा वे अपने अंदर अनुभव करेंगे वही अदिति की सफलता की द्योतक होगी।

३. आत्म-जागरण ही व्यक्तित्व-निर्माण का मूल कारण है। सामान्य मनोवैज्ञानिक शैलियां व्यक्तित्व की मूल शक्ति को प्रचालित नहीं कर पातीं। उनका कार्य और क्षेत्र बहुत सीमित है। भारतीय योगविद्या ही जीवन की वास्तविक नव-सृष्टि कर सकती है, उसके अंदर भागवत इच्छाशक्ति की असीम और अजेय धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. यह भारतीय योगविद्या आज श्रीअरविन्द के अनुभव में एक विशेष क्रियाशील रूप को प्राप्त हुई है। उसी रूप की प्रेरणा से अदिति का जन्म हुआ है और उसे ही अदिति साधक-पाठकों तक पहुंचाना चाहती है।

५. श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि एक अद्वितीय समन्वय है। आज हम अपने आपको पक्ष-विपक्षों और विविध वादों के जाल में जकड़े हुए अनुभव करते हैं। श्रीअरविन्द की समन्वयात्मक दृष्टि हमें अनुभव करा देती है कि इन वादों से संघर्ष करने की अपेक्षा इनसे जरा ऊपर उठकर इन्हें देखने से ये परस्परविरोधी नहीं परस्परपूरक दिखाई देने लगते हैं। यह चमत्कारक दृष्टि ही अदिति की प्रेरणा है, इसे ही अदिति प्रसारित करना चाहती है।

Le Directeur : Haradhan Bakshi
Printed at Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.

749—50—750

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति, नवम्बर १९५०

चुने हुए फूल		१९६
मातृवचनामृत–		...
प्रार्थना व ध्यान		१९७
रूपांतर		१९९
आदर्श बालक		२००
चिंतन कैसे करना चाहिये ?		२०१
श्रीअरविन्द-वाणी–		...
विशेष वचन		२०४
ईशोपनिषद्–उपसंहार और सार		२०५
श्रीअरविंद के पत्र–योग में स्त्री और पुरुष का संबंध		२११
श्रीअरविंद का योग-समन्वय–प्रेम और त्रिमार्ग		२१५
ज्योतिर्मय मन		२२०
विविध–		...
आलोक के पथ पर	श्री नलिनीकांत गुप्त	२२२
भारतीय दार्शनिक श्रीअरविन्द	श्री ई. एफ. हिल	२२३
देव, दानव और मनुष्य	श्री बालमुकुंद मिश्र	२२७
श्री मुंशी का दीक्षांत अभिभाषण		२३१
आत्मा की शक्ति	श्री किशोर गांधी.	२३३
मैं महात्मा बनूंगा	डा. इन्द्रसेन	२३५
कुछ विद्यार्थियों की श्रीअरविन्द से भेंट	श्री अगाराम रंगैया	२३८
श्रीअरविंद के प्रति (संकलन)		२४१
कविता-कुंज–		...
श्रद्धांजलि	श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पति	२४६
पंछी उड़ता रहा अकेला	श्री सुरेश्वर कृष्ण	२४६
स्रोतस्वी	श्री प्रेमलता	२४७
मनीषा कुक्कुट	श्री 'सुन्दरम्'	२४८
एक गीत.	श्री जनककुमारी	२४८
कौन खींच रहा ये तार ?	श्री विद्याव्रत.	२४९
संपादकीय (विचार और अभीप्सा)–	डा. इन्द्रसेन	...
श्रीअरविन्द का महाप्रयाण		२५०
भक्तियोग.		२५२
पादरी हिल आदि		२५४
अदिति का नया वर्ष		२५५
श्रीअरविन्द-साहित्य		२५७
नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं		२५९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुने हुए फूल

सर्वांगीण सहिष्णुता, पूर्ण मानसिक नमनीयता, सर्वतोमुखी उन्नति की व्यवस्था—इन सबके द्वारा प्राणिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो।

★

प्राणिक स्थिरता से, परिपूत प्राण-शक्ति से और कोषाणुओं के अंदर अतिमानसिक प्रभाव से शरीर-चेतना अतिमानसिक रूपांतर को अनुभव करने योग्य हो जायगी। यह रूपांतर कामकेंद्र में आनंद को सुप्रतिष्ठित कर देगा।

★

भगवान् के प्रेम के प्रति पूर्ण-आज्ञाकारी बनो। यह तुम्हारी सत्ता का ऐसा रूपांतर कर डालेगा कि अंत में वह (सत्ता) अतिमानसिक तौर पर नमनीय हो जायगी।

★

पहले प्राण की पवित्रता की अभीप्सा करो और प्राण में परिपूर्ण स्थिरता को अचल रूप में प्रतिष्ठित कर लो। तभी तुम अपनी प्राणिक सत्ता को सच्चे अर्थों में भगवान् पर उत्सर्ग कर सकोगे।

★

समस्त बाह्य कोलाहल को शांत करो, भगवान् की सहायता की अभीप्सा करो; जब वह प्राप्त हो तो अपने अंग अंग को उसकी ओर खोल दो और उसकी क्रिया के प्रति आत्म-समर्पण कर दो। तब वह सफलतापूर्वक तुम्हारा रूपांतर साधित कर देगी।

★

विरोधी शक्तियों का अस्तित्व संसार में केवल इसलिये सहन किया जाता है कि वे मनुष्य की सद्हृदयता को कसौटी पर कसती हैं। जिस दिन मनुष्य पूर्ण रूप से सद्हृदय हो जायगा उस दिन वे नष्ट हो जायंगी, क्योंकि उसके बाद उनके अस्तित्व का कोई कारण नहीं रह जायगा।

★

सरल सच्चाई और पूर्णता के साथ अपने प्राण को उदारतापूर्वक भगवान् की ओर खोल दो और प्राणिक शत्रुओं को जीतने की भावना जीवंत बनाये रखो। इस प्रकार ही पूर्णतया सर्वांगीण पवित्रता स्थापित की जा सकती है।

★

प्राण को भगवान् की ओर पूर्ण रूप से खोल देना—जिससे कि इसका आमूलचूल परिवर्तन हो जाय और निम्नतर प्राण उच्चतर में रूपांतरित हो जाय—और भोजन का लोभ तथा कामवासना जैसी निम्न प्राणिक चेष्टाओं को जीतना—ये शरीर के अंदर नित्य यौवन का तत्त्व लाने के लिये आवश्यक शर्त्तें हैं।

★

पहले तुम्हें प्राण में उठनेवाली इच्छा से छुटकारा पाना होगा और कोषाणुओं में पवित्रता प्रतिष्ठित करनी होगी। उसके बाद ही तुम दैवी संपद् का आनंद लेने के योग्य बन सकोगे।

★

भूतल पर अतिमानसिक प्रकाश की अभिव्यक्ति की शर्त्तें ये हैं—चेतना प्रकाश से पूर्ण और अंधकार से मुक्त हो, अतिमानसिक प्रकाश की ओर उन्मुख हो और अतिमानसभावापन्न नमनीयता से परिप्लुत हो।

★

तुम्हारी सत्ता का पूर्ण उत्सर्ग ही तुम्हारी शुद्ध पूजा का रूप होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन वचन

तू, जो हमारे गुरुदेव का मूर्त्त विग्रह था–तेरे प्रति हम अपार कृतज्ञता प्रकट करते हैं। तू जिसने हमारे लिये इतना कुछ किया है; जिसने इतना कर्म किया है, संघर्ष किया है, कष्ट झेला है, आकांक्षाएं की हैं, सहन किया है; तू जिसने हमारे लिये सब कुछ चाहा, सब कुछ के लिये यत्न किया, सब कुछ तैयार किया तथा सिद्ध किया है; उस तेरे सामने हम सीस नवाते हैं और विनती करते हैं कि हम तेरे इन सब ऋणोंको कभी भी, क्षण भर के लिये भी, न भूलें।

९ दिसंबर –श्री माताजी

श्रीअरविंद के लिये शोक करना उनका अपमान करना है, वे तो यहीं हमारे साथ मौजूद हैं–सचेतन और सजीव।

१४. १२. ५० –श्री माताजी

उन्होंने प्रकाश को इस भूतल पर अवतरित किया है, उन्होंने दिव्य जीवन को हमारे लिये संभव और अवश्यंभावी बना दिया है। उन्होंने पीड़ित मानवजाति के आंसू पोंछकर उसके लिये अमर आनंद को सुलभ कर दिया है। उन्होंने अज्ञान के अन्तस्तल में चेतना की वह्नि सुलगा दी है।

उन्होंने पथ का निर्माण कर उसे हमारे लिये प्रशस्त, सुरक्षित एवं सुनिश्चित कर दिया है। उन्होंने हमारे बीच जो लक्ष्य उपस्थित किया है उसे हमारे लिये सुलभ भी कर दिया है। उनकी वाणी, उनका आश्वासन यहां विद्यमान है; उनकी उपस्थिति अब भी हमारे मर्त्य लोक को व्यापे हुई है। इस परम उत्सर्ग के कर्म द्वारा उन्होंने दिव्य परिणति को पूर्णतः सुरक्षित एवं सन्निकट बना दिया है।

–नलिनीकांत गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदिति

अनागसो अदितये स्याम

प्रार्थना व ध्यान

मातृवचनामृत–

हे प्रभु, प्रदान कर कि मैं वह अग्नि बनूं जो प्रकाश भी देती है और गर्मी भी पहुंचाती है, वह स्रोत बनूं जो प्यास बुझाता है, वह वृक्ष बनूं जो छाया देता है तथा रक्षा करता है . . . . मनुष्य इतने दुःखी हैं, इतने अज्ञानी हैं, उन्हें सहायता की बहुत आवश्यकता है।

मेरा विश्वास और भरोसा, मेरी आंतरिक निश्चयिता दिन-दिन बढ़ रही है। और दिन-दिन ही तेरा प्रेम मेरे हृदय में अधिक सजग हो रहा है, तेरा प्रकाश अधिक उज्ज्वल तथा कोमल बन रहा है। अधिकाधिक ही मैं (एक ओर) तेरे कर्म और अपने जीवन में तथा (दूसरी ओर) अपने व्यक्तित्व और संपूर्ण पृथ्वी में भेद नहीं कर पा रही ।

प्रभु, हे प्रभु, तेरा तेज अनंत है, तेरा सत्य अद्‌भुत है। तेरा परम शक्तिशाली प्रेम संसार का उद्धार करेगा।

१७ जून, १९१३

*

तेरे अभिमुख होना, तुझसे एकत्व प्राप्त करना, तुझमें निवास करना और तेरे लिये ही जीना, यह परम आनंद है, विशुद्ध प्रसन्नता है, विकाररहित शांति है। यह तो 'अनंत' में श्वास लेना है, नित्यता में उड़ना है, अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाना है, देश और काल से परे पहुंच जाना है। मनुष्य इस सौभाग्य से ऐसे भागते हैं मानों उन्हें इससे डर लगता है। यह अविद्या कैसी विचित्र वस्तु है; यही अविद्या जो सब दुःखों का कारण है ! कितना दुःख है ! यही अज्ञान मनुष्यों को ठीक अपने सौभाग्य से दूर रखता है तथा निरे संघर्ष और दुःख से बने इस सामान्य जीवन के दुःखमय नियम में जकड़े रखता है।

१८ जून, १९१३

*

हे प्रभु ! तेरी ध्वनि इतनी नम्र, इतनी निष्पक्ष, तथा दया और धैर्य में इतनी उत्कृष्ट होती है कि उसे सुनकर हम जरा भी अधिकार अथवा संकल्प के बल का संस्कार ग्रहण नहीं करते। वरन् हम उसे अभिनव समीर के समान कोमल और पवित्र अनुभव करते हैं अथवा उस स्फटिक-स्वच्छ कोमल शब्द के समान अनुभव करते हैं जो अनेक वाद्यों के बेसुरे कनसर्ट में स्वरपूर्ण सुनाई पड़ता है। परंतु, जो उस शब्द को सुनना जानते हैं, तथा उस समीर में श्वास लेना जानते हैं, केवल उन्हीं को वह तेरी ध्वनि अपूर्व सौंदर्य-राशि, पवित्र प्रसन्नता और उदार विशालता की अपूर्व सुगंधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होती है। तब सब मूर्खतापूर्ण भ्रम नष्ट हो जाते हैं अथवा वे सब उस आभासित अद्भुत सत्य की आनंदमय स्वीकृति में रूपांतरित हो जाते हैं।

२७ जून, १९१३

*

.....परंतु कितना धैर्य चाहिये ! उन्नति के स्तर कितने सूक्ष्म और अनवगम्य होते हैं!

अहा ! कैसे मैं तुझे दिल की तह से पुकारती हूं। तुझे ! जो सच्चा प्रकाश है, पवित्र प्रेम है, दिव्य गुरु है। तू ही हमें जीवन प्रदान करता और प्रकाश देता है, तू ही हमें मार्ग दिखाता और हमारी रक्षा करता है। तू ही हमारी आत्मा की आत्मा है, जीवन का जीवन है, तथा हमारे अस्तित्व का आधारभूत कारण है। तू परम ज्ञान है, निर्विकार शांति है।

२१ जुलाई, १९१३

*

हे प्रभु, अचिंत्य तेजपुंज, प्रदान कर कि तेरा सौंदर्य पृथ्वी पर विस्तारित हो जाय, तेरा प्रेम हृदयों में प्रकाशित हो उठे, तेरी शांति सबपर छा जाय।

हे प्रभु, मेरे हृदय से एक उदास और गंभीर तथा प्रसन्नतापूर्ण और सूक्ष्म गीत उठता है। मुझे पता नहीं कि यह मुझसे उठकर तेरी ओर जा रहा है अथवा तुझसे उठकर मेरी ओर आ रहा है अथवा तू, मैं और समस्त संसार यह अद्भुत गीत बने हुए हैं जिसका मुझे अब ज्ञान हो रहा है.....निश्चय ही अब और न तू है, न मैं हूं, न कोई अलग संसार है। है केवल एक वृहत् अनंत तथा उदात्त समस्वरता जिसमें सब कुछ समाविष्ट है और जिसका एक दिन सब कुछ को ज्ञान हो जायगा। यह असीम प्रेम उस प्रेम की समस्वरता है, जो सब दुःख तथा अंधकार को जीत लेगा।

मैं अब इस प्रेम के नियम, तेरे ही नियम, के अनुसार अधिकाधिक सर्वांगीण रूप में जीना चाहती हूं। इसके प्रति मैं बिना संकोच के अपने आपको समर्पित करती हूं। और मेरी सत्ता अकथ्य शांति में आनंद मनाती है।

२३ जुलाई, १९१३

१५ अगस्त, '५० का विशेष वचन

(यह वचन श्री माताजी ने गत १४ अगस्त के सायं को आश्रम के साधकों तथा दर्शनार्थियों में वितरण किया था)

हमारी साधना अब ऐसी अवस्था में पहुंच गई है जहां हमें अधिकांश में अवचेतन तथा निश्चेतन से भी बरतना पड़ रहा है। फलतः भौतिक रूढ़ व्यवहार विशेष सामने आ रहा है। इससे मार्ग की कठिनाइयां बढ़ गई हैं, जिनका मुकाबला विशेष साहस और संकल्प से ही करना होगा।

जो भी हो और वैसे तुम चाहे जो कुछ भी करो, कम से कम, तुम भय को मत आने दो। जरा सा भी आवे तो सजग हो जाओ और सहायता की पुकार करो।

तुम्हें अब शरीर का ममत्व छोड़ना चाहिये। शरीर को तुम्हें छोटे बच्चे की तरह समझाना होगा कि वह भय न माने।

भय सबसे बड़ा शत्रु है और इसे हमें यहीं जीत डालना है, अंतिम रूप में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजयदशमी के दिन का प्रसाद

आज हमें उदासी और निराशा का भूत ही मार गिराना है। इससे उन सबको जो इस बीमारी से, सच्चे दिल से, छुट्टी पाना चाहते हैं इसे जीतने में उपयुक्त सहायता मिलेगी।

—श्री माताजी

रूपांतर

हम सर्वांगीण रूपांतर चाहते हैं, शरीर का रूपांतर तथा इसकी सभी क्रियाशीलताओं का। परंतु एक पहला कदम है, जो सर्वथा अनिवार्य है और जो अन्य कुछ करने से पहले उठाना होता है। वह है चेतना का रूपांतर। प्रारंभ तो, प्रत्यक्ष ही, ऐसे रूपांतर के लिये अभीप्सा तथा उपलब्धि के संकल्प से होता है। इनके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। परंतु, यदि अभीप्सा के साथ मनुष्य आंतरिक उन्मुक्तता, एक प्रकार की ग्रहणशीलता, को भी जोड़ सके, तो वह एकबारगी ही उस रूपांतरित चेतना में प्रवेश पा सकता है और वहां अपने आपको स्थित रख सकता है। इस प्रकार चेतना का यह परिवर्तन एकदम होता है, क्योंकि यह अचानक घटित होता है, तैयारी भले ही लंबी हो तथा धीरे धीरे चलती रही हो। मैं यहां मानसिक दृष्टिकोण में किसी साधारण परिवर्तन की बात नहीं करती, परंतु स्वयं चेतना के परिवर्तन की चर्चा कर रही हूं। यह परिवर्तन तो पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, मौलिक स्थिति में ही क्रांति होती है। इसमें वही क्रिया होती है जो मानों एक गेंद को अंदर से बाहर उलट देने में होती है। रूपांतरित चेतना को सब कुछ नया और भिन्न ही प्रतीत नहीं होता, अपितु सामान्य चेतना से लगभग उलटा भी। सामान्य चेतना में हम अज्ञान से किसी दूरस्थ तथा प्रायः संदिग्ध सत्य की ओर, अनुभवों को क्रमपूर्वक प्राप्त करते हुए, बढ़ते हैं। रूपांतरित चेतना में चलते ही ज्ञान से हैं, और ज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ते हैं। परंतु यह होती अभी केवल शुरू की अवस्था है, क्योंकि बाह्य चेतना, बाह्य और व्यावहारिक व्यक्तित्व के विभिन्न स्तर तथा अंग, केवल धीरे धीरे ही, आंतरिक रूपांतर के फलस्वरूप, रूपांतरित होते हैं।

यह तो चेतना का एक आंशिक परिवर्तन होता है जिससे मनुष्य उन विषयों में रुचि खो बैठता है जिनमें उसे पहले थी। परंतु यह केवल चेतना का परिवर्तन ही होता है, यह रूपांतर नहीं होता, क्योंकि रूपांतर तो मूलगत तथा निरपेक्ष होता है। यह केवल परिवर्तन ही नहीं होता है, यह चेतना का विपर्यय होता है। इसमें चेतना मानों घूमकर एक दूसरी सर्वथा भिन्न अवस्था में आ जाती है। इस प्रकार घूमी हुई चेतना में, सत्ता जीवन और वस्तुओं के ऊपर स्थित होती है और वहां से वह उनको संचालित करती है। वह सब कुछ के केंद्र में होती है और वहां से बाहर की ओर कर्म करती है। इसके विपरीत सामान्य चेतना में सत्ता बाहर और नीचे स्थित होती है। वह बाहर से केंद्र को प्राप्त करने के लिये जोर मारती है, नीचे से, अपनी अविद्या और अंधता के बोझ से बेहद दबी हुई; उनसे ऊपर उठने के लिये बुरी तरह संघर्ष करती है। सामान्य चेतना वस्तुओं के वास्तविक रूप को नहीं जानती, वह तो केवल उनके बाह्य रूप, परिवेष्टन, को ही जानती है। परंतु सत्य चेतना केंद्र में स्थित होती है, वास्तविकता के हृदय में, और सब गतियों के मूल को साक्षात् देखती है। अंदर तथा ऊपर स्थित होने से वह सब वस्तुओं तथा सब शक्तियों के मूल को, कारण और कार्य को जानती है।

मैं फिर कहती हूं, यह विपर्यय अचानक घटित होता है। मनुष्य के अंदर कुछ खुल पड़ता है और वह एकदम ही अपने आपको नई दुनिया में पाता है। यह परिवर्तन शुरू से ही परिपक्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा निश्चित नहीं हो सकता। इसे स्थायी रूप में जमने में तथा मनुष्य का सामान्य स्वभाव बनने में कई बार समय लगता है। परंतु जब एक बार परिवर्तन आ गया तो मौलिक मर्यादा के रूप में तो वह स्थिर हो गया और सदा के लिये ही। फिर उसे व्यावहारिक जीवन के अंग अंग में धीरे धीरे अभिव्यक्त करना आवश्यक रहता है। रूपांतरित चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति सदा आकस्मिक प्रतीत होती है। मनुष्य एक अवस्था से दूसरी में धीरे धीरे बदलता हुआ अनुभव नहीं करता। वह अचानक अनुभव करता है मानों वह जाग गया, अथवा उसका नया जन्म हो गया। चिंतन का कोई प्रयास मनुष्य को वहां नहीं ले जा सकता, क्योंकि विचारों द्वारा उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, और न ही उसका मानसिक रूप में पर्याप्त विवरण दिया जा सकता है।

ऐसा होता है सारे सर्वांगीण रूपांतर का प्रारंभ।

(Bulletin of Physical Education, Aug., '5

आदर्श बालक : माताजी की प्रेरणाएं

हर बालक को सदा याद रहना चाहिये

*कि मनुष्य को दिल का पूरा सच्चा होना अनिवार्य है,

*कि अंत में सत्य ही की विजय होती है,

*कि भावना के विजयशील होने से मनुष्य निरंतर उन्नति कर सकता है।

आदर्श बालक

अच्छे स्वभाव का होता है

वह परिस्थिति विपरीत पड़ने पर अथवा निर्णय प्रतिकूल होने पर रोष में नहीं आ जाता।

अच्छा खिलाड़ी होता है

वह जो खेल भी खेलता है अपनी पूरी शक्ति से खेलता है और बराबर वैसे ही खेलता जाता है चाहे हार निश्चित ही प्रतीत होती हो। वह अपने चिंतन तथा कर्म में सदा ही सरल और अविकृत होता है।

सच्चा होता है

वह सच बोलने से भय नहीं खाता, परिणाम चाहे जो भी हो।

धीरजवाला होता है

वह कभी हिम्मत नहीं हार बैठता; चाहे अपने प्रयत्न का फल देखने के लिये उसे बहुत देर तक भी प्रतीक्षा करनी पड़े।

सहनशील होता है

वह अनिवार्य कठिनाइयों और कष्टों का, बिना शिकायत किये, सामना करता है।

स्थिर भाववाला होता है

वह अपने परिश्रम में कभी ढील नहीं आने देता, चाहे कितने भी समय तक वह जारी क्यों न रखना पड़ जाय।

समचित्त होता है

वह अपनी समता जैसे हार में वैसे ही जीत में भी बनाये रखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनोदी स्वभाववाला होता है

वह जानता है कैसे हर परिस्थिति में मुस्कराहट तथा चित्त की प्रसन्नता बनाये रखी जा सकती है।

नम्र होता है

वह विजय की अवस्था में अभिमान नहीं करता, न अपने साथियों से अपने आपको बड़ा मानने लगता है।

उदार होता है

वह दूसरे के गुणों का मान करता और उन्हें सफल बनने में सहायता करने को सदा तैयार रहता है।

न्याय-बुद्धिवाला और आज्ञाकारी होता है

वह अनुशासन का पालन करता है तथा सदा न्याय-बुद्धि से व्यवहार करता है।

चिंतन कैसे करना चाहिये ?

(स्त्रियों से एक संभाषण)

यदि हम अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये अधिक अच्छा चिंतन करना सीखना चाहती हैं अथवा इसलिये हम चिंतन को समझना चाहती हैं कि हम पुनः जीवन में अपना स्थान एवं पद स्त्री-रूपी पूरक के तौर पर ले सकें तथा कार्य-रूप में भी उपयोगी, प्रेरणादायक और संतुलन रखनेवाला अंग बन सकें—जो कि अलक्ष्य रूप में हम हैं ही—तब मेरे विचार में हमारे लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि चिन्तन अपने आप में क्या वस्तु है। चिन्तन, विचार . . . यह एक बहुत बड़ा विषय है, शायद सब विषयों में बड़ा, मैं यह दावा भी नहीं करती कि मैं इसे आपको पूर्ण और यथार्थ रूप में बता ही सकूंगी। पर विश्लेषण द्वारा इसका जितना यथार्थ रूप जानना संभव होगा उतना आज हम जानने की चेष्टा करेंगी।

सबसे पहले, विचार को हमें दो श्रेणियों में विभाजित करना पड़ेगा। ये वास्तव में विचार के दो प्रकार हैं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं,—एक तो वे विचार हैं जो संवेदनों के परिणामस्वरूप हममें होते हैं और दूसरे वे हैं जो सजीव सत्ताओं की भांति हैं और हममें बाहर से आते हैं; पर कहां से आते हैं इससे अधिकतर हम अनभिज्ञ ही रहते हैं। हां, हमारी बाह्य सत्ता में संवेदन रूप में प्रकट होने से पहले हम इनको जान अवश्य लेते हैं।

अगर आपने कभी तनिक भी आत्मनिरीक्षण किया है तो आपने यह देखा ही होगा कि किसी बाह्य चीज के साथ आपका पहला संपर्क सदा इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा ही स्थापित होता है—देखने, सुनने, छूने, सूंघने आदि से। इस प्रकार का अनुभव किया हुआ संवेदन—चाहे वह हलका हो या जोरदार, रुचिकर हो या अरुचिकर—हमारे अंदर एक भाव उत्पन्न कर देता है, यह भाव फिर चाहे घृणा का हो या सहानुभूति का, आकर्षण का हो या अरुचि का। यह भाव शीघ्र ही एक विचार, एक मत में परिवर्तित हो जाता है। यही विचार फिर आपका उस वस्तु के बारे में बन जाता है जिसके साथ आपने पहली बार वह संबंध स्थापित किया था, वस्तु चाहे कोई भी क्यों न हो।

एक उदाहरण लीजिये: आप घर से बाहर निकलती हैं। देहली से बाहर पैर रखते ही वर्षा आरंभ हो जाती है और आपको एक सीली सर्दी का अनुभव होता है। यह संवेदन आपको अरुचिकर है। आपको वर्षा से चिढ़ हो जाती है। आप मन ही मन यंत्रवत् सी कह उठती हैं—"कैसी दुःखदायी है यह वर्षा! फिर ऐसे समय जब कि मुझे बाहर जाना है, बुरी तरह से भीग तो मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाऊंगी ही ! वर्षा से पेरिस शहर बहुत गंदा हो जाता है और खासकर इस समय जब कि सब सड़कें खाइयां सी हो रही हैं इत्यादि इत्यादि।"

वर्षा जैसी साधारण घटना को लेकर ये सब और इनसे मिलते-जुलते ऐसे और विचार आपके मन को विक्षुब्ध कर देते हैं। इस बीच में यदि कोई और दूसरी वस्तु, आन्तरिक या बाह्य, आपका ध्यान न बंटा ले तो आपका मस्तिष्क बहुत देर तक शायद अनजाने ही इसी तुच्छ और महत्वहीन अनुभूति को लेकर अत्यंत तुच्छ विचार गढ़ता रहेगा।

मनुष्य-जीवन का एक बहुत बड़ा भाग इसी प्रकार निकल जाता है। इसी को हम विचारना, चिंतन करना कहते हैं, जब कि यह है वास्तव में एक मानसिक क्रिया जो साधारणतया अपने आप ही अज्ञात रूप में यंत्रवत् सी चलती रहती है। इसके ऊपर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता। शरीर तथा उसकी आवश्यकताओं संबंधी सारे विचार इसी ढंग के होते हैं।

यह हमारी पहली कठिनाई है और इसपर हमें विजय प्राप्त करनी है। यदि हम सच्चे अर्थों में चिंतन करना चाहती हैं, दूसरे शब्दों में यदि हम यथार्थ और सजीव विचार ग्रहण करना, उनको प्रकट करना या बनाना चाहती हैं तो सबसे पहले हमें अपने मस्तिष्क को इस उपद्रवी और बे-सिर-पैरवाले मानसिक उद्वेग से मुक्त करना पड़ेगा। और यह कोई आसान काम नहीं है। दिमाग की यह मूढ़ हलचल हमपर शासन करती है, यह हमारे अधीन नहीं है।

इस हलचल को दूर करने के लिये एक उपाय बताया जा सकता है—ध्यान। परंतु जैसा कि मैंने आपसे पिछली बार भी कहा था ध्यान करने के कई तरीके हैं। कुछ अधिक उपयोगी हैं और कुछ कम। प्रत्येक को जांचकर अपना तरीका ढूंढ़ लेना चाहिये। पर एक बात सब कर सकते हैं-मनन अर्थात् एकाग्रता का अभ्यास। इसका अर्थ है एकान्त, नीरवता में आत्मचिन्तन करना, यह जो सैंकड़ों झुंड के झुंड हलके, तुच्छ विचार प्रतिक्षण हमें विक्षुब्ध करते रहते हैं उनका निकट से कठोरता के साथ विश्लेषण करना।

ध्यान की यह पहली सीढ़ी है। जब हम प्रतिदिन कुछ क्षण इस अभ्यास में लगाने लगें तो एक बात का हमें बहुत ख्याल रखना होगा। जहां तक संभव हो अपने संवेदनों, भावों तथा चित्त-स्थितियों के बारे में हमें उदार नहीं बनना चाहिये।

हम सबमें अपने आपके लिये ममत्व का अक्षय भंडार संचित है। और अक्सर हम अपनी छोटी छोटी आंतरिक गति-विधियों के प्रति बड़ा सम्मान दिखाते हैं और उनको इतना महत्व दे देते हैं जितना उनका होता नहीं—हमारे विकास के लिये भी नहीं होता।

जब मनुष्य अपने ऊपर इतनी विजय प्राप्त कर ले कि वह अपनी चितवृत्तियों का ठंडे भाव में विश्लेषण कर सके, उनकी छान-बीन कर सके, उनकी ऊपरी तड़क भड़क या दुःखदायी झलक को अलग करके उन्हें अपने असली क्षुद्र रूप में देख सके तब वह उनका कुछ उपयोगी अध्ययन कर सकता है। पर यह अवस्था बहुत धीरे धीरे आती है, जब कि मनुष्य पूर्ण निष्पक्ष भाव में काफी सोच-विचार कर चुकता है। इसमें साधारणतया जो गड़बड़ हो जाती है उससे बचने के लिये मैं यहां एक बात कहती हूं।

मैंने अभी कहा था कि हम अपने विषय में बड़े उदार विचार रखते हैं। हमारे दोष भी प्रायः हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं, अपनी सब कमजोरियों को हम उचित ठहराते हैं। परंतु सत्य यह है कि आत्मविश्वास की कमी से हम ऐसा करते हैं। क्या आपको इससे आश्चर्य होता है? हां मैं फिर कहती हूं, हममें आत्मविश्वास की भारी कमी है। यह कमी उसमें नहीं है जो कि हम अब हैं और, न ही यह हमारी बाह्य सत्ता में है जो क्षणिक और सदा परिवर्तनशील है। यह तो हमें सदा लुभावनी लगती है। हमारा विश्वास नहीं है उस पूर्ण और गहन रूपान्तर में जो हमारी आत्मा का, उस अमर अविनाशी भगवान् का कार्य होगा जो सब जीवों में निवास करता है। और यह कार्य तभी होगा जब हम अपने आपको बालक की भांति उसके अनंत ज्योतिर्मय पथ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदर्शन पर छोड़ देंगे। उसकी सूझ-बूझ हमसे बहुत बड़ी है।

पर यहां विश्वास और ममत्व को मिला-जुला देना ठीक न होगा। अच्छा, तो मैं फिर अपने विषय पर आती हूं।

जब आप अपने इस असंबद्ध और दुःखदायी विचारों के प्रवाह से अलग हटकर उसको साक्षी-रूप में देख सकने में सफल हो जायंगी तो आपको एक नई वस्तु दिखाई पड़ेगी।

आप देखेंगी कि आपके अंदर कुछ विचार ऐसे हैं जो औरों से अधिक प्रबल, अधिक स्थायी हैं-ऐसे विचार जिनका संबंध सामाजिक रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, नैतिक नियमों यहां तक कि मनुष्य तथा संसार पर लागू साधारण नियमों से है।

ये विचार ही इन विषयों पर आपकी सम्मतियां हैं, कम से कम आप प्रकट ऐसा ही करती हैं और इन्हीं के अनुसार काम करने की चेष्टा भी करती हैं।

इनमेंसे आप एक विचार ले लीजिये जो आपके सबसे अधिक निकट है। इसका आप ध्यान-पूर्वक पूरी सच्चाई के साथ निरीक्षण करिये, यथासंभव सब पक्षपात परे हटाकर। अब अपने आपसे प्रश्न कीजिये कि इस विषय में आपका यही मत क्यों है दूसरा क्यों नहीं।

इसका उत्तर लगभग सभी अवस्थाओं में यही या इससे मिलता-जुलता होगा:

क्योंकि आपके समाज में यही विचार प्रचलित है, आपका भी इसी को बनाये रखना उचित है और इससे आप कई प्रकार की ठोकरों, मुठभेड़ों और अप्रिय आलोचनाओं से बच जाती हैं। या फिर यह कि यही विचार आपके माता पिता का भी था और इसी के वातावरण में आपका बचपन बीता है।

या फिर यह भी हो सकता है कि यह आपकी उस धार्मिक या दूसरी प्रकार की शिक्षा का फल है जो कि आपको तरुणावस्था में मिली है। यह विचार आपका अपना तो नहीं है।

आपका अपना विचार होने के लिये इसे आपके बौद्धिक संश्लेषण का अंग होना चाहिये जो आपके अपने जीवनकाल में ही यत्नपूर्वक निर्मित हुआ हो, चाहे वह निरीक्षण, परीक्षण, अनुभव या तर्क द्वारा रचा गया हो या फिर वह गहन गंभीर चिन्तन या मनन का फल हो।

यह हमारी दूसरी उपलब्धि है।

क्योंकि हममें सद्भावना है और हम अपनेमें पूर्ण सच्चाई लाने की कोशिश कर रही हैं अर्थात् अपने कर्मों को विचारों के अनुकूल बनाना चाह रही हैं, हमें यह मानना पड़ेगा कि हम साधारण-तया उन मनगढ़ंत नियमों के अनुसार कार्य करती हैं जिन्हें हमने बाहर से ग्रहण किया है। हमने न तो इनको सचेतन रूप में और न ही परिपक्व सोचविचार या विश्लेषण करने के बाद अपनाया है। ये हमारे इसलिये हैं क्योंकि अचेतन अवस्था में पीढ़ियों से हम इनके अधिकार में चली आ रही हैं। इसमें कुछ हाथ हमारी शिक्षा-दीक्षा का भी है। सबसे अधिक प्रभाव हम-पर सामूहिक प्रेरणा का है। यह अपने आपमें इतनी शक्तिशाली, इतनी उद्दाम है कि बहुत कम लोग इससे बच निकलने में सफल हो पाते हैं।

जो मानसिक व्यक्तित्व हम प्राप्त करना चाहती हैं उससे हम अभी कितनी दूर हैं!

हम तो अपने पहले के संस्कारों की उपजमात्र हैं, अपने आस-पासवालों की अंध और उद्दाम इच्छाओं द्वारा विवश की गई हैं।

कैसी दुःखजनक अवस्था है यह! पर इससे हमें अधीर न हो जाना चाहिये। हमें अधिक उत्साह से इसके प्रतिकार में लग जाना चाहिये। जितनी प्रचंड यह बुराई है उतना आवश्यक इस-का उपचार भी है।

ढंग वही होगा: सोचो, सोचो और खूब सोचो।

(शेष अगली बार)

—अनु० लीलावती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष वचन

भगवान् से प्रेम

श्रीअरविन्द-वाणी–

जो प्रेम भगवान् की तरफ लगाया जाता है वह साधारण प्राणगत भाव नहीं होना चाहिये जिसे मनुष्य प्रेम कहते हैं; क्योंकि वह प्रेम नहीं, किंतु केवल प्राणगत इच्छा है, स्वायत्त करने की सहज प्रवृत्ति है, अधिगत करने और एकाधिकार जमाने का आवेग है। यही नहीं कि वह दिव्य प्रेम नहीं है, अपितु उसे योग में जरा भी नहीं मिलने देना चाहिये। भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम है आत्मदान—मांग से मुक्त, नमन और समर्पण से पूर्णतः युक्त; वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त्त नहीं लादता, कोई सौदा नहीं करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोध की जबर्दस्तियों में रत नहीं होता—क्योंकि ये चीजें उसकी बनावट में ही नहीं हैं। बदले में भगवती माता भी अपने आप को दे देती हैं, किंतु स्वतंत्र रूप से—और यह चीज आंतरिक प्रदान के रूप में अपने आपको प्रकट करती है—तुम्हारे मन, तुम्हारे प्राण, तुम्हारी भौतिक चेतना में उनकी उपस्थिति होती है, उनकी शक्ति तुम्हें दिव्य प्रकृति में नव जन्म देती, तुम्हारी सत्ता की सभी गतियां संभाल लेती और उन्हें पूर्णता एवं कृतार्थता की दिशा में ले चलती है, उनका प्रेम तुम्हें व्याप्त कर लेता और तुम्हें अपनी गोद में उठाकर ईश्वर की ओर ले चलता है। यही प्रेम है जिसे अपने सब भागों में, असली अन्नमय भाग तक में, अनुभव करने और प्राप्त करने की अभीप्सा तुम्हें अवश्य करनी चाहिये; और इसकी कुछ हद नहीं, न समय में, न परिपूर्णता में। अगर कोई सच्चे तौर पर इसकी अभीप्सा करता और इसे पा लेता है तो किसी और दावे की या किसी हताश कामना की कोई गुंजायश नहीं रहनी चाहिये। और यदि कोई सच्चे भाव से अभीप्सा करता है तो, वह इसे निश्चितरूपेण प्राप्त करता है, ज्यों ज्यों प्रकृति शुद्ध होती जाती और अपना अपेक्षित परिवर्तन प्राप्त करती जाती है त्यों त्यों वह इसे अधिकाधिक प्राप्त करता जाता है।

अपने प्रेम को समस्त स्वार्थपूर्ण दावों और कामनाओं से मुक्त रखो; तुम देखोगे कि तुम उसके उत्तर में वह सब प्रेम प्राप्त करने लगते हो जिसे तुम सहन और हजम कर सकते हो।... भगवान् के प्रति जिस प्रेम की चर्चा मैं कर रहा हूं वह केवल आंतरिक प्रेम ही नहीं है; वह प्रेम है व्यक्ति की सारी सत्ता का, जिसमें प्राण और प्राणमय भौतिक सत्ता भी आ जाती है—सभी आत्मोत्सर्ग के लिये एकसमान योग्य हैं। दूसरे, यह मान लेना गलत है कि अगर प्राण प्रेम करे तो अवश्य ही वह ऐसा प्रेम होगा जो अपनी कामना-तृप्ति की मांग करता और उसे शर्त्त के रूप में लादता है; यह सोचना अशुद्ध है कि वह या तो अवश्य ऐसा ही होगा या प्राण के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी "आसक्ति" से बचने की खातिर अपने प्रेम के पात्र से सर्वथा दूर हट जाय। प्राण अपने याचनारहित आत्मदान में उतना ही निरपेक्ष हो सकता है जितना प्रकृति का अन्य कोई भी भाग; जब यह प्रियतम के लिये स्व को भुला देता है तब कोई भी भाग इसकी अपेक्षा अधिक उदार नहीं हो सकता। प्राण और शरीर दोनों को सच्चे तरीके से—सच्चे प्रेम के तरीके से, अहं की इच्छा के तरीके से नहीं—अपना उत्सर्ग करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईशोपनिषद् : ११ : उपसंहार और सार

ईशोपनिषद् अपनी शैली, विषय तथा छंद-रचना में वैदान्तिक ग्रंथों में प्राचीनतर ग्रंथों में से है, निश्चय ही छांदोग्य और बृहदारण्यक से और स्यात् तैत्तिरीय और ऐतरेय से भी उत्तरकालीन है, किंतु निःसंदेह, उपलब्ध छंदोबद्ध उपनिषदों में प्राचीनतम है। औपनिषदिक विचार स्वभावतः दो काल-विभागों में विभक्त हो गया है। प्रथम विभाग में, जो अपेक्षया प्राचीन है, इसने अपने आपको अपने वैदिक मूल के फिर भी समीप रखा है, वैदिक ऋषियों की प्राचीन मनोवैज्ञानिक पद्धति को प्रतिबिंबित किया है और जिसे उनका आध्यात्मिक व्यवहारवाद कहना चाहिये उसे सु-रक्षित रखा है। दूसरे और पीछे के काल-विभाग में, जिसमें आकार और विचार अधिक आधु-निक हो गया तथा पहले के प्रतीकों तथा उद्गमों से स्वतंत्र हो गया, वैदिक विचार और मनो-विज्ञान के कुछ प्रधान तत्त्व लुप्त होना अथवा अपने पहले के भाव को खोना आरंभ कर देते हैं तथा उत्तरकालीन वैराग्यपूर्ण और व्यवहारविरोधी वेदान्त के आधार प्रकट होने लगते हैं। ईशो-पनिषद् पहले अर्थात् प्राचीनतर या वैदिक विभाग की है। यह, आरंभ में ही, मानवीय जीवन और क्रिया को अद्वैतवाद के दृष्टिकोण के साथ कैसे सुसंगत किया जाय इस प्रश्न का समाधान करती है और इसका किया हुआ इस कठिनाई का समाधान वैदान्तिक साहित्य के सर्वोत्कृष्ट वचनों में से एक है। यही केवल वह उपनिषद् है जिसने शंकराचार्य के व्यवहारविरोधी अति मायावाद के लिये प्रायशः दुस्तर कठिनाई उपस्थित की और इसी कारण शंकर के प्रधान अनुयायियों में से एक ने ईशोपनिषद् को प्रामाणिक उपनिषदों की सूची में से पृथक् कर दिया।

उपनिषद् का सिद्धांत

जिस सिद्धांत का यह उपनिषद् प्रारंभ से अंत तक अनुसरण करती है वह है समझौतेरहित पराकाष्ठाओं का समझौतेरहित सुसंगतीकरण। पश्चात्कालीन विचार ने इन पराकाष्ठाओं की एक श्रेणी को—अर्थात् जगत्, भोग, कर्म, बहु, जन्म, अविद्या को—लिया और इन्हें अधिकाधिक गौण स्थान प्रदान किया और इनकी विरोधी श्रेणी को—अर्थात् ब्रह्म, त्याग, उपरति, एक, जन्म न लेना, विद्या को—बढ़ावा दिया, यहां तक कि इस विचारधारा का अंतिम परिणाम हुआ मायावाद तथा यह विचार कि जगत् में जीवन एक जाल है और आत्मा का स्वयं अपने ऊपर न जाने क्यों (जिस-का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता) लादा हुआ निरर्थक बोझ है, जिसे जितना जल्दी हो सके उतार फेंकना चाहिये। इसका अंत हुआ इस महान् पहेली की गांठ को ही जबरदस्ती काट डालना। परंतु इसके स्थान पर इस उपनिषद् का प्रयत्न है कि गांठों के अंतिम छोरों को पकड़ा जाय, उन्हें सुलझाया जाय और उन्हें खोलकर एक दूसरे के बराबर में रख दिया जाय। यह इस प्रकार रखना ही उनका ठीक स्थान पर स्थापन होगा और यही उनका ठीक संबंध होगा। यह उपनिषद् उन पराकाष्ठाओं में से किसी भी एक को विशेषता नहीं देती या अनुचित तौर पर किसी को गौण नहीं करती, यद्यपि यह एक की दूसरी पर निर्भरता को स्वीकार करती है। उपनिषद् की सम्मति में त्याग को अपनी चरम सीमा तक पहुंचाना है, परंतु भोग को भी उसी तरह सर्वांगपूर्ण होना है: कर्म को पूर्ण और हार्दिक बनना है, पर आत्मा की अपने कर्मों से मुक्तता भी पूरी पूरी होनी चाहिये। एकता का नितांत और परिपूर्ण होना लक्ष्य है परंतु इस परिपूर्णता को इसकी उच्चतम स्थिति तक पहुंचाया जाना है इसके अंदर वस्तुओं की समग्र असीम बहुविधता को समाविष्ट करने के द्वारा।

उपनिषद् इस विषय में इतनी सतर्क है कि वह 'अविद्या द्वारा मृत्यु को तरकर विद्या द्वारा अमृत को भोगता है' इस सूत्र द्वारा अपने आपको प्रकट करने के बाद, तत्काल दूसरे समानान्तर सूत्र में इस क्रम को यों बदल देती है कि 'विनाश के द्वारा मृत्यु को तरकर संभूति द्वारा अमृत को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोगता है' और इस प्रकार संतुलन को ठीक कर लेती है ताकि कहीं जगत् में जीवन धारण करने की यह व्याख्या न कर ली जाय कि यह केवल जीवन से परे जाने के लिये उसकी प्राथमिक अवस्था है। इस प्रकार यह स्वयं जीवन को ही उस अमर अस्तित्व का क्षेत्र सूचित करती है जो समग्र जीवन का लक्ष्य और अभीप्सा है। यह परिणाम निकालने में उपनिषद् वेद के उस प्राचीन विचार से एकमत होती है जिसका विश्वास था कि सभी लोक, सत् और असत्, मृत्यु और जीवन और अमरता, ये सब यहीं देहधारी मानव सत्ता में ही हैं, यहीं विकसित हो रहे हैं, यहीं साधनीय और अधिकरणीय तथा उपभोक्तव्य हैं, ये न तो अपनी प्राप्ति के लिये और न ही अपने उपभोग के लिये किसी प्रकार जीवन तथा देहधारी अस्तित्व के त्यागने पर आश्रित हैं। यह विचार भारतीय दर्शन में से पूर्णतया बहिष्कृत तो कभी भी नहीं हुआ किंतु गौण अवश्य हो गया या एक पाक्षिक स्वीकृतिमात्र रह गया जो (स्वीकृति) इतनी प्रबल नहीं थी कि हमारी मुक्ति की तथा हमारे एकमात्र बुद्धिसम्मत एवं योग्य लक्ष्य की शर्त्त के तौर पर सांसारिक जीवन के सर्वथा विलुप्त कर दिये जाने पर जो आगे अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा था उसे कुछ प्रभावशाली रूप से कम कर सकती।

पराकाष्ठाएं

पराकाष्ठाओं के वे युगल जिनका उपनिषद् ने एक एक करके समाधान किया, क्रमानुसार निम्न प्रकार हैं:–

१. सचेतन ईश और रूपात्मक प्रकृति
२. त्याग और भोग
३. प्रकृति में क्रिया और आत्मा में मुक्तता
४. एक स्थिर ब्रह्म और बहुविध गति
५. सत्ता और भूतभाव (संभूति)
६. सक्रिय ईश और उदासीन अक्षर ब्रह्म
७. विद्या और अविद्या
८. जन्म और अजन्म (विनाश)
९. कर्म और ज्ञान

इन विरोधों का समाधान क्रमशः निम्न प्रकार किया गया है–

ईश्वर और प्रकृति

१. रूपात्मक प्रकृति सचेतन ईश की ही एक गति है। इस गति का प्रयोजन है अपनी (ईश की) गतिमत् चेतना के रूपों व आकारों का सर्जन करना जिनके अंदर वह ईश बहु शरीरों में एक आत्मा के तौर पर अपना निवास ग्रहण कर सके और बहुविधता तथा गति का उनके समस्त संबंधों के साथ उपभोग कर सके।[1]

भोग और त्याग

२. इस गति तथा बहुविधता का इसके सत्य में तथा इसकी असीमता में वास्तविक सर्वांगीण उपभोग एक पूर्ण, निःशेष त्याग पर आश्रित है; परंतु जिस त्याग की अपेक्षा की गई है वह अहंता के तत्त्व पर आश्रित इच्छा के तत्त्व का निःशेष परित्याग है, न कि जगत्-अस्तित्व का परित्याग। यह समाधान इस विचार पर आश्रित है कि इच्छा केवल दिव्य आनंद की या सत्ता के आनंद की जिससे यह सब जगत् उत्पन्न हुआ है एक आहंकारिक तथा प्राणमय विकृति है, अहं और इच्छा

[1]यह गीता का भी विचार है और साधारणतया स्वीकृत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उच्छेद कर दिये जाने के द्वारा आनंद फिर सत्ता का सचेतन तत्त्व बन जाता है। यह (इच्छा के स्थान पर आनंद का) प्रतिस्थापन ही मर्त्य जीवन से अमर जीवन में परिवर्तित हो जाने का सारतत्त्व है। 'अहं' से मुक्त होकर अस्तित्व के असीम आनंद का उपभोग, जो कि ईश के अंदर सबकी एकता पर आधारित हो—यही है अमरता के उपभोग का अभिप्राय।[2]

कर्म और मुक्तता

३. कर्म आत्मा की मुक्तता से असंगत नहीं है। मनुष्य कर्मों द्वारा बद्ध नहीं है, किंतु केवल बद्ध प्रतीत होता है। उसे अपने अनपहरणीय स्वातंत्र्य की चेतना को पुनः प्राप्त करना है और उसे ऐसा करना है ईश में एकता की, अपने आपमें एकता की, सब अस्तित्व के साथ एकता की चेतना को पुनः प्राप्त करने के द्वारा[3]। यह हो जाय तो जीवन को और कर्मों को इनके पूर्ण रूप में स्वीकार किया जा सकता है और स्वीकार किया जाना चाहिये; क्योंकि परमेश्वर की जीवन और कर्मों में अभिव्यक्ति होना यह हमारी सत्ता का नियम है और हमारे जगत्-अस्तित्व का उद्देश्य है।

निश्चलता और गति

४. तो फिर परम सत्ता की निश्चलता का क्या होगा और गति के अंदर सतत प्रवर्त्तमानता कैसे उस निश्चलता से अविरुद्ध हो सकती है जो कि परम आनंद के लिये साधारणतया एक अनिवार्य अवस्था के रूप में मानी गई है?

निश्चलता और गति समान रूप से एक ब्रह्म हैं और इन दोनों में जो भेद किया जाता है वह हमारी चेतना का दृग्विषयमात्र है। इसी प्रकार देश और काल, समीप और दूर, विषयी और विषय आन्तर और बाह्य, मैं स्वयं और दूसरे, एक और बहु आदि का विचार भी एक ऐसा ही दृग्विषय है। एक वास्तविक सत्ता, ब्रह्म ही हमारी चेतना के लिये ये सब वस्तुएं हुआ है, पर अपने आपमें वह ऐसे सब व्यावहारिक भेदों से अकथनीयतया उत्कृष्ट है, ऊपर स्थित है। गति निश्चलता का ही एक प्रपंचरूप है, स्वयं निश्चलता को भी ऐसा माना जा सकता है कि वह इतनी अधिक तीव्र गति है कि देव, अर्थात् हमारी चेतना के विविध व्यापार, उसके असली स्वभाव में उसका अनुगमन नहीं कर सकते। परंतु यह कोई साकार, भौतिक, दैशिक, कालिक गति नहीं है, केवल चेतना में एक गति है। ज्ञान इस सबको एकरूप देखता है, अज्ञान विभाजन करता है और जहां कोई विरोध नहीं है किंतु केवल एक चेतना के उसके अपने अंदर के संबंध हैं, सापेक्षताएं हैं वहां यह विरोध उत्पन्न कर देता है। शरीरस्थ अहं कहता है 'मैं अंदर हूं, अन्य सब बाहर हैं, और जो कुछ बाहर है उसमेंसे यह देश में और काल में मेरे समीप है, वह दूर है।' यह सब कुछ वर्तमान संबंध में ठीक है, किंतु सारतत्त्व में यह सब ब्रह्म की एक ही अविभाज्य गति है जो कि कोई भौतिक गति नहीं है किंतु उस एक ही चेतना में वस्तुओं को देखने का एक प्रकार है।

सत्ता और संभूति

५. प्रत्येक बात इसपर निर्भर करती है कि हम क्या देखते है, वस्तुओं के विषय में हमारी

---

[2]यह फिर गीता का केंद्रीय दृष्टिबिंदु है किंतु तो भी इसमें (गीता के अनुसार) जगत्-अस्तित्व का त्याग भी आ जाता है। वैदांतिक विचार का साधारण भाव इच्छा और अहंता के परित्याग को आवश्यक तत्त्व के तौर पर स्वीकार कर लेगा पर यह मानेगा कि अहं के त्याग का अर्थ है जगत्-अस्तित्व का त्याग, क्योंकि उसके मत में इच्छा ही, न कि आनंद, जगत्-अस्तित्व का कारण है।

[3]यह सत्य भी साधारणतया स्वीकार किया जायगा, परंतु वह परिणाम नहीं जो कि इससे निकाला गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा की दृष्टि में हम अस्तित्व को किस प्रकार देखते हैं। सत्ता और संभूति, एक और बहु दोनों सत्य हैं और दोनों एक ही वस्तु हैं। सत्ता एक है और संभूतियां बहु हैं; परंतु इसका अर्थ केवल यह है कि सब संभूतियां एक वह सत्ता हैं जो (सत्ता) अपनी चेतना की रूपात्मक गति में अपने आपको विविधतया स्थापित करती है। हमें उस एक सत्ता को देखना है, परंतु उन बहु संभूतियों को देखना बंद नहीं करना है, क्योंकि उनका अस्तित्व है और वे ब्रह्म के अपने आत्मदर्शन में अन्तर्भूत हैं, समाई हुई हैं। केवल, हमें ज्ञान के साथ देखना चाहिये, अज्ञान के साथ नहीं। हमें अपनी सच्ची आत्मा का एक और अपरिवर्तनीय तथा अविभाज्य ब्रह्म के रूप में साक्षात्कार करना है। हमें समस्त संभूतियों को हमारी सच्ची आत्मा में गति के विस्तारों के रूप में देखना है और इस सच्ची आत्मा को उस एक के रूप में देखना है जो कि समस्त शरीरों में न कि केवल एक शरीर में निवास कर रहा है। हमें, इस जगत् के साथ अपने संबंधों में, सचेतनतया वह हो जाना है जो कि हम असल में हैं–अर्थात् यह एक आत्मा जो कि वह प्रत्येक वस्तु जो कुछ कि हम देखते हैं हुई हुई है। समस्त गति को, सब शक्तियों को, सब रूपों को, सब घटनाओं को हमें इस रूप में देखना चाहिये कि ये अनेक सत्ताओं में आई हुई हमारी एक और वास्तविक आत्मा की ही तत्तत् वस्तुएं हैं, कि ये अपने जगत्-अस्तित्व के अंदर ईश के संकल्प और ज्ञान और आनंद की क्रीड़ा हैं।

हम तब अहंकार से और इच्छा से और पृथक् अस्तित्व की भावना से छुटकारा पा जायेंगे और इसी लिये समस्त 'शोक' से और 'मोह' से और 'जुगुप्सा' से भी; क्योंकि समस्त शोक उत्पन्न होता है अहं द्वारा अस्तित्व के संपर्कों से जुगुप्सा (घृणा, आकुंचन) करने में से, अर्थात् इसकी भय की, दुर्बलता की, अभाव की, द्वेष (नापसंदगी) आदि की भावना से, और यह उत्पन्न होती है पृथक् अस्तित्व के भ्रम से, 'मोह' से, मेरा पृथक् अहं अन्य इतना जो कुछ कि मैं नहीं हूं उसके इन सब संपर्कों के प्रति खुला हुआ है, अरक्षित है इस भावना से। इससे तुम छुटकारा पा जाओ, प्रत्येक स्थान पर एकत्व को देखो, वह एक हो जाओ जो कि सब प्राणियों में अपने आपको अभिव्यक्त कर रहा है। तो अहंभाव जाता रहेगा; इच्छा जो कि यह मैं नहीं हूं, मेरे पास वह (वस्तु) नहीं है इस भावना से उत्पन्न होती है जाती रहेगी; एक द्वारा उसकी अपनी ही सत्ता में मुक्त अनपहरणीय आनंद इच्छा का तथा इसकी पूर्त्तियों और अपूर्त्तियों का स्थान ले लेगा।[४] अमरता तुम्हें मिल जायगी, विभाजन से उत्पन्न मृत्यु जीत ली जायगी।

सक्रिय और निष्क्रिय ब्रह्म

६. निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्म केवल एक आत्मा के, एक ब्रह्म के, जो कि ईश है–दो पार्श्व हैं। यह वही है जो कि गति में सर्वत्र गया हुआ है (पर्यगात्)। वह अपनी निष्क्रिय सत्ता में सब विकारों से अपने आपको मुक्त रखता है। निष्क्रियता क्रिया का आधार है और यह क्रिया के अंदर विद्यमान रहती है, यह है उसकी मुक्तता उस सबसे जो कुछ कि वह करता है और होता है तथा उस सबमें जो कुछ कि वह करता है और होता है। ये हैं धन और ऋण दो ध्रुव एक ही अविभाज्य चेतना के। हम इन दोनों का आलिंगन करते हैं एक निश्चलता और एक गति में, जो कि एक दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं, जो एक दूसरे पर आश्रित हैं। निश्चलता गति में की सापेक्षता में विद्यमान है, गति निश्चलता की सापेक्षता में। यह दृष्टिबिंदु गति और निश्चलता के–जो कि वास्तव में एक हैं–तादात्म्य के, अभिन्नरूपता के दृष्टिबिंदु से भिन्न है, यह दृष्टिबिंदु हमारी चेतना के अंदर उनके संबंध को प्रकट करता है जब कि एक बार उन्हें इस चेतना की क्रियात्मक आवश्यकता के रूप में मान लिया गया। यह स्पष्ट है कि ईश के साथ एक ही

[४]साधारण विचार के अनुसार यह सब स्वीकार कर लिया जायगा, परंतु चेतना की इस स्थिति को जगत् में जन्म के साथ साथ कायम रखने की क्रियात्मक संभावना पर शंका की जायगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने के द्वारा हम भी इस द्वयात्मक सचेतन अस्तित्व में भागीदार हो जायंगे।[१]

विद्या और अविद्या

७. एक का ज्ञान और बहु का ज्ञान एक ही चेतना की गति के परिणाम हैं, जो चेतना कि सब वस्तुओं को उनकी सत्य धी में एक के रूप में देखती है किंतु उनकी मनोमय दशा में तथा उनके साकार भूतभाव में आ जाने की अवस्था में उनको भिन्न भिन्न मानती है। यदि मन (मनीषी) अपने आपको परमेश्वर में साकार भूतभाव (परिभू) के रूप में तल्लीन कर देता है और अपने आपको परमेश्वर से सत्य धी (कवि) में पृथक् कर लेता है तो यह विद्या को, एक के ज्ञान को, गंवा देता है और केवल बहु के ज्ञान को अपनाता है जो कि अब ज्ञान ही नहीं रहता किंतु अज्ञान अविद्या, हो जाता है। पृथक् अहं-भावना का यही कारण है।

अविद्या को ईश ने मन (मनीषी) में इसलिये स्वीकार किया है जिससे कि वह वैयक्तिक संबंधों को विभाजन की तथा उसके परिणामों की समस्त संभावनाओं में उनकी चरम सीमा तक विकसित कर सके और फिर इन वैयक्तिक संबंधों के द्वारा वैयक्तिकतया ही सर्वगत एक का ज्ञान पुनः प्राप्त कर सके। वह ज्ञान सच्चे द्रष्टा की या कवि की चेतना में इस सब समय निरंतर अखंडित बना रहता है। यह द्रष्टा हमारे अंदर मानसिक विचार से पृथक् पीछे स्थित है; मानसिक विचार को, जो कि इस तरह पृथक् पड़ा हुआ है, मृत्यु और विभाजन पर विजय प्राप्त करनी है वैयक्तिक निवासी के रूप में विकसित होती हुई एक अनुभूति के द्वारा, और फिर अंत में अमरता को पुनः प्राप्त करना है एक और बहु के पुनः संयुक्तीकृत ज्ञान के द्वारा। यही है हमारा ठीक मार्ग, न तो अपने आपको एकमात्र अविद्या के जीवन के प्रति ही अर्पित कर देना और नाहीं एक के अंदर निश्चल तल्लीनता प्राप्त कर लेने के लिये इस (अविद्या) का सर्वथा त्याग कर देना।

जन्म और अजन्म

८. विचारक की इस दोहरी गति का कारण यह है कि हमारे लिये जन्म में ही अमरता को सिद्ध करना अभिप्रेत है। आत्मा स्वयं एकरूप है और न मरनेवाला है और अपने आपमें तो उसे सदा ही अमरता प्राप्त है। उसे अविद्या और जन्म में इसलिये अवतरण करने की आवश्यकता नहीं कि वह वहां उस अजन्म की अमरता को प्राप्त करे; क्योंकि वह तो उसे सदा ही प्राप्त है। वह इसलिये अवतरण करता है कि वह इसे (अमरता को) जगत्-अस्तित्व की क्रीड़ा में वैयक्तिक ब्रह्म के रूप में साक्षात् कर सके और अधिकृत कर सके। यह जन्म और मृत्यु को स्वीकार करता है, अहं को ग्रहण करता है और फिर एकता की पुनः प्राप्ति के द्वारा अहं का विलय करता हुआ अपने आपको ईश के, एक के रूप में साक्षात् करता है तथा जन्म को केवल उस ईश के मनोमय तथा साकार सत्ता में हुए भूतभाव के रूप में; यह भूतभाव (संभूति) अब द्रष्टा की सच्ची दृष्टि द्वारा शासित होता है और, जब यह एक बार हो गया तो, भूतभाव (संभूति) सत्ता के साथ तनिक भी असंगत नहीं रहता; तब जन्म इस साकार निवास (शरीर) के ईश द्वारा अमरता के उपभोग करने में बाधक नहीं रहता किंतु इसका साधन बन जाता है।[६] यही हमारा

[५]साधारण विचार के अनुसार जीव एक ही समय में इन दोनों में नहीं रह सकता; उसका विलयन निश्चलता के अंदर होता है, न कि क्रिया तथा निष्क्रियता में ईश के साथ एकता के अंदर।

[६]यह विचार साधारण दार्शनिक मतों के लिये बहुत कठिनाई उपस्थित करता है, क्योंकि वे मत प्रायः जगत् की अलीकता के भावों से ओतप्रोत हैं चाहे वे मायावाद के साथ पूरी दूर तक न भी जाते हों। वे कहेंगे, जन्म तो अज्ञान की लीला है, वह पूर्ण ज्ञान के साथ टिक नहीं सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक मार्ग है, न तो सदा के लिये जन्म और मृत्यु की शृंखला में पड़े रहना और न ही जन्म से भागकर शुद्ध असंभूति में रम जाना। बंधन असल में संभूति (जन्म) की भौतिक क्रिया में नहीं है, किंतु पृथक् अहं की जो अज्ञानयुक्त भावना है उसके बने रहने में है। मन इस बंधन को रचता है, न कि शरीर।

कर्म और ज्ञान

९. कर्म और ज्ञान में विरोध तब तक रहता है जबतक कर्म और ज्ञान केवल आहंकारिक मानसिक स्वरूप के होते हैं। मानसिक ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं होता : सच्चा ज्ञान वह है जो कि सच्ची दृष्टि पर, द्रष्टा (ऋषि) की दृष्टि, सूर्य की, कवि की दृष्टि पर आधारित होता है। मानसिक विचार ज्ञान नहीं है, यह तो सत्य के, दृष्टि के, दिव्य धी के, सत्य-चेतना के मुख पर रखा हुआ सुनहरा आवरण है। जब यह आवरण हटा दिया जाता है तो मानसिक विचार का स्थान दृष्टि ले लेती है, खण्डात्मिका मानसिक कर्मण्यता का स्थान सर्वसमावेशिका सत्य-धी 'मह', 'वेद', 'दृष्टि' ले लेती है। सच्ची बुद्धि (विज्ञान) प्रकट होती है बुद्धि की बिखरी हुई क्रिया से–और यह विकीर्ण क्रिया ही वह सब कुछ है जो कि 'मनस्' के, ऐन्द्रियक मन के आधार पर संभावित है। विज्ञान हमें विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध चेतना (चित्) पर पहुंचाता है। वहां हम अपनी सत्ता के ठीक मूल तक सर्व में ईश के साथ अपने पूर्ण तादात्म्य का साक्षात्कार करते हैं।

परंतु चित् में, संकल्प और दृष्टि एक हैं। इसलिये विज्ञान (या सत्य धी) में भी जो कि प्रकाशमान रूप से चित् से आता है, संकल्प और दृष्टि मिले हुए हैं, एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं जैसा कि मन में होता है। इसलिये जब हमें दृष्टि प्राप्त हो जाती है और हम सत्य-चेतना में रहने लगते हैं, तो हमारा संकल्प (अग्नि) हमारे अंदर सत्य का स्वाभाविक स्वयंस्फूर्त नियम बन जाता है और, इसके सब कार्यों को तथा उनकी भावना और उद्देश्य को जानता हुआ, हमें सदा मानव लक्ष्य की ओर ले जाता है जो लक्ष्य कि सदा आनंद का उपभोग, ईश का अपनी आत्म-सत्ता में आनंद, अमरता की अवस्था ही है। अपने कार्यों में भी हम सब सत्ताओं के साथ एक हो जाते हैं और हमारा जीवन एकता, सत्य और दिव्य सुख की एक मूर्त्ति में विकसित होने लगता है और अब उस अहंकार के कुटिल मार्ग पर नहीं चलता जो कि विभाजन, मिथ्यात्वों तथा स्खलनों से भरा हुआ है। एक शब्द में, हम अपनी सत्ता का लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। वह लक्ष्य है—अपने आपमें दिव्य जीवन और दिव्य सत्ता की महिमा को या तो इस पृथ्वी पर एक भौतिक शरीर के अंदर तथा जड़प्रकृति के प्रतिरोध के विरोध में या परलोकों के अंदर अभिव्यक्त करना या समस्त जगत्मात्र को पारकर उस महिमा में प्रवेश करना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग में स्त्री और पुरुष का संबंध तथा उनकी लैंगिक प्रकृतियां

इस योग में स्त्री और पुरुष साधक-साधिकाओं के योग्य स्वतंत्र और स्वाभाविक संबंध स्थापित करने में सफल हों–इसके लिये सामान्यतः एकमात्र तरीका यह है कि वे एक दूसरे से इस प्रकार मिल-जुल सकें कि उन्हें तनिक भी ख्याल न आवे कि एक पुरुष है तथा दूसरा स्त्री है–बस, दोनों केवल मनुष्य हैं, दोनों साधक हैं, दोनों भगवान् की सेवा करने में तत्पर हैं तथा केवल भगवान् को ही खोज रहे हैं, और किसी को नहीं। यह भाव अपने अंदर पूरी तरह से धारण कर लो तो फिर किसी प्रकार की कठिनाई आने की संभावना नहीं।

(२)

किन्हीं दो व्यक्तियों में वैयक्तिक संबंध तब पैदा होता है जब वे अनन्य भाव से एक दूसरे के मुखापेक्षी होकर रहते हैं। इस योग में वैयक्तिक संबंधों के विषय में यह द्विविध नियम है: (१) सभी वैयक्तिक संबंध साधक और भगवान् के एकनिष्ठ संबंध में विलीन हो जाने चाहियें; (२) सभी वैयक्तिक (आंतरात्मिक-आध्यात्मिक) संबंध भगवती माता से ही निःसृत, उन्हीं से निर्धारित और उन्हीं के साथ अनन्य संबंध के अंगभूत होने चाहियें। जहां तक अन्य कोई वैयक्तिक संबंध इस द्विविध नियम में दृढ़ रह सकता है और किसी शारीरिक भोगविलास या प्राणिक विकार या मिश्रण को घुसने नहीं देता वहां तक वह रखा जा सकता है। परंतु क्योंकि अभी तक अतिमानस का प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ है, अभी वह अवतरित ही हो रहा है और प्राणिक एवं भौतिक स्तरों में अभी भी संघर्ष चल रहा है, अतएव अत्यधिक सजग रहने की आवश्यकता है। यदि अब तक अतिमानसिक रूपांतर हो चुकता तो ऐसी सजगता की जरूरत न पड़ती। दोनों को चाहिये कि वे माताजी से सीधा संबंध रखें और पूर्ण रूप से उन्हीं पर निर्भर रहें और यह देखें कि ऐसा संबंध बना रहे और कि इसकी पूर्णता को कोई भी चीज लेशभर भी कम न करे या खंडित न कर डाले।

(३)

१. आश्रम में साधक-साधिका के बीच समस्त स्थूल कामुक संबंध या संसर्ग सर्वथा निषिद्ध एवं अग्राह्य हैं।

२. कामुक ढंग के सभी प्राणगत संबंध साधना के प्रतिकूल हैं और इसलिये जो लोग आश्रम में रहना तथा योग में उन्नति करना चाहते हैं उन्हें भी ऐसे सभी संबंध त्यागने होंगे।

३. यहां तक कि पति-पत्नी को भी सारे वैवाहिक संबंध समाप्त कर एक दूसरे को सह-साधक-मात्र समझना होगा, न कि पति और पत्नी। साधक यहां स्त्री और पुरुष के रूप में नहीं रह रहे हैं; वे यहां किसी भी बहाने आपस में प्राणिक या शारीरिक कामुक संबंध जारी रखने या बनाने के लिये नहीं बल्कि साधना करने के लिये आये हैं।

४. जो कोई भी साधक आंतरात्मिक या आध्यात्मिक संबंध के बहाने दूसरों से प्राणिक संबंध स्थापित करता है वह अपने आपको धोखा दे रहा है और सत्य का उल्लंघन एवं योग के नियम का भंग कर रहा है।

५. किसी भी साधक को किसी दूसरे साधक की पूजा नहीं करनी चाहिये अथवा उसे साक्षात् भगवान् नहीं मानना चाहियें; ऐसी चेष्टाएं साधना के एवं आश्रम के अनुशासन के प्रतिकूल हैं और वायुमंडल में मिथ्या प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४)

ऐसी स्त्रियां कितनी ही होती हैं जो मन, अंतरात्मा, प्राण (हृदय) से प्रेम कर सकती हैं, पर वे शरीर पर स्पर्श होने से कतराती हैं और जब यह हो भी जाय तो भी व्यभिचार से उन्हें घृणा ही बनी रहती है। वे बलात्कारवश दब भले ही जायं पर इस प्रकार वे व्यभिचार के लिये सहमत नहीं हो सकतीं। वह तो उन्हें बराबर ही पाशविक और पतनकारी प्रतीत होता है। स्त्रियां ऐसा ही अनुभव करती हैं, चाहे पुरुषों को इसपर विश्वास करने में कठिनाई प्रतीत होती है, पर है यह पूर्णतः सत्य।

असामान्य (एबनोर्मल, abnormal) एक ऐसा शब्द है जो ऐसी किसी भी चीज के लिये बरता जा सकता है जो सर्वथा सुलभ, सस्ती एवं साधारण न हो। इस दृष्टि से प्रतिभा असामान्य वस्तु है, इसी प्रकार आध्यात्मिकता भी। ऐसे ही, ऊंचे आदर्शों के अनुसार जीवन-यापन का साहस भी। स्त्रियों में शारीरिक अक्षतयोनित्व (कुमारीत्व) की प्रवृत्ति असामान्य नहीं है, यह काफी साधारण है। और इस श्रेणी में स्त्री-स्वभाव का एक अच्छा ऊंचा प्रकार सम्मिलित है।

मन विचार और बोध का स्थान है, हृदय प्रेम का स्थान है, प्राण कामना का–परंतु इससे भला मानसिक प्रेम की सत्ता का निषेध कैसे हो जाता है? जैसे मन हृदय या प्राण के भावों से आक्रांत हो सकता है वैसे ही, हृदय भी मन के वश में आकर मानसिक शक्तियों से चालित हो सकता है।

इसी प्रकार, प्राणिक प्रेम और शारीरिक प्रेम का भी अस्तित्व है। प्राण प्रेम के बिना अन्य नाना कारणों से स्त्री की कामना कर सकता है–शासन या स्वत्व-स्थापन की वृत्ति को तृप्त करने के लिये, अपने प्राण की पुष्टि या प्राणिक शक्तियों के आदान-प्रदान के निमित्त स्त्री की प्राणिक शक्तियों को अपने अंदर खींचने के लिये, अपने गर्व या अपनी पीछा करने की व्याध-वृत्ति आदि आदि को पूरा करने के लिये (यह सब तो हुआ पुरुष के दृष्टिकोण से–पर स्त्री के भी अपने प्राणिक आशय होते हैं)। इसे प्रायः प्रेम का नाम दिया जाता है, पर यह प्राणिक कामनामात्र है, एक प्रकार की कामुकता है। परंतु यदि हृदय की उमंगें जग उठें तो यह प्राणिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है–एक ऐसी मिली-जुली चीज बन जाता है जिसमें इन प्राणिक हेतुओं में से कोई एक या सबके सब प्रबल होते हैं, पर तो भी यह होता है प्राणिक प्रेम ही।

एवमेव, शारीरिक प्रेम, सौंदर्य का आकर्षण, शारीरिक कामोत्तेजन या ऐसी ही और कोई चीज भी हो सकती है जो हृदय की उमंगें जगा दे। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि केवल शारीरिक आवश्यकता ही उपस्थित है और वह कोरी कामवासना है, इससे अधिक कुछ नहीं। परंतु शारीरिक प्रेम भी संभव है।

अथच, मानसिक प्रेम भी संभव है। इसकी उत्पत्ति के अनेक कारण हो सकते हैं–जैसे, अपने आदर्श को दूसरे में उपलब्ध करने का प्रयत्न या प्रशंसा एवं आश्चर्य का कोई प्रबल मानसिक आवेग, एक साथी-संगी के लिये, एक सहधर्मी के लिये–अपनी प्रकृति को पूर्ण एवं कृतार्थ करने वाले व्यक्ति के लिये, मार्गदर्शक एवं सहायक, नेता एवं स्वामी के लिये मन की खोज, या संकड़ों अन्य मानसिक प्रेरक भाव। अपने आपमें यह प्रेम नाम के योग्य नहीं, यद्यपि प्रायः यह इतना तीव्र होता है कि इसका प्रेम से भेद करना कठिन होता है। यहां तक कि यह जीवन के बलिदान, निःशेष आत्मदान आदि आदि के लिये प्रेरित कर सकता है। परंतु जब यह हृदय की उमंगें जगा देता है तब इसमेंसे अत्यंत शक्तिशाली प्रेम का जन्म हो सकता है जो अभी अपने मूल में और प्रधान स्वभाव में मानसिक ही होता है। तथापि साधारणतः, मन और प्राण एक साथ मिले होते हैं, पर यह मिश्रण व्यभिचार और उसके परिणामों के प्रति अरुचि या स्पष्ट घृणा के होते हुए भी रह सकता है। निःसंदेह, यदि पुरुष बलप्रयोग करे तो स्त्री दब सकती है, पर जैसा कि लोग कहते हैं, यह उसके हृदय के–उसके भावों और उसकी अत्यंत गहरी वृत्तियों के–विरुद्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मनोविज्ञान अज्ञान में है जो काम-प्रेरणा एवं कामावेग को ही प्रत्येक चीज का मूल मानता है।

(५)

स्त्रियां प्राणिक और भौतिक चेतना के साथ पुरुषों की अपेक्षा कोई अधिक नहीं बंधी होतीं; बल्कि, अपने अंतःपुरुष को ढूंढ़कर उसी के अनुसार चलना उनके लिये अधिक सुगम होता है क्योंकि साधारणतः पुरुषों के गर्वपूर्ण मानसिक दावों का उनमें अभाव होता है.... उनकी सचेतनता मानसिक ढंग की नहीं हीती जिसका शब्दों में वर्णन हो सके, पर वे अपने भावों में सचेतन होती हैं ओर उनमेंसे श्रेष्ठ कोटि की स्त्रियां अपने कार्यों में सज्ञान होती हैं।

–माताजी

इसमें संदेह नहीं कि वे अपने अंतःपुरुष को अधिक आसानी से खोज सकती हैं,–पर इतना ही तो बस नहीं है। यह पहला पग है। अगला है अंतरात्मा में निवास करना। तीसरा है अंतरात्मा को सत्ता का शासक बनाना। चौथा है मन के परे उठना। पांचवां है परे की वस्तु को निम्नतर प्रकृति में लाना। मेरे कहने का यह आशय नहीं कि यह सदा इसी क्रम से किया जाता है, पर यह सब संपन्न करना आवश्यक है।

स्त्रियों में इतना अधिक मानसिक संशय-वितर्क न भी हो पर प्राणिक संदेह-द्विविधा और प्रतिरोध बहुत अधिक हो सकता है।

उनमें अंतर्ज्ञान (intuition) निःसंदेह है, पर यह हृदय का या प्राणिक मन का सहज अंतर्ज्ञान होता है, न कि स्वयं साक्षात् अंतर्ज्ञान।

पुरुषों की कठिनाई निरी मन की नहीं है। वह भी प्राण की है–हां, पुरुष अपने प्राण को भगवान् के आगमन या स्पर्श या दबाव से बचाने के लिये अपनी बुद्धि की सहायता लेते हैं, स्त्रियां इसी काम के लिये अपने प्राणिक मन का सहारा लेती हैं।

पुरुष स्त्री को जो बाधक अनुभव करता है उसका कारण यह नहीं कि स्त्री शरीर तथा प्राण में रहती है वरन् यह कि पुरुष स्वयं प्राण तथा शरीर में निवास करता है। वह भी उसे बाधक पाती है और उसके बारे में कह सकती है कि वह नरक का द्वार (नरकस्य द्वारम्) है। यह कथन सत्य नहीं है कि पुरुष प्राण और शरीर में स्त्री की अपेक्षा कम निवास करता है। केवल इतनी बात है कि प्राण और शरीर के उद्देश्यों के लिये वह अपनी बुद्धि का अधिक प्रयोग करता है।

संबंध को अभी यहीं तक सीमित रखने की जरूरत है क्योंकि काम-वासना तुरंत सामने आ धमकती है। तुम्हें प्राण के ऊपर और प्राण से अधिक गहरा रहने को आवाहन प्राप्त हुआ है–केवल तभी तुम प्राण का ठीक ठीक प्रयोग कर सकते हो। बुद्ध का ध्येय था निर्वाण और यदि तुम निर्वाण के लिये कटिबद्ध हो तो किसी भी व्यक्ति के साथ संबंध रखने का क्या प्रयोजन? रामकृष्ण ने एकाकी जीवन पर बल अवश्य दिया था पर उस काल के लिये जब मनुष्य आध्यात्मिक तौर पर अपरिपक्व हो,–जब वह परिपक्व हो जाय और पूर्ववत् विषय-वासना का दास न रहे तब लोगों से संपर्क रखने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।

(६)

यूनान में स्त्री घर की दासी होती थी; वेश्याएं इसका अपवाद थीं और उन्हें केवल दूसरों को खुश करने की शिक्षा दी जाती थी। रोम में स्त्री की सबसे ऊंची स्तुति यह थी कि "वह घर पर रहती है और ऊन कातती है।" रोमन साम्राज्य के अंतर्गत केवल थोड़े से काल में ही उसे कुछ अधिक स्वतंत्रता मिलनी शुरू हुई थी, पर उसे पुरुष की समानता का दर्जा कभी नहीं दिया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस चिकित्सक का तुमने जिक्र किया है वह या तो अनाड़ी था या वह शेखी बघार रहा था... वाह कैसी युक्ति है उसकी कि यह सब अपवाद है और सहस्रों वर्षों की परिपाटियों की उपेक्षा भी ! राज्यप्रबंध, शासन, व्यापार के संबंध में भला तुम क्या कहोगे जिनमें स्त्रियों ने अपने को पुरुषों के समान योग्य अथवा अनेक पुरुषों से लगातार ही अधिक योग्य सिद्ध किया है! इन चीजों में क्या मस्तिष्क की जरूरत नहीं है? क्या कोई भी मूढ़मति इन्हें कर सकता है?

इसका वास्तव में आशय वही है जो पुरुषों ने स्त्रियों से प्रधानतया चाहा है–कि वे हमारी दासियां एवं दाइयां बनें, हमारे लिये खाना पकानेवाली, बच्चे जनने और उन्हें पालनेवाली, हमारी विषय-वासनाओं की पूर्त्ति करनेवाली बनें इत्यादि। यही जीवन में उनका धंधा और ध्येय रहा है और उनकी प्रकृतियां उनके काम के अनुकूल ढल गई हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ भी किया है वह सब गिनती में नहीं आ सकता। परंतु वास्तव में उन्होंने उनपर रखे हुए जूए के होते हुए किया है। तिसपर भी पुरुष बड़प्पन की हंसी हंसता है और कहता है कि इस सबका कारण है स्त्री की हीन प्रकृति, न कि उसपर लादा हुआ बोझ। युगों से वे ऐसी प्रकृति के लिये सिखाई-पढ़ाई गई हैं। यही कारण है कि दासता, आत्म-विलोप, पुरुष की कठपुतली बनना ही उनका भाग्य रहा है। इस शिक्षा ने उन्हें यही सिखाया है। परंतु इसने उनके अंदर एक और प्रकार का अहंकार भी पैदा कर दिया है जो उनका आध्यात्मिक विघ्न है–वह अहंकार, जो अभिमान और भूख-हड़ताल के मूल में होता है।

ये सब कटी-छंटी उक्तियां मानसिक स्थापनाएं हैं, और मानसिक स्थापनाएं इतनी कटी-छंटी होती हैं कि वे सत्य नहीं हो सकतीं, जैसा कि दर्शन और पदार्थ-विज्ञान अब समझने लगे हैं। जीवन और सत्ता अतीव जटिल वस्तुएं हैं। वे मानसिक सिद्धांतों में नहीं बांधी जा सकतीं।

इस विषय में सार्वभौम नियम कोई नहीं है। स्त्रियां पुरुषों के ही समान या उनसे अधिक कामुक हो सकती हैं। परंतु कामवासना से घृणा करनेवाली स्त्रियां अनेकों होती हैं पर ऐसे पुरुष बहुत ही कम होते हैं। सहस्रों में एक सुखदेव, पर अनेकों डिआनाएं (Dianas) और पालस एथेनीज (Pallas Athenes)। कुमारीत्व वास्तव में स्त्रियों की कल्पना है; पुरुष तो नित्य कुमारीत्व के विचार से दूर ही भागते हैं। ऐसी स्त्रियां अनेकों होंगी जिनमें कामवृत्ति जगेगी ही नहीं यदि पुरुष इसे उनपर थोपें नहीं, पर यह बात बहुत पुरुषों के बारे में, शायद किसी भी पुरुष के बारे में नहीं कही जा सकती। परंतु चित्र का दूसरा रूप भी है। स्त्रियां, सम्भवतः पुरुष की अपेक्षा शारीरिक दृष्टि से शायद कम कामुक होती हैं,–परंतु उनमें प्राणिक कामुकता, अधिकार जमाने और अधिकार में आने आदि की अनेक वृत्तियां भी तो हैं।

यह पुराना यतियों-संन्यासियों का सा विचार है। यह पुरुषों की अति कामुकता से पैदा होता है। वे स्त्रियों को नरक का द्वार, नरकस्य द्वारम्, समझते हैं क्योंकि वह द्वार स्वयं उनमें इतना चौड़ा खुला होता है। पर वे स्त्रियों पर ही दोष लगाना पसंद करते हैं.....स्वर्ग से पतित होने का कारण काम-वासना नहीं थी, असली बात यह थी कि स्त्री नया अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करना चाहती थी। (ईसाई विश्वास के अनुसार प्रश्न था–क्या पुरुष स्त्री के कारण स्वर्ग से पतित हुआ?)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय खण्ड . . प्रथम अध्याय

दिव्य प्रेम का योग . . प्रेम और त्रिमार्ग

मानव प्रकृति और मानव जीवन में इच्छा, ज्ञान और प्रेम तीन दिव्य शक्तियां हैं। ये उन तीन मार्गों की सूचक हैं जिनसे मानव आत्मा भगवान् की ओर आरोहण करती है। अतएव, जैसा कि हम देख चुके हैं, इन तीनों की सम्मिलित परिपूर्णता, इन तीनों में मनुष्य का भगवान् से मिलन ही पूर्णयोग की नींव है।

कर्म जीवन की प्रमुख शक्ति है। प्रकृति पहले शक्ति और उसके कर्मों को हाथ में लेती है जो मनुष्य में सचेतन होकर इच्छाशक्ति और उसकी सफलताओं का रूप धारण कर लेते हैं; इसी लिये हम देखते हैं कि अपने कर्म को भगवान् की ओर मोड़ देने पर, मनुष्य का जीवन सुचारु और सुनिश्चित रूप से दिव्य बनने लगता है। यह प्रथम प्रवेश का द्वार है, दीक्षा का श्रीगणेश है। जब उसकी इच्छा भगवान् की इच्छा के साथ एक हो जाती है और सत्ता का संपूर्ण कर्म भगवान् से प्रवाहित होता और भगवान् को लक्ष्य में रखकर किया जाता है, तब कर्मों में मिलन पूर्ण रूप से संपन्न हो जाता है। परंतु कर्म ज्ञान में ही चरितार्थ होते हैं; गीता कहती है कि सारे के सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं, **सर्वं कर्माखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते।** इच्छाशक्ति और कर्मों में मिलन होने पर हम उन सर्वव्यापक चिन्मय पुरुष के साथ एकमय हो जाते हैं जिनसे हमारी संपूर्ण इच्छाशक्ति और कर्म उद्भूत होते और अपना बल आहरण करते हैं और जिनमें वे अपनी शक्तियों का चक्र पूरा करते हैं। इस मिलन का मुकुट है प्रेम; कारण, जिन परम पुरुष में हम रहते-सहते, चलते-फिरते और काम-काज करते हैं, जिनके आश्रय पर हमारी सत्ता स्थित है, जिनके लिये ही हम अंत में काम करना और अस्तित्व में रहना सीखते हैं, उनके साथ सचेतन मिलन से उत्पन्न आनंद को ही प्रेम कहते हैं। यही है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का भगवान् में संगम। जब हम कर्मों को अपने प्रवेशपथ और अपने मिलनमार्ग के रूप में अपनाकर अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं।

भगवान् में नित्य निवास की नींव है ज्ञान। कारण, समस्त जीवन और अस्तित्व की नींव है चेतना, और ज्ञान चेतना की एक क्रिया का ही नाम है। ज्ञान वह प्रकाश है जिससे चेतना अपने आपको तथा अपने तथ्यों को जानती है, वह शक्ति है जिससे हम, कर्म से प्रारंभ करके, विचार और क्रिया के आंतरिक परिणामों को अपनी चेतन सत्ता के दृढ़ विकास के भीतर धारण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार अंत में हमारी सत्ता, मिलन के द्वारा, दिव्य सत्ता की अनंतता में अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। भगवान् हमें अनेक रूपों में दर्शन देते हैं और उनमेंसे प्रत्येक की कुंजी है ज्ञान; फलतः, ज्ञान से हम अनंत एवं भगवान् में सर्वभाव से (सर्वभावेन)* प्रवेश करते तथा उन्हें अधिकृत करते हैं, और उन्हें सर्वभाव से अपने अंदर ग्रहण करते तथा उनसे अधिकृत होते हैं।

ज्ञान के बिना हम, प्रकृति की शक्ति की अंधता में ग्रस्त होकर, अंधभाव से भगवान् में निवास करते हैं। प्रकृति की शक्ति अपने कामों में व्यस्त है पर अपने मूलस्रोत और स्वामी को भूली हुई है। इस प्रकार हम भगवान् के अंदर अदिव्य ढंग से वास करने के कारण अपनी सत्ता के सच्चे एवं पूर्ण आनंद से वंचित रहते हैं। ज्ञान से ज्ञेय के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त होता है,– क्योंकि पूर्ण और सच्चा ज्ञान तादात्म्य के आश्रय पर ही स्थित रह सकता है; ऐसे ज्ञान से भेदभाव दूर होता है और हमारी सारी संकीर्णता, विषमता, दुर्बलता तथा तृष्णा समूल नष्ट हो जाती है। परंतु ज्ञान कर्मों के बिना पूर्ण नहीं होता; क्योंकि केवल पुरुष या उसकी आत्म-सचेतन

*गीता १५–१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशांत सत्ता ही ईश्वर नहीं है बल्कि पुरुष में निहित परम इच्छाशक्ति भी ईश्वर ही है; अ यदि कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं तो ज्ञान भी कर्मों में चरितार्थ होता है। यहां भी, प्रेम ज्ञान का मुकुट है; क्योंकि प्रेम है मिलन का आनंद; एकत्व को अपने आनंद का अशेष ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये मिलन के हर्ष से सचेतन होना होगा। अवश्य ही पूर्ण ज्ञान का फल होता है पूर्ण प्रेम, सर्वांग ज्ञान का फल होता है प्रेम का परिपूर्ण एवं बहुल ऐश्वर्य। गीता कहती है "जो मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है"—केवल इस रूप में नहीं कि मैं अक्षर एकत्व हूं वरन् भगवान् की अनेकात्मक गति के रूप में (क्षर रूप में) भी और उस रूप में भी जो क्षर-अक्षर दोनों से उत्तम है, जिसमें दोनों दिव्य ढंग से धारित हैं,—"वह, पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण प्रेम के द्वारा सर्वात्मना मुझे ही खोजता है, वह सर्ववित् सर्वभाव से मुझे ही भजता है।"* यह है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का भगवान् में संगम, जब हम ज्ञानमार्ग से अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं।

प्रेम समस्त सत्ता का मुकुट और उसकी परिपूर्णता का पथ है; इसी से सत्ता चरम आत्म-अन्वेषण की समस्त तीव्रता और संपूर्ण संपदा तथा हर्षावेश की ओर आरोहण करती है। यद्यपि परम सत् का साक्षात् स्वरूप है चित्, और चेतना से ही, अर्थात् एकात्मता में कृतार्थ होनेवाले पूर्ण ज्ञान से ही, हम उसके साथ एकाकार होते हैं, तथापि चेतना का स्वरूप ही है आनंद, और आनंद के शिखर की कुंजी एवं रहस्य है प्रेम। चाहे इच्छा चेतन सत्ता की ऐसी शक्ति है जिससे यह अपने को चरितार्थ करती है और चाहे इच्छाशक्ति में एकत्व स्थापित करके ही हम परम सत्ता के साथ उसकी स्वाभाविक अनंत शक्ति में एकाकार होते हैं तो भी, उस शक्ति के सभी कर्म आनंद से उत्पन्न होते एवं आनंद में निवास करते हैं और आनंद ही है उनका लक्ष्य एवं परिणति; शुद्ध परम सत् से और उसकी चेतना-शक्ति द्वारा अभिव्यक्त सब रूपों से प्रेम करना ही आनंद की पूर्ण विशालता का पथ है। प्रेम है दिव्य आत्म-आनंद का वेग और मद और प्रेम के बिना हम सत् की अनंतता की मुग्ध शांति, आनंद की लवलीन नीरवता भले ही प्राप्त कर लें पर उसकी ऐश्वर्य-संपदा की अथाह गहराई तक नहीं पहुंच सकते। प्रेम हमें विरह के दुःख से ले चलकर पूर्ण मिलन के आनंद तक पहुंचाता है, पर साथ ही हम मिलन की क्रिया के उस हर्ष को भी खोते नहीं जो आत्मा की सबसे बड़ी खोज है और जिसके लिये संसार का जीवन एक लंबी तयारी है। इसलिये प्रेममार्ग से भगवान् के पास पहुंचना अपने आपको यावत्संभव सबसे महान् आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिये तैयार करना है।

प्रेम कृतार्थ होकर ज्ञान का बहिष्कार नहीं कर देता, बल्कि स्वयं ज्ञान को उत्पन्न करता है। ज्ञान जितना ही अधिक पूर्ण होता है, प्रेम की संभावना उतनी ही अधिक समृद्ध होती है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "भक्ति से मनुष्य मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है—मैं तत्त्वतः जितना और जो कुछ भी हूं—अपने संपूर्ण विस्तार और महानता में तथा अपनी सत्ता के तत्त्वों में मैं जो कुछ भी हूं उस सबको—मनुष्य भक्ति से अवश्यमेव जान लेता है, और मुझे तत्त्वतः जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है।" ज्ञान के बिना प्रेम प्रगाढ़ और उत्कट, पर अंध, असंस्कृत और प्रायः भयानक, महाशक्तिसंपन्न पर साथ ही बाधक होता है; सीमित ज्ञान से युक्त प्रेम अपने उत्साह में और प्रायः अपने उत्साह के कारण ही संकीर्णता का दोषी बनता है; किंतु जो प्रेम पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाता है उससे अनंत एवं परम सायुज्य की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रेम दिव्य कर्मों

---

*यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।।

१५/१८-१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से असंगत नहीं वरन् अपने को हर्षपूर्वक उनमें नियोजित करता है; क्योंकि यह ईश्वर से प्रेम करता और उनकी संपूर्ण सत्ता में, सर्वभूत में, प्राणिमात्र में, उनसे एकमय होता है, तब संसार के लिये कर्म करता (लोकसंग्रह) अपने ईश्वर-प्रेम को अनेकानेक रूपों में अनुभव और चरितार्थ करना होता है। यह है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का ईश्वर में संगम; जब हम प्रेम को अपने पथ का दिव्यदूत बनाकर भक्तिमार्ग से अपनी यात्रा आरंभ करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं; इसका लक्ष्य यह है कि हम उस सर्व-प्रेमी की सत्ता का दिव्य परमानंद प्राप्त कर उसमें अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से कृतार्थ करें और अनुभव करें कि यही हमारी परिपूर्णता का सुरक्षित लोक एवं आनंदमय धाम है और यही है उसकी किरणों को विश्व में फैलाने का केंद्र।

सो, इन तीन शक्तियों का मिलन ही हमारी पूर्णता की नींव है, अतएव भगवान् के अंदर अपनी सर्वांग आत्म-परिपूर्णता के अभिलाषी के लिये यह आवश्यक है कि इन तीनों मार्गों के अनुयायिओं में जो परस्पर-निंदा की वृत्ति तथा भ्रांत धारणा प्रायः ही पाई जाती है उनसे वह अलग रहे और यदि उसमें लेशभर भी ये चीजें हों तो इन्हें निकाल फेंके। बहुधा ही देखने में आता है कि ज्ञान-संप्रदाय के लोग भक्त के मार्ग के प्रति घृणा भले ही न करें फिर भी वे इसे अपनी बहुत ऊंची चोटी पर से नीची दृष्टि से देखते हैं जैसे यह कोई निकृष्ट, अज्ञानपूर्ण वस्तु हो और केवल उन्हीं आत्माओं के योग्य हो जो सत्य की ऊंचाइयों के लिये अभी तैयार नहीं हैं। यह ठीक है कि ज्ञान के बिना भक्ति प्रायः ही अपक्व, असंस्कृत, अंध एवं भयावह वस्तु होती है जैसा कि धर्मों की त्रुटियों, अपराधों और मूर्खताओं से कितनी ही बार सिद्ध हो चुका है। परंतु इसका कारण यह है कि उन धर्मों में भक्ति को अभी अपना मार्ग, अपना सच्चा तत्त्व उपलब्ध नहीं हुआ है, वास्तव में उसने अभी मार्ग पर पग भी नहीं धरा है, बल्कि वह इसे टोह-टटोल रही है, इसकी ओर ले जानेवाली किसी एक पगडंडी पर ही चल रही है; इस अवस्था में ज्ञान भी भक्ति की तरह अपूर्ण होता है,—वह कट्टरपंथी, धार्मिक फूट डालनेवाला, असहिष्णु और किसी एक ही अनुदार तत्त्व की संकीर्णता में आबद्ध होता है, यहां तक कि उस तत्त्व को भी वह प्रायः अत्यंत अपूर्ण रूप में ही ग्रहण करता है। जब भक्त उस शक्ति को भलीभांति जान जाय जो उसे ऊंचा उठावेगी तब समझो कि प्रेम सचमुच उसकी पकड़ में आ गया है, वह उसे अंत में वैसे ही अमोघ रूप में शुद्ध तथा विशाल बनाता है जैसे ज्ञान बना सकता है; ये समकक्ष शक्तियां हैं, इनके एक ही लक्ष्य पर पहुंचने के उपाय भले ही भिन्न भिन्न हों। भक्त के भावावेश को नीची दृष्टि से देखनेवाले दार्शनिक का अभिमान भी, अन्य सब प्रकार के अभिमान की तरह, प्रकृति की किसी विशेष त्रुटि से पैदा होता है; क्योंकि यदि बुद्धि को अति एकांगी रूप में विकसित किया जाय तो वह हृदय के द्वारा मिलनेवाली देन को खो बठती है। बुद्धि हृदय की अपेक्षा हर तरह से उत्कृष्ट ही नहीं है; यदि यह उन द्वारों को अधिक शीघ्रता से खोल डालती है जिन्हें हृदय प्रायः व्यर्थ में ही टटोलता रहता है तो, यह भी प्रायः उन सत्यों से चूक जाती है जो हृदय के लिये अति निकट तथा सुग्राह्य हैं। जब विचार-पद्धति गंभीर होते होते आध्यात्मिक अनुभूति में परिणत होती है तब यदि यह शीघ्र ही गगनचुंबी चोटियों, शिखरों, व्योमव्यापी विशालताओं तक जा पहुंचती है तो भी, यह हृदय की सहायता के बिना दिव्य सत्ता तथा दिव्य आनंद के अतिशय गंभीर एवं समृद्ध गुहा-गह्वरों तथा समुद्रीय गहराइयों की थाह नहीं ले सकती।

भक्तिमार्ग प्रायः ही अनिवार्य रूप से निम्न कोटि का माना जाता है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, यह पूजा को लेकर चलता है और पूजा आध्यात्मिक अनुभव की उस अवस्था से संबंध रखती है जहां मानव आत्मा और भगवान् में पार्थक्य हो या उनकी एकता अभी अधूरी हो, दूसरे, इसका असली मूलतत्त्व ही है प्रेम और प्रेम सदैव दो का बोधक होता है, प्रेमी और प्रियतम का, और अतएव द्वित्व का, परंतु सबसे ऊंचा आध्यात्मिक अनुभव है एकत्व, और तीसरे, यह वैयक्तिक ईश्वर की खोज करता है जब कि सर्वोच्च तथा शाश्वत सत्य है निर्व्यक्तिक ईश्वर, भले ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे एकमात्र सद्वस्तु न भी माना जाय। परंतु पूजा भक्तिमार्ग का प्रथम पगमात्र है। जहां बाह्य पूजा आंतरिक आराधना में परिवर्तित हो जाती है वहीं से सच्ची भक्ति शुरू होती है; वह गभीर होकर प्रगाढ़ दिव्य प्रेम का रूप धारण करती है; उस प्रेम का फल होता है भगवान् के साथ हमारे संबंधों की घनिष्ठता का हर्ष; घनिष्ठता का हर्ष मिलन के आनंद में परिणत हो जाता है। ज्ञान की तरह प्रेम भी हमें सर्वोच्च एकत्व तक पहुंचाता है और यह उस एकत्व को उसकी यावत्-संभव अधिक से अधिक गभीरता तथा तीव्रता प्रदान करता है। यह सच है कि प्रेम एकता में भिन्नता की ओर सहर्ष मुड़ता है, जिससे स्वयं एकत्व भी समृद्धतर और मधुरतर हो जाता है। परंतु यहां हम कह सकते हैं कि हृदय विचार से अधिक ज्ञानी है, कम से कम उस विचार से अधिक ज्ञानी है जो भगवान्संबंधी विरोधी विचारों पर दृष्टि गड़ाता है और उनमेंसे किसी एक पर ही अपना सारा ध्यान लगाता है और दूसरे को, जो इसके विपरीत प्रतीत होता है पर असल में इसका पूरक तथा इसकी महत्तम परिपूर्णता का साधन होता है, बहिष्कृत कर देता है। यही मन की दुर्बलता है—यह अपने विचारों, अपनी भावात्मक और अभावात्मक धारणाओं से तथा भागवत सद्वस्तु के उन रूपों से जिन्हें यह देखता है, अपने आपको सीमित कर लेता है, और उन्हें एक दूसरे से भिड़ा देने की प्रवृत्ति इसमें अत्यधिक होती है।

मनन, विचार या वह दार्शनिक प्रवृत्ति जिससे मानसिक ज्ञान भगवान् के समीप पहुंचता है प्रायः ही अमूर्त्त को मूर्त्त से, उच्च और दूरस्थ तत्त्व को गभीर एवं समीपस्थ से बहुत अधिक महत्त्व देती है। एकमेव अपने ही भीतर जो आनंद लेता है उसमें इसे अधिक महान् सत्य प्रतीत होता है, परंतु एकमेव बहु में जो आनंद लेता है या बहु एकमेव में जो आनंद लेता है उसमें इसे हीनतर सत्य या यहां तक कि मिथ्यात्व का बोध होता है, निर्व्यक्तिक और निर्गुण में इसे अधिक महान् सत्य अनुभूत होता है और सव्यक्तिक तथा सगुण में हीनतर सत्य या मिथ्यात्व। परंतु भगवान् हमारे विचार-द्वंद्वों से परे हैं, उनके रूपों में जो तात्त्विक विरोध हम खड़े कर देते हैं उनसे भी वे अतीत हैं। हम देख चुके हैं कि वे अनन्य एकत्व से बद्ध एवं सीमित नहीं हैं; उनकी एकता अपने को अनंत विविधता में चरितार्थ करती है और उस विविधता के हर्ष की पूर्णतम कुंजी है प्रेम के पास, इसलिये वह एकता के हर्ष को भी गंवाता नहीं। सर्वोच्च ज्ञान और ज्ञानलब्ध सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभव को, बहु के साथ उनके नाना संबंधों के बीच भी उनकी एकता वैसी ही पूर्ण प्रतीत होती है जैसी उनके आत्म-मग्न आनंद में। यदि विचार को निर्व्यक्तिक या निर्गुण विशालतर और उच्चतर सत्य मालूम होता है और सव्यक्तिक वा सगुण क्षुद्रतर अनुभव तो, आत्मा उन दोनों को ही उसी एक सद्वस्तु के पक्ष समझती है जो अपने को दोनों में रूपायित करती है, और यदि उस सद्वस्तु का एक इस प्रकार का ज्ञान है जिसे विचार अनंत निर्व्यक्तिकता पर आग्रह करके प्राप्त करता है तो उसका एक ऐसा ज्ञान भी है जिसे प्रेम अनंत सव्यक्तिकता पर आग्रह करके अधिगत करता है। इनमेंसे प्रत्येक के आध्यात्मिक अनुभव का यदि अंत तक अनुसरण किया जाय तो वह एक ही चरम सत्य पर पहुंचता है। जैसा कि गीता हमें बताती है, ज्ञान की ही भांति भक्ति से भी हम पुरुषोत्तम के साथ सायुज्य लाभ करते हैं—पुरुषोत्तम अर्थात् वह परम पुरुष जो निर्व्यक्तिक को तथा असंख्य व्यक्तित्वों को, निर्गुण को तथा अनंत गुणों को, शुद्ध सत्, चित् और आनंद को तथा इनके संबंधों की अपार क्रीड़ा को अपने अंदर धारण किये है।

दूसरी ओर, भक्त की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान की काष्ठसम शुष्कता से घृणा करने की होती है। यह सच भी है कि आध्यात्मिक अनुभूति के आह्लाद के बिना दर्शन अपने आपमें एक ऐसी चीज है जो जितनी स्पष्ट है उतनी ही रूक्ष भी है और जो परितृप्ति हम चाहते हैं वह सारी की सारी यह हमें नहीं दे सकता; अपि च, इसका आध्यात्मिक अनुभव भी जब तक विचार का सहारा छोड़कर मन को अतिक्रांत नहीं कर जाता तब तक अमूर्त्त आनंद में ही अत्यधिक निवास करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है; इसी प्रकार, जहां यह पहुंचता है वह वास्तव में शून्य नहीं है जैसा कि वह हृदय के भावावेश को प्रतीत होता है, फिर भी शिखरों की सीमाएं तो उसमें हैं ही। इसके विपरीत, स्वयं प्रेम भी ज्ञान के बिना अधूरा है। गीता भक्ति के भेदों का वर्णन करती हुई कहती है कि प्रारंभ में भक्ति तीन प्रकार की होती है, एक तो वह जो संसार के दुःखों से घबराकर भगवान् की शरण लेती है, **आर्त्त;** दूसरी वह जो किसी चीज की कामना करती हुई, इष्टफलदाता के रूप में भगवान् के पास जाती है, **अर्थार्थी;** और तीसरी वह है जो किसी दिव्य अज्ञात तत्त्व से प्रेम तो पहले से ही करती है, पर अभी तक उसे जानती नहीं और उससे आकृष्ट होकर उसे जानने को आतुर होती है, **जिज्ञासु;** परंतु यह सबसे बढ़कर श्रेय उस भक्ति को देती है जो ज्ञानयुक्त हो। स्पष्ट ही है कि भाव की जो तीव्रता यों कहती है कि, "मैं समझती तो नहीं, मैं प्रेम करती हूं", और, प्रेम करती हुई, समझने की पर्वाह भी नहीं करती, वह प्रेम की अंतिम नहीं बल्कि प्रथम आत्म-अभिव्यक्ति है, और वह उसकी सर्वोच्च तीव्रता भी नहीं है। वास्तव में, जैसे जैसे भगवान् का ज्ञान विकसित हो, वैसे वैसे भगवान् में आनंद और उससे प्रेम भी बढ़ना चाहिये। और फिर, ज्ञानरूपी आधार के बिना निरा आनंदातिशय सुरक्षित भी नहीं रह सकता; जिससे हम प्रेम करते हैं उसी में निवास करने से ही वह सुरक्षा एवं स्थिरता प्राप्त होती है, उसमें निवास करने का मतलब है—चेतना में उसके साथ एकमय होना, चेतना का एकत्व ही ज्ञानप्राप्ति के लिये सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान् का ज्ञान भगवत्प्रेम को इसकी अति सुदृढ़ सुरक्षा प्रदान करता है, इसके अनुभवजन्य विपुलतम हर्ष को इसकी ओर खोल देता है, इसे दृष्टिविस्तार (outlook) के उच्चात्युच्च शिखरों तक ऊंचा उठा ले जाता है।

इन दो शक्तियों की एक दूसरे के विषय में भ्रांतियां एक प्रकार का अज्ञान ही हैं। इसी प्रकार ये दोनों ही जब कर्ममार्ग को अपनी अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि के उच्चतर शिखर से हीन समझकर घृणा की दृष्टि से देखती हैं तो इनकी यह प्रवृत्ति भी कुछ कम अज्ञानपूर्ण नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान की अपनी तीव्रता होती है उसी प्रकार प्रेम की भी अपनी तीव्रता होती है जिसे कर्म बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाली चीज प्रतीत होते हैं। परंतु कर्म इस प्रकार बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाले तभी होते हैं जब हमने पुरुषोत्तम के साथ संकल्प तथा चेतना की एकता प्राप्त नहीं की होती। वह एकता एक बार प्राप्त हुई कि कर्म ज्ञान की साक्षात् शक्ति तथा प्रेम का मूर्तिमंत प्रस्रवण बन जाते हैं। यदि ज्ञान है एकत्व की असली भूमिका और प्रेम है उसका आनंद तो दिव्य कर्म हैं उसकी ज्योति और मधुरता की जीवंत शक्ति। प्रेम की एक गति ऐसी भी होती है जैसी मानव प्रेम की अभीप्सा में देखने में आती है। यह प्रेमी और प्रियतम को हृदय के परिणय-प्रासाद में बंद रखकर उन्हें उनके अनन्य एकत्व के उपभोग में संसार से और अन्य सबसे अलग-थलग कर देनेवाली गति है। यह शायद इस मार्ग की अनिवार्य गति है। फिर भी, ज्ञान में परितृप्त विशालतम प्रेम संसार को कोई इस हर्ष से भिन्न और प्रतिकूल वस्तु नहीं वरन् प्रियतम की सत्ता समझता है और प्राणिमात्र को भी उसी की सत्ता के रूप में निहारता है; इस अंतर्दर्शन में दिव्य कर्म अपना आह्लाद और अपनी सार्थकता अनुभव करते हैं।

यही है वह ज्ञान जिसमें पूर्णयोग को निवास करना होगा। हमें मन, बुद्धि, इच्छाशक्ति, हृदय की शक्तियों को लेकर भगवान् की ओर प्रस्थान करना है; परंतु मन में सब कुछ सीमित है। अतः इस मार्ग में शुरू शुरू में तथा चिरकाल तक सीमा-संकीर्णता और एकांगिता तो रहेगी ही। किंतु पूर्णयोग इन्हें अन्य अधिक ऐकांतिक साधनापथों की अपेक्षा ढीले-ढाले रूप में ही धारण करेगा। यह मानसिक आवश्यकता से अपेक्षाकृत शीघ्र ही ऊपर उठ जायगा। ज्ञान के या कर्म के मार्ग की तरह ही यह प्रेम के मार्ग से भी यात्रा शुरू कर सकता है; पर इसकी परितृप्ति के हर्ष का प्रारंभ तो वहीं होता है जहां ये तीनों आकर मिल जाते हैं। प्रेम को यह छोड़ नहीं सकता। हां, यह अपना प्रारंभ इससे नहीं करता; कारण प्रेम कर्मों का मुकुट और ज्ञान का प्रस्फुटन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योतिर्मय मन

एक नवीन मनुष्यजाति का हमारे लिये यह अर्थ है कि मनोमय प्राणियों की एक ऐसी श्रेणी या जाति का आविर्भाव एवं विकास होगा जिसका मानसिक तत्त्व अब ठीक वही अज्ञान में रहने वाला मन नहीं होगा जो ज्ञान के लिये प्रयास करता है पर अपनी ज्ञान की स्थिति में भी अज्ञान से बंधा होता है, ज्योति की खोज तो करता है पर उसका स्वाभाविक स्वामी नहीं होता, ज्योति की ओर खुला तो होता है पर ज्योति के अंदर निवास नहीं करता, जो अभी तक पूर्णताप्राप्त यंत्र नहीं है, सत्य से सचेतन और अज्ञान से मुक्त नहीं है। बल्कि इसके स्थान पर वह जाति एक और ही प्रकार के मनस्तत्त्व को अधिकृत कर लेगी। उसे हम ज्योतिर्मय मन कह सकते हैं। वह एक ऐसा मन होगा जो सत्य में निवास करने में समर्थ होगा, सत्य के विषय में सचेतन होने में सक्षम होगा और अपने जीवन में अप्रत्यक्ष ज्ञान की जगह प्रत्यक्ष ज्ञान अभिव्यक्त कर सकेगा। उस जाति की मानस-शक्ति ज्योति का यंत्र होगी और अब अज्ञान का यंत्र नहीं रहेगी। अपनी उच्चतम अवस्था में वह अतिमानस में प्रवेश करने में समर्थ होगी और इसे अधिकृत करनेवाली नई जाति में से ही अतिमानवों की जाति तैयार की जायगी जो पार्थिव प्रकृति के क्रमविकास के नेता के रूप में आविर्भूत होगी। यहां तक कि ज्योतिर्मय मन की उच्चतम अभिव्यक्तियां एवं स्थितियां अतिमानस का यंत्र होंगी, उसका अंश या उसकी शाखाएं होंगी, उनकी प्राप्ति का अर्थ होगा मनुष्यता को पार कर जाना और अतिमानसिक तत्त्व को धारण करनेवाली अतिमानवता के अंदर पैर रखना। सबसे बढ़कर इस मन को अधिकृत करने पर मनोमय प्राणी अपनी वर्तमान सोचने, अनुभव करने और होने की सामान्य अवस्थाओं से ऊपर उठकर और अपने आपको अतिक्रम कर मन की उच्चतम शक्तियों के अंदर चले जाने में समर्थ होगा। ये शक्तियां हमारी मनोमयी सत्ता और अतिमानस के बीच में अवस्थित हैं। ये अधिक महत् और अधिक ज्योतिर्मय तत्त्व की ओर ले जानेवाली सीढ़ियां मानी जा सकती हैं। संभव है कि यह प्रगति, क्रमविकास के द्वारा होनेवाली अन्य प्रगतियों की तरह ही, एक ही छलांग में न सिद्ध की जा सके और वास्तव में यह इस प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती; पर एकदम आरंभ से ही यह अनिवार्य हो जायगी; ऊपर से दबाव डालता हुआ अतिमानस स्वयं अपने अंदर से इस ज्योतिर्मय मन को उत्पन्न करेगा और फिर इससे चरम फल की सिद्धि ध्रुव सत्य बन जायगी। इस नई ज्योति की आरंभिक चमक ही अपने अंदर इसकी उच्चतम दीप्तियों का बीज वहन करेगी; इसके प्रथम प्रारंभ के अंदर भी उन दीप्तियों की श्रेष्ठ शक्तियां निश्चित रूप से विद्यमान होंगी; क्योंकि यही विकास-क्रम के अंदर होनेवाले प्रत्येक आविर्भाव की पुरानी कहानी है; इसकी उच्चतम परिपूर्णता का तत्त्व गुप्त रूप से निवर्तन के अंदर विद्यमान है जो विवर्तन का पूर्वगामी है और गुप्त तत्त्व के क्रमविकास को आवश्यक बनाता है।

क्रमविकास की समूची कहानी के अंदर हम यह देख रहे हैं कि उसके अंदर दो पहलू हैं जो एक-दूसरे के पूरक हैं, उसकी क्रिया को उत्पन्न करते हैं और उसकी अखंडता के लिये आवश्यक हैं। प्रकृति के क्रमविवर्तन के अंदर सत्ता का निगूढ़ शक्ति-सामर्थ्य और तत्त्व छिपा हुआ है और वह उस पर्दे के नीचे छिपा पड़ा है जो जड़ प्रकृति ने उसपर डाल रखा है। स्वयं वह प्रकृति ही उस तत्त्व की अनिवार्य शक्ति को अपने अंदर वहन करती है। इस शक्ति के कारण उसकी अंतर्निहित क्षमताओं और गुणों का तथा सत्य-स्वरूप को गठित करनेवाले मूल तत्त्वों का आविर्भाव अनिवार्य हो जाता है। जब विकसनशील तत्त्व प्रकट होता है तब उस प्राकट्य की प्रक्रिया के बराबर ही दो पहलू होते हैं। एक तो क्रमपरंपरा होती है जिससे वह तत्त्व निवर्तन की अवस्था से बाहर निकलकर ऊपर उठता है और अपनी शक्तियों को, अपनी संभावनाओं को, अपने अंदर निहित परमदेव की शक्ति को अधिकाधिक अभिव्यक्त करता है; और फिर उस तत्त्व की सत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सभी प्रकार और रूप निरंतर अभिव्यक्त होते हैं जो उसके मूल स्वभाव की दृश्य, अभिव्यंजक और कार्यक्षम प्रतिमूर्त्तियां होते हैं। क्रमविकास की प्रक्रिया के अंदर प्रकट होते हैं जड़तत्त्व के सुसंगठित रूप और क्रियाकलाप, प्राण और सजीव प्राणियों के विभिन्न प्रकार, मन और चिंतन-शील प्राणियों के विभिन्न प्रकार, आध्यात्मिक तत्त्व और आध्यात्मिक पुरुषों की प्रोज्ज्वलता और महानता; इन्हीं आध्यात्मिक पुरुषों का स्वभाव, चरित्र और व्यक्तित्व क्रमविकास की उच्चतम ऊंचाइयों की ओर आरोहण करने के सोपानों को प्रकट करते हैं और, साथ ही, वह अपने आपमें जो कुछ है तथा काल और सर्वप्रकाशक आत्मा के प्रभाव से उसे जो कुछ होना होगा, उसकी अंतिम बृहत्तम अभिव्यक्ति को भी सूचित करते हैं। क्रमविकास के रूप में हम लोग जो कुछ देख रहे हैं उसका यथार्थ रहस्य यही है और इसी ओर उसका प्रवेग है; रूपों की बहुविधता और विभिन्नता तो महज उसकी प्रक्रिया का एक साधन है—उपाय है। प्रत्येक स्तर अपने से परे के स्तर की संभावना और निश्चितता धारण करता है; अधिकाधिक विकसित रूपों और शक्तियों का आविर्भाव यह सूचित करता है कि उनके परे और भी अधिक पूर्ण रूप और अधिक महान् शक्तियां हैं तथा प्रत्येक चेतना और उसके अनुरूप सचेतन प्राणियों का आविर्भाव यह क्षमता प्रदान करता है कि परे की एक और महत्तर चेतना में ऊपर उठा जा सके और प्राणियों की एक महत्तर कक्षा उत्पन्न हो और सर्वोच्च देवताओं की कक्षा तक पहुंचा जा सके जिसके लिये प्रकृति प्रयास कर रही है और जिसे अभिव्यक्त करने की क्षमता दिखाना उसके लिये दैव-निर्दिष्ट कार्य है। जड़तत्त्व अपने सुसंगठित रूपों को विकसित करते करते अंत में सजीव प्राणियों को मूर्त्तिमान् करने में समर्थ हुआ। फिर प्राण उद्भिज की अवचेतना में से निकलकर सचेतन पशु-आकृतियों में ऊपर उठा और उनके भीतर से होता हुआ मनुष्य के चिंतनशील जीवन में पहुंचा। प्राणाश्रित मन ने बुद्धि को विकसित किया, उसके ज्ञान और अज्ञान के, सत्य और भ्रांति के रूपों को विक-सित किया और फिर वह आध्यात्मिक दर्शन और ज्ञान की स्थिति में पहुंचा और अब अस्पष्ट रूप में, मानों शीशे के भीतर से, अतिमानस और एक सत्य-सचेतन जीवन की संभावना को देख सकता है। इस अनिवार्य आरोहण के भीतर ज्योतिर्मय मन एक स्तर है, एक अनिवार्य स्तर है। एक विकसनशील तत्त्व के रूप में यह मानव-आरोहण के एक स्तर को सूचित करेगा और एक नए प्रकार के मानव-प्राणियों को विकसित करेगा। यह जो ज्योतिर्मय मन का विकास होगा उसमें निश्चय ही उसकी अपनी शक्तियों की तथा एक आरोहणात्मक मनुष्यजाति के प्रकारों की ऊपर उठनेवाली एक क्रमपरंपरा विद्यमान होगी और वह मनुष्यजाति आध्यात्मिकता की ओर मुड़ने की वृत्ति को, ज्योति ग्रहण करने की क्षमता को और दिव्य मनुष्यत्व और दिव्य जीवन की ओर आरो-हण करने की प्रवृत्ति को मूर्त्तिमान् करेगी।

चीजें जैसी हैं उनके स्वभाव को देखते हुए और अभी क्रमविकास की प्रक्रिया जैसी है उसके स्वभाव को देखते हुए हम कह सकते हैं कि इस ज्योतिर्मय मन का जो जन्म होगा और वह अपने प्रत्यक्ष-बोधगम्य स्वरूप में और अपनी सच्ची स्थिति में और समुचित क्षेत्र में जो आरोहण करेगा उसकी निश्चय ही दो अवस्थाएं होंगी। पहली अवस्था में हम देख सकते हैं कि ज्योतिर्मय मन अज्ञान के भीतर से अपने आपको समेट रहा है, अपने उपादानस्वरूप तत्त्व एकत्र कर रहा है, अपने आकार और प्रकार गढ़ रहा है,—भले ही वे आरंभ में कितने ही अपूर्ण क्यों न हों,—और फिर उन सबको पूर्णता की ओर तब तक ढकेलता जा रहा है जब तक वह अज्ञान की सीमा को पार नहीं कर लेता और ज्योति में, अपनी निजी ज्योति में प्रकट नहीं हो जाता। दूसरी अवस्था में हम देख सकते हैं कि वह अपने उच्चतर आकार और प्रकार ग्रहण करता हुआ उस महत्तर स्वाभाविक ज्योति में विकसित होता जा रहा है और अंत में अतिमानस से संयुक्त हो जाता है और उसके गौण अंश के रूप में या उसके प्रतिनिधि के रूप में रहने लगता है। इनमेंसे प्रत्येक अवस्था में ही वह अपने निजी स्तर निर्द्धारित करेगा और अपनी व्यक्तिरूप सत्ताओं की श्रेणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अभिव्यक्त करेगा। ये सत्ताएं उसे मूर्त्तिमान् करके पूर्ण जीवन प्रदान करेंगी। इस तरह, सर्व-प्रथम, स्वयं अज्ञान के भीतर भी, दिव्य जीवन की ओर मनुष्य के आरोहण की संभावना निर्मित होगी; फिर उसके बाद विज्ञानमय मन नामक तत्त्व की महत्तर सिद्धि होने से तथा मानवप्राणी का रूपांतर होने से जब वह ज्योतिर्मय मन उद्भासित हो जायगा तब, अतिमानस को प्राप्त करने से पहले भी, और इस पार्थिव चेतना के अंदर भी, रूपांतरित मनुष्यजाति के अंदर प्रदीप्त दिव्य जीवन प्रकट होगा।

२८. ६. ५०

आलोक के पथ पर--

ज्योतिरुत्तमम् : : श्री नलिनीकांत गुप्त

किसी निकटवर्त्ती ज्योति और शक्ति के द्वारा पृथिवी का दुःख दूर न होगा। उससे सामयिक उपशम हो सकता है, कथञ्चित् अन्यमनस्क हुआ जा सकता है, किंतु रोग का आमूल निराकरण, परिपूर्ण स्वास्थ्य संभव है कि नहीं इसमें संदेह है।

ज्योति और शक्ति जितने ही ऊर्ध्व स्तर की होंगी, उतनी ही आरोग्य-क्षमता वे अपने साथ लेकर आएंगी।

सुतराम्, समय की आवश्यकता होती ही है। समीप के ज्योतिष्क कुछ मिनटों में ही अपना प्रकाश पृथिवी तक पहुंचा देते हैं; किंतु दूरतम विपुलतम ज्योतिष्कमंडली को आवश्यकता होती है सहस्रों वर्षों की। और फिर ऐसे भी ज्योतिःकुण्ड हैं जिनका प्रकाश सृष्टि के आदिकाल से अपनी यात्रा आरंभ करके भी आज तक पृथिवी पर दृष्टिगोचर नहीं हो सका।

जिस ज्योति और शक्ति की हम बाट जोहते बैठे हैं वह दूरतम होने के कारण ही पृथिवी पर अब तक नहीं पहुंच पाई। किंतु वह आ रही है, सदा निकटतर, अव्यर्थ नियति के समान; और एक दिन पहुंच भी जायगी।

★

किंतु तब तक ? क्या तब तक मनुष्य बचा रहेगा ? पृथिवी लुप्त न हो जायगी ? दुःख, दैन्य, रोग, महामारी और युद्धविग्रह जिस प्रकार बढ़ते ही जा रहे हैं, उससे ऐसा नहीं लगता कि मनुष्य अनिश्चित काल तक टिका रहेगा। और पृथिवी की गति भी अनिवार्य रूप से विनाश की धारा का अनुसरण करती हुई चल रही है; उसे उलटने का कोई उपाय भी नहीं। यह सुजला सुफला मलयजशीतला शस्यश्यामला जीवधात्री धरित्री चिरकाल ऐसी ही नहीं बनी रहेगी।

मनुष्य अपने क्षीण-जीवन, दीन-सामर्थ्य को लेकर विश्व की अपरिमेय प्रलय-शक्ति के विरुद्ध आखिर कितने दिन टिका रह सकता है ?

मा बिभेः ! मनुष्य यदि लाखों वर्ष अपनी दुर्गति सहन करते हुए बैठा रहा है तो और भी कुछ लाख वर्ष तक दुर्गति सहन करने की क्षमता उसमें है, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। पृथिवी भी कुछ सैंकड़ों या हजारों वर्षों में फटकर तार-तार नहीं हुई जा रही।

★

इतना ही नहीं, कुछ और भी है। मनुष्य--देहधारी जीव--अज्ञान की संतान है। अज्ञान की आवहवा ही उसके लिये सहज और स्वाभाविक परिमंडल है। वह अज्ञान उसके लिये चाहे कितना भी क्लेशदायक क्यों न जान पड़े, वह उसका अपना क्षेत्र है, अपना घरद्वार है। ऐसी स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि कहीं अचानक ही–किसी भागवत कृपा के बल पर–ऐसे मनुष्य को उसके अपने क्षेत्र से, घर-द्वार से, धरती से उखाड़कर किसी ज्योतिर्मण्डल में रोप दिया जाय तो वह बिना-विलंब मुरझाकर सूखकर झर जाएगा।

हम चाहे कितने ही अस्थिर चंचल व्याकुल क्यों न हों, हम तैयार तो आज भी नहीं हुए हैं–समुच्चतम ज्योति और शक्ति को धारण करने के लिये; पृथिवी भी सहसा स्वर्गराज्य बन जाने के लिये प्रस्तुत नहीं।

ऊर्ध्वतम ज्योति और शक्ति परम ज्ञानमय है; वह जानती है कि कब, किस प्रकार, कहां तक अवतरित होने पर वह पृथिवी के लिये प्रलयंकर न होकर कल्याणकर होगी। वह जो अव्यर्थ रूप से आ रही है, यही यथेष्ट है।

इस दिव्य स्पर्श को पाने से पूर्व मनुष्य लुप्त न होगा, पृथिवी भी ध्वस्त न होगी।

कारण, मनुष्य के, पृथिवी के अस्तित्व का सारा अर्थ ही वह दिव्यस्पर्श लाभ करना एवं उस दिव्यस्पर्श को अपने में मूर्त्त करके रखना है।

दुःख के भार और पाप के अंधकार का आविर्भाव मनुष्य को, पृथिवी को ग्रास करना नहीं, स्वयं ही ग्रस्त–रूपांतरित होना है–परम सुख, परम कल्याण की ज्योति के बीच।

(अनुवादक–मोहनलाल वाजपेयी)

एक भारतीय दार्शनिक : : श्री ई. एफ. एफ., हिल

श्रीअरविंद सम-सामयिक भारतीय दार्शनिकों में सबसे महान् हैं। वे सब कालों के महत्तम रहस्यवादियों की पंक्ति में अग्रगण्य हैं। इससे उन लोगों को भारी ठेस लगेगी जो, लिओनर्ड वुल्फ की भांति, रहस्यवाद को रहस्यमयीकरण के साथ तथा आध्यात्मिक अनुभव को ह्रास के साथ गड्डमड्ड कर देते हैं और इन्हें छल-छद्म कहकर उड़ा देते हैं; बात यह है कि रहस्यमयीकरण, ह्रास और अत्यधिक ठगविद्या यहां है सही, पर वहां नहीं जहां ये इसे स्थान देना चाहते हैं। श्री-अरविंद की मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म और स्पष्ट है, वह जिस विश्व का अनुसंधान करती है वह इतना विशाल है कि उसकी तुलना में, पश्चिमी मनोविज्ञान और फ्रायड का काम भी, चाहे हम उसे पूर्णमात्रा में उसका गौरव प्रदान करें तो भी ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई बच्चा अंधेरे में टटोल रहा हो। श्रीअरविंद का काम तुलना का नहीं वरन् इंजील के चौथे संदेश के साथ साम्य का दावा करता है। यहां हमारे सामने दो व्यक्ति हैं जो उच्चात्युच्च ज्ञान के क्षेत्र में अपने सहज अधिकार से समकक्ष हैं और पारस्परिक संबंध की दृष्टि से भी समकक्ष हैं। उन-में बीस शताब्दियों का अंतर है और वे भिन्न भिन्न संस्कृतियों से पोषण ग्रहण करते हैं पर उन्हें अपनी अंतःप्रेरणा एक ही आध्यात्मिक उद्गम से प्राप्त होती है। 'तुम सत्य को अवश्य जानोगे और सत्य तुम्हें अवश्यमेव मुक्त करेगा'–उनके संदेश का एक सामान्य पहलू है।

बंगाली, संस्कृत, यूनानी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी और इताली भाषाओं के व्युत्पन्न विद्वान् श्रीअरविंद को पूर्व और पश्चिम दोनों के विचार और भाव का ठीक ठीक ज्ञान और गहरी समझ है। वे विचार और भाव केवल उनके दार्शनिक और सामाजिक एवं राजनीतिक लेखों को ही प्रेरणा नहीं देते अपितु उनके पत्रों को भी मोहक तथा घनिष्ठ रूप में अनुप्राणित करते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जहां वे अपने बहुतेरे देशवासियों की दृष्टि में भारत की महान् आत्मा और भावना के पुनरुज्जीवन में सबसे महान् अद्वितीय प्रभावशाली व्यक्ति हैं, 'भारत की समस्त अतीत आध्यात्मिक उपलब्धि की जीवंत मूर्त्ति और उसकी भावी आध्यात्मिक नियति के महानायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हैं', वहां उन्होंने अपनी अतीत आध्यात्मिक उपलब्धि और आधुनिक यूरोपीय विचारधारा में जिस ढंग से समन्वय साधित किया है उसमें हमें उनकी मौलिकता के दर्शन होते हैं। इस समन्वय के परिणामस्वरूप भारत की भावी आध्यात्मिक नियति और यूरोप की भावी नियति अटल रूप से एक ही नियति हैं।

मनुष्य के आध्यात्मिक इतिहास में हम आज एक ऐसे काल में से गुजर रहे हैं जब कि मनुष्य का भाग्य-निर्णय होनेवाला है। श्रीअरविंद मानव जीवन में एक ऐसी क्रांति के अवतार हैं जिसे नवीन ज्ञान, नूतन शक्तियां और नई क्षमताएं इस समय जन्म दे रही हैं। हमें जानना होगा कि ये शक्तियां, क्षमताएं और ज्ञान क्या वस्तुएं हैं। हमें देखना होगा कि ये यंत्रमात्र हैं। अब तक मैंने जिन बातों का निर्देश किया है,–उनका तत्त्वज्ञान, उनकी आध्यात्मिकता, उनकी राजनीतिक बुद्धि, उनकी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि, किंबहुना, यह तथ्य कि श्रीअरविंद जिस चीज की अभिव्यक्ति हैं उसके वे साक्षात् अवतार ही हैं–ये सब ऊपरी बातें हैं और किसी मानसिक या नैतिक या धार्मिक कबाड़खाने में तह करके सुरक्षित रखी जा सकती हैं, यदि हम इस बात पर दृष्टि न डालें कि ये केवल यंत्र हैं और यंत्र रूप में ही इनकी उपयोगिता है। यहां तक कि मानव जीवन में होनेवाली क्रांति भी एक यंत्र भर है।

अवश्य ही हम एक मौलिक प्रश्न करेंगे। इस क्रांति का प्रत्यक्ष रूप–ये यंत्र किसके हैं और किस प्रयोजन के लिये हैं?–अभी इस अवस्था में पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। हमें यह जानने की उत्सुकता होती है: श्रीअरविन्द जो संसार में रह रहे हैं उससे भला यहां क्या विशेष बात हो रही है? चाहे यह प्रश्न कइयों को मनमाना मालूम हो और कुछ दूसरों को ऊटपटांग तो भी यह एक ऐसा प्रश्न है जो, उनके कार्य को दृष्टि में रखते हुए, बरबस हमारे अंदर पैदा होता है। उनकी कृतियां ही नहीं बल्कि उनका पूर्णयोग भी हमें यह प्रश्न पूछने को बाध्य करता है, केवल उनके बारे में ही नहीं अपितु इस संसार के प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक पदार्थ के बारे में, अत्यंत नगण्य व्यक्ति तथा अतीव क्षुद्र वस्तु के संबंध में भी, यहां तक कि जड़ प्रकृति के विषय में भी। यही चीज है जो हमें प्रकाश में लानी होगी जिससे हम इसका वह सत्य स्वरूप देख सकें जो इसका वास्तव में है। उन्होंने अपने पूर्णयोग के लक्ष्य का जो प्रतिपादन किया है, विशेषकर अपने "पत्रों" में, उसमें यह चीज निर्विवाद रूप में स्पष्ट कर दी गई है। यह अत्युत्तम रूप में उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार रखी जा सकती है: 'दूरस्थ, नीरव या उन्नीत स्थितिशील पारलौकिक जीवन ही नहीं वरन् जीवन मात्र हमारे योग का क्षेत्र है। सोचने, देखने, अनुभव करने और रहने की हमारी स्थूल, संकीर्ण तथा खण्ड-खण्ड मानवीय प्रणाली का गभीर एवं विशाल अध्यात्म-चेतना तथा सर्वांग आंतर एवं बाह्य अस्तित्व में रूपांतर और हमारे साधारण मानव जीवन का दिव्य जीवन-प्रणाली में रूपांतर ही इसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस परम ध्येय का साधन है–हमारी संपूर्ण प्रकृति का अपने आपको भगवान् के हाथों में सौंप देना।'

'अपनी संपूर्ण सत्ता से सज्ञान होना, उसे मुक्त, रूपांतरित तथा एकीभूत करना–एक ऐसी सत्य-चेतना के प्रकाश में जो ऊर्ध्व में स्थित है और जहां तक पहुंच हो ही नहीं सकती यदि हम पूर्ण रूप से भीतर जाने की चेष्टा न करें और अपने आपको अतिक्रमण करने तथा ऊपर जाने का यत्न न करें।'

'उच्चतर चेतना को भूतल पर प्राप्त करना, व्यक्त और मूर्त्तिमंत करना न कि पृथ्वी से भाग कर किसी उच्चतर लोक या किसी परम कैवल्य धाम में चले जाना। दिव्य उपलब्धि यहीं प्राप्त होनी चाहिये न कि और कहीं, किसी दूसरे लोक में जाकर।'

'जीवन के बाह्य कर्मों की समस्या का हल किये बिना पूर्णयोग का काम नहीं चल सकता; इसे उनके अंदर की नैसर्गिक दिव्यता को ढूंढ़कर उसे प्रेम और ज्ञान की दिव्यताओं के साथ दृढ़ता-पूर्वक और सदा के लिये जोड़ देना होगा।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शांति अवश्यमेव हमारी संपदा होनी चाहिये, किंतु शून्य या नग्न प्रकृति की शांति नहीं और नहीं उन नष्ट-भ्रष्ट या क्षत-विक्षत सामर्थ्यों की शांति जो चहल-पहल करने में इसलिये असमर्थ हो गई हैं कि हमने उन्हें तीव्रता, तेज और ओज के अयोग्य बना डाला है। शुद्धि हमारा लक्ष्य अवश्य होनी चाहिये, पर विरक्त या रूक्ष और कठोर उदासीनता-रूप शुद्धि नहीं। पूर्णता की मांग हमसे अवश्य की जाती है, परंतु उस पूर्णता की नहीं जो अपने क्षेत्र को संकीर्ण सीमाओं के अंदर घेर करके या अनंत के नित्य आत्म-विस्तारशील सृष्टिचक्र में मनमाना पूर्णविराम लगा-कर ही अस्तित्व में रह सके। हमारा लक्ष्य है–दिव्य प्रकृति में रूपांतरित होना, पर दिव्य प्रकृति कोई मानसिक या नैतिक नहीं वरन् आध्यात्मिक स्थिति है; इसे प्राप्त करना कठिन है, यहां तक कि अपनी बुद्धि से इसकी कल्पना करना भी दुःसाध्य है।'

श्रीअरविन्द का दार्शनिक अंतर्ज्ञान इस साधना का समर्थन करता है। उन्होंने अपने एक ग्रंथ "दि सिंथिसिज ऑफ योग–(योगसमन्वय)" में महान् कल्पनाशक्ति के साथ उस ज्ञान की व्याख्या की है। हमें आशंका है कि यहां इसकी विशेष चर्चा करना अप्रासंगिक होगा फिर भी हम इस-की केवल कुछ एक महान् विशेषताओं का प्रतिपादन करेंगे जो उपर्युक्त उद्धरणों के आशय को ठीक ठीक हृदयंगम कराने में सहायक होंगी। श्रीअरविन्द यथायथ निरूपण करने में सिद्धहस्त हैं। अपिच, अंतर्दृष्टि और कर्म उनमें परस्पर इतने ओत-प्रोत हैं कि हम कह सकते हैं कि जो वे देखते हैं वही वे हैं भी।

इसकी मूल विशेषता इस ज्ञान में निहित है कि एकता वस्तुओं का सनातन सत्य है। सभी वस्तुएं उस एकमेव में हैं। एकमेव सम आत्मा (पुरुष) सब वस्तुओं में है; ऐसा न हो तो 'बहु' वास्तविक नहीं रहेगा। बहु एकमेव की नानाविध आत्म-अभिव्यक्ति है; ऐसा न हो तो "एकता या तो अ-सत् की शून्यता होगी या निर्विकल्प समाधि (आत्म-लय) की ऊसर अवस्था।" अत-एव, सब वस्तुओं में भगवान् का अधिकाधिक साक्षात्कार और सर्वभूत के लिये सार्वभौम प्रेम का उदय और संसार में भगवान् का कर्म संभव है। 'संसार में रहनेवाली प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक पदार्थ में सनातन आत्मा का साक्षात्कार पूर्ण रूप से प्राप्त हो सकता है। इसका ज्ञान चाहे कहीं से भी शुरू हो सकता है और अपने आपको चाहे किसी भी चीज में से प्रकट कर सकता है।' यह हमारी सत्ता का उच्चतम नियम हो जाता है कि हम जिन भी चीजों से अभिज्ञ हैं या हो सकते हैं उन सबको वही जाने-मानें जिसकी हम पूजा और सेवा करते हैं।

परंतु जो विश्वात्मा सभी वस्तुएं है, वह सभी वस्तुओं से अतीत भी है, इनसे अधिक कुछ है। यहां मैं उन्हीं के शब्द उद्धृत कर देता हूं, क्योंकि रूढ़िवादी की लेखनी यहां भी फट से सर्वेश्वर-वाद का सिक्का लगा देगी जहां वास्तव में सर्वेश्वरवाद नाम को भी नहीं है: 'विश्व और भग-वान् एक ही चीज नहीं हैं। विश्व एक ऐसी वस्तु पर आश्रित है जो इसमें प्रकट होती है पर इससे आबद्ध नहीं है। एक परतत्त्व, नित्य परात्परता भी है.....ऐसा परात्पर तत्त्व जो संपूर्ण विश्व और समस्त प्रकृति के परे है और फिर भी विश्व तथा इसकी प्रकृति को धारण करता है। वह अपने एकांश से इसमें अवतरित है और इसे एक अभूतपूर्व वस्तु में रूपांतरित कर रहा है; वही हमारी सत्ता का मूल, हमारे कर्मों का उद्गम तथा उनका स्वामी है।'

और फिर, विश्वात्मा की समस्त अभिव्यक्ति उसकी सत्ता तथा संभूति की दोहरी शक्ति से ही निःसृत होती है। विश्वात्मा अर्थात् भगवान्, प्रकृति में है और प्रकृति के बाहर भी; वह अभि-व्यक्ति की गति में गतिशील है और गति से ऊपर भी है। वह बहुत्व की चेतना में भी है और एकत्व की चेतना में भी। इस युगल चेतना को एकत्वमय सर्जनशील स्वतःसत् के रूप में लेना ज्ञान होगा। परंतु उनका विच्छेद अज्ञान हो जायगा।

अज्ञान विभेदक चेतना है जो अपने को अभिव्यक्ति की गति में रहनेवाले पदार्थ के साथ और इन अहंकारमय मन, हृदय तथा प्राण के साथ एकाकार कर लेती है जो उस गति के परिणाम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप पैदा होते हैं। वह तत्त्व जो अपने आपको प्रकट करता है–अर्थात् विश्वात्मा, जो मन, हृदय और प्राण का उद्गम है–बाह्य पदार्थ तथा उसकी सीमाओं के अधीन हो जाता है या उससे सर्वथा निर्वासित हो जाता है।

'यह एक ऐसी गति का परिणाम है जिसके द्वारा वैश्व प्रज्ञा ने अपने को अतिमानस के प्रकाश से पृथक् करके सत्य को खो दिया। इस प्रकार, दिव्य विज्ञान की ज्योति में उत्पन्न सर्वांगीण सत्य और दिव्य सामंजस्य के जगत् की जगह हम एक ऐसा जगत् देखते हैं जो हीनतर वैश्व प्रज्ञा के विगत सत्यों पर अवलंबित है.....असत्य अज्ञान नहीं है बल्कि इसका चरम परिणाम है। यह भगवद्विरोधी (आसुरी) शक्ति से उत्पन्न हुआ है जो सृष्टि-रचना में हस्तक्षेप करती है। यही नहीं कि यह सत्य से विच्छिन्न है और इसी लिये ज्ञान में सीमित तथा भ्रांति की ओर खुला हुआ है, अपितु यह सत्यद्रोही भी है या केवल सत्य को विकृत करने के लिये उसे अधिकृत करना ही इसका स्वभाव है।'

मन में तथा प्रकृति के सभी स्तरों में विद्यमान इस अंधकारमय शक्ति की गति अपने को एक ऐसी पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ता समझती है जो संसार से विच्छिन्न है और इसके समकक्ष है, यहां तक कि कभी कभी इससे उत्कृष्ट भी होती है। 'इस विच्छेद के परिणामस्वरूप व्यक्ति विश्व के साथ समरसता और एकता के सूत्र में बंधने में और फलतः इसका उपभोग करने में भी अशक्त होता है। तो भी अधिकृत करने और उपभोग करने की कामना, जो विश्वात्मा का सृष्टि रचने का प्रयोजन है, अंधकार की प्रधान कामना है। यह अहं अपनी सीमाओं के कारण ही अपनी सच्ची सत्ता को, अपने सच्चे स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर पाता। अतएव जिस अज्ञानमय अवस्था में इसे अपनी सीमाएं दृष्टिगोचर होती हैं उसपर विजय पानी होगी।'

आवश्यकता है नवीन चेतना की, एकता की नई अनुभूति की, 'जीवन का जड़-मूल से रूपांतर करने की'। रूपांतर का अभिप्राय है दिव्य चेतना को सत्ता के अंग अंग में, यहां तक कि जड़तत्त्व में भी उतार लाना। यह प्रेम, कर्म और ज्ञान के यज्ञ द्वारा सुसंपन्न होता है।

यज्ञ का सच्चा मर्म किसी प्रकार के आत्म-निषेध में या भौतिक परित्याग में प्रकट नहीं होता; यह आत्म-बलि नहीं वरन् आत्म-दान है; इसका उद्देश्य आत्म-उच्छेद नहीं बल्कि आत्म-परिपूर्णता है, गुप्त आत्मा (पुरुष) को सामने लाना है; इसकी विधि यह है कि दृष्टि के केंद्र को अज्ञान-वर्त्ती सीमित मन, हृदय और प्राण से हटाकर भगवान् के ज्ञान के प्रकाश में प्रतिष्ठित किया जाय। इसका सार है–काम्य पदार्थ में आनंद लेने के स्थान पर हृदय की उपासना की आंतरिक भेंट चढ़ाना जो फिर प्रेम का रूप बन जाय। ज्ञान है प्रेम। अज्ञान है रागावेश, अंधा, विरोधपूर्ण, अतृप्त कामना का प्रवेग।

यज्ञ का विधान बहु में एक की उपस्थिति की शक्ति का–विश्व की एकता का–प्रतीक है। इस विधान को स्वीकार करने का अर्थ यह होता है कि अहं इस बात को अंगीकार करता है कि न तो यह संसार में अकेला है और न ही मुख्य है, कि इसका अस्तित्व इसके अपने लिये ही नहीं है, कि इसके परे और पीछे कोई ऐसी महत्तर वस्तु है जो इसकी सेवा की अपेक्षा करती है।

मनुष्य की पूर्णता इस बात में है कि वह बहुत्व और एकत्व में परम समस्वरता स्थापित करके व्यक्ति में भगवान् को पूर्णरूप से प्रकट करे; उसके अंदर बहुत्व को अपने एकत्व से सचेतन होना होगा और एकत्व को अपने बहुत्व तथा नानात्व का आलिंगन तथा पोषण करना होगा। उसके अंदर, जीवन को पूजा में परिणत हो जाना होगा और पूजा को प्रेम में कृतार्थ। यही उसकी भवितव्यता है। दिव्य पराप्रकृति को व्यक्ति में प्रकट होना होगा–स्वयं व्यक्ति को भी उसे उपलब्ध करना होगा–ताकि यह संसार में उसकी ओर से अभिव्यक्त हो सके।

जिन यंत्रों की हमने प्रारंभ में चर्चा की थी वे स्थितिशील तथा गतिशील उभयविध भगवान् के सिद्ध यंत्र हैं। क्योंकि श्रीअरविन्द संसार में विद्यमान हैं अतएव संसार भेदभाव की जगह एक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता तथा विविधता को, घृणा के बजाय प्रेम को, मिथ्या के स्थान पर सत्य-चेतना को, अत्याचार के स्थान पर स्वतंत्रता को, मृत्यु के स्थान पर अमरता को अधिकाधिक प्रकट करने में समर्थ हो रहा है: यह उत्तरोत्तर वही बन रहा है जो यह है: साक्षात् विश्वात्मा का लीला-विलास।

('World Review' Oct. 1949 से साभार)

देव, दानव और मनुष्य

[ब्राह्मण (उपनिषद्) -युगीन ध्वन्यात्मक (रूपकात्मक) एकांकी]

(लेखक—श्री बालमुकुन्द मिश्र)

पात्र

प्रवाचक — प्रजापति
प्रतिनिधि देवगण — प्रतिनिधि दानववृंद
प्रतिनिधि मनुष्यवर्ग
आकाश-वाणी-कर्त्ता
देव, दानव, मनुष्य-जनों के समूह

(इस कृति की पृष्ठ-भूमि, यजुर्वेद के व्याख्यारूप शतपथ ब्राह्मण [१४वें काण्ड] और उसके एक विशिष्ट भाग से जो तैत्तिरीय-उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, सादर ग्रहण की गई है। तैत्तिरीय-उपनिषद् से उसी सीमा तक आख्यायिका ली गई है, निष्कर्ष के प्रकटीकरण के लिये जितनी उसकी आवश्यकता थी।

जग-जीवन के प्राचीन-अर्वाचीन उत्थान-पतन के रहस्य के इतिवृत्त का—हमारे युग के तालमेल-सहित समन्वयात्मक दर्शन-दिग्दर्शन—केवल संकेतमात्र इस कृति में आ सका है।)

—डमरू, डफ, ढोल, नगारे आदि का घोष एक लय में विकसना प्रारंभ होता है। घोष के मध्य से एकदम मृदंग के द्रुत बोल उभरते हैं, और अंत में तीया बनाते हुए समाप्त हो जाते हैं। मृदंग-घोष के रुकते ही तानपूरे की संगति से 'दमन, दान और दया' करो पंक्ति की कई वार कंठ-ध्वनि होती है। अंत में कंठ-ध्वनि क्रमशः लय हो जाती है।

प्रजापति की सभा का शनैः शनैः कोलाहल सुनाई देने लगता है। देव, दानव, मनुष्यों का अस्पष्ट वार्तालाप भी यदाकदा श्रुतिगोचर होता है।

सभा-कोलाहल के मध्य, ओजस्वी वाणी में—

(प्रवाचक) : आदरणीय देववृन्द—सावधान!
सावधान!! देवगणो—सावधान!!!
दानवजनो—सावधान! सावधान!!
दैत्यो—सावधान!!!
प्रजा में अतिप्रिय मनुजो—सावधान!
सावधान!! मानव-समाज—सावधान!!!

—शंख, घंटे-घड़ियाल और झांझ-मंजीरे की ध्वनि प्रारंभ होती है। पूर्व में कंठ कंठ से गीत की ध्वनि दूर से उठती है: अंत में समीप से सुनाई देता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जय . . . . . जय
जयति-जय हे !

तेरी अमर ज्योति से ज्योतित,
जीवन-दीप जला :
तेरी कृपा-कोर से जग का,
चाहा——हुआ भला :
हमको शक्ति चाहिये,
आगे बढ़ने को गति

जयति-जय हे !
जय . . . . . जय
जयति-जय हे !

तुमने जब संकल्प किया तो,
द्रुमदल तुरत हिला :
तुमने चाहा तो धरती पर——
हँसके सुमन खिला :
हमको ज्ञान-दान दो,
प्रदान हो शुभ मति

जयति-जय हे !
जय . . . . . जय

——क्रमशः गीत की ध्वनि विकीर्ण हो जाती है——

(प्रजापति) : मेरे पुत्रो ! तुमसे मैं प्रसन्न हूं। आज अत्यधिक प्रसन्न हूं। तुम्हारी साधना को पाकर मेरी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा है।

–देव, दानव, मनुष्यों की 'हमें ज्ञान दो' . . . . . 'हमें ज्ञान दो' की संयुक्त ध्वनि गूंजती है–

: देव, दानव और मनुष्यजन–तुम स्वयं ही विद्वान् हो !

(देवगण) : विश्व-कल्याण के हित–ज्ञान प्रदान कर हमारे प्रजापति हमें अनुगृहीत करें।

(दानववृंद) : हम दैत्यों को भी ज्ञान की आवश्यकता है।

(मनुष्यजन) : आत्म-उद्धार के लिये–ज्ञान प्राप्त करने की हमें बलवती अभिलाषा है।

(प्रजापति) : ज्ञान चाहिये !

(देवगण) : हां, हमें आपका पवित्र ज्ञान चाहिये।

(दानववृंद) : असुरों को भी आपका ज्ञान चाहिये।

(मनुष्यजन) : हम मनुष्यों को, परपीड़-दलन के लिये आपका निर्मल ज्ञान चाहिये।

(प्रजापति) : व्यक्तिगत रूप से जीवन में पवित्रता धारण करो; तुम्हें ज्ञान स्वयं ही उपलब्ध होगा।

(प्रतिनिधि देवगण) : हमारा जीवन स्वच्छ है; निर्मल है।

(प्रतिनिधि दानववृन्द) : हम दैत्यवृन्द भी ज्ञान के पात्र हैं !

(प्रतिनिधि मनुष्यवर्ग) : पूज्य प्रजापति ! मनुज आपके स्नेहपात्र हैं; अतएव हमें ज्ञान-दान दे कृतार्थ कीजिये।

(प्रजापति) : पुत्रो ! तुम्हारी अभिलाषा की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। अच्छा, आप सहृदयगण मेरे दिव्य ज्ञान को, ध्यानसहित श्रवण करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

–प्रजापति के कथन की समाप्ति होते न होते बादलों की गड़गड़ाहट प्रारंभ हो जाती है। सांय-सांय करते पवन के साथ समुद्र आलोड़न का भीष्म-घोष रह रहकर होता है। विद्युत्–कड़कड़ाहट की ध्वनि–जैसे किसी घाटी से हट हटकर टकरा रही हो।

गड़गड़ाहट के संग ही 'द द द' की ध्वनि भी पवन के बहाव के अनुसार न्यूनाधिक उठती गिरती रहती है।

गड़गड़ाहट का बवंडर उतर जाता है–

: सुना–देव, दानव, मनुष्यजन! अपूर्व तत्त्वज्ञान को–एकाग्रता से सुना!

–देव, दानव, मनुष्यजनों की स्वीकारात्मक ध्वनि होती है—

कहिये! ज्ञानवान् देवगण!

(प्रतिनिधि देवगण) : हां, मान्य प्रजापति! देवगणों ने आपके अलभ्य ज्ञान को एकाग्रचित्त से श्रवण किया है।

(प्रजापति) : तुम्हारा, क्या कथन है–दैत्यवृन्द?

(प्रतिनिधि दानववृन्द) : प्रजापति! बाह्य गड़बड़ाहट के कारण, दिव्य ज्ञान को ठीक प्रकार से अबतक श्रवण न कर पाये–हमें इस बात का दुःख है।

(प्रजापति) : असुरवृन्द! सुन रहे हो? समझ रहे हो?

–भीषण तर्जना रह रहकर होती है; और द द द का घोष–स्पष्टतया सुनाई देने लगता है–

(प्रतिनिधि दानववृन्द) : माननीय! अब–अकिंचन दैत्य भी आपके अभिज्ञानमय ज्ञान की तह के समीप पहुंच रहे हैं।

(प्रजापति) : मनस्वी मनुजो!

(प्रतिनिधि मनुष्यवर्ग) : आदरणीय वरेण्य! हम मनुष्यों ने भी आपके पवित्र ज्ञान को समझने की परम चेष्टा की है। पर, अभी हम आपके ज्ञानामृत का रसास्वादन और चाहते हैं।

(प्रजापति) : अच्छा, मानवजनो! लो, पवित्र ज्ञान से अपने अपने चषक फिर भरकर, घूंट पीकर, अमर-पद को प्राप्त हो।

–गड़गड़ाहट के क्षीण घोष में 'दमन, दान, और दया करो' की अत्यंत स्पष्ट और सस्वर ध्वनि उठ उठकर गिरती रहती है–

(प्रतिनिधि मनुष्यवर्ग) : अब हम तृप्ति के समीप हैं।

–गड़गड़ाहट और 'द द द' की ध्वनि, अंतिम बार वेग के साथ उभरकर लीन हो जाती है। स्वर-झंकार के उपरांत–

(प्रजापति) : प्रिय पुत्रो! यह जानना चाहता हूं, कि पवित्र ज्ञानमय उपदेश को समझ भी लिया गया है, किंवा–नहीं?

(प्रतिनिधि देवगण) : हम उपस्थित हैं!

(प्रतिनिधि दानववृन्द) : शंका का, प्रजापति समाधान कर लें!

(प्रतिनिधि मनुष्यवर्ग) : हमारी परीक्षा सहर्ष ली जा सकती है!

–कोलाहल सुनाई देता है–

(प्रजापति) : प्रजा में पूज्य देवगण! कहिये.....

(प्रतिनिधि देवगण) : भगवन्! आपके दिव्य उपदेश से जीवन का गुप्त रहस्य स्पष्ट हुआ है। देवत्व-पद की प्राप्ति, अत्यंत कठिन है। अतिश्रेष्ठ और अपूर्व-पुण्य-कर्मों के परिणामस्वरूप ही किन्हीं किन्हीं भाग्यवानों को देव-पद मिलता है। ऐसे पावन देवत्व से देवता जब भी वंचित हुए तब, इन्द्रियों के ही वश होकर। यदि देवगण, इन्द्रियों के वशीभूत न हो रहे हों तो, देवताओं की सात्त्विक वृत्ति ही इतनी ज्वलंत है, कि उनका अनिष्ट हो ही नहीं सकता! और देवगणों को तो उचित है, परमार्थरूपेण वे अन्यों की रजोमयी और तमोमयी वृत्ति पर भी अंकुश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाये रखें–जिससे, मान्य प्रजापति की सुन्दर रचना में, कभी भी कोई कुरूपता सिर उभार उठ न सके।

(प्रजापति) : देवगणों का कल्याण हो।

(देवगण) : प्रजापति की जय हो! मान्य प्रजापति की जय हो!! कल्याणकारी प्रजापति की––जय हो!!!

(प्रजापति) : कहिये दानववृन्द . . . . .

(प्रतिनिधि दानववृन्द) : प्रजापति! देव-वंश की भांति दैत्यों का पतन भी, हमारे अपने अपकृत्यों के कारण ही हुआ है। कौनसा वह क्षेत्र है, जिसमें दैत्यों ने शारीरिक बल की अपूर्वता के घमंड में उकसकर; छलकते बल-मद के उन्माद के वशीभूत होकर, अनुचित को अर्थ का घोर अनर्थ न कर डाला हो! इसी अनर्थ ने दैत्यों को मिटा डाला, पीस डाला।

असुर यदि अपनी तमोमय वृत्ति से सावधान रहते तो, उनका विक्रम इतना असीम था–कोई भी शक्ति असुरों को कभी ठेस नहीं पहुंचा सकती थी।

आपके अलभ्य रहस्यमय-ज्ञान की थाह हमने पा ली है। यह बात अब स्पष्ट है: असुरों के पतन का कारण, उनके अपने कुकृत्य और ध्वंसात्मक कार्य ही रहे। असुरों की हीन, तमोमयी वृत्ति ने ही उन्हें कहीं का न रखा; और जीवन को धूमिल बना डाला।

अब असुरों का ध्येय है–दया।

(प्रजापति) : दानवों का भला हो!

(दानववृन्द) : जय हो! ज्ञान-दान-प्रदाता प्रजापति की जय हो!! जय हो!!!

(प्रजापति) : अनन्य प्रिय मनुष्यवर्ग . . . . .

(प्रतिनिधि मनुष्यवर्ग) : सृष्टि में श्रेष्ठ प्रजापति! मानव-वंश को मनुज ने ही स्वयं कलंकित किया है। मनुष्य ने ही अपने जीवन और इतिहास को मलिन और धूमिल बनाया है। मनुष्य ने मनुष्य पर अत्याचार कर अपनी बोटी को स्वयं ही चबाया है। मानव के ऐसे भीषण अमानवीय कर्मों और अत्याचारों को देख लज्जा से सिर झुक ही नहीं जाता, प्रत्युत धरती में गड़ा जाता है।

हां, मानव-समाज अभ्युदय को प्राप्त हो सकता है–तभी, जब कि मनुष्य भले प्रकार समझ ले–मानव-जीवन परिश्रम के लिये है। दूसरे के ग्रास को, और के श्रम के उचित लाभ को हड़प जाने, छीनने-झपटने और लूटने-खसोटने में उसकी मानवता का मुंह काला है। वह यह भी समझ ले–मनुष्य पवित्र और एक ऊंचा प्राणी है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म उज्ज्वल, निर्दोष और सुरूपमय होना चाहिये।

मनुज का कर्तव्य है, वह अपने अभ्युदय के साथ साथ ही अन्य प्राणियों के कल्याण की बात भी सोचे। और अन्यों के उपकार के लिये अपने निर्मल पुरुषार्थ को अर्पित कर पुण्य संचय करे।

मानव-जीवन का एक यह भी पवित्र उद्देश्य रहना चाहिये–दान। राष्ट्र के शुभ-शम के निमित्त प्राणी के मंगल के लिये और विश्व-कल्याण के हित सर्वस्व-होम की निष्काम भावना।

संसार-पथ के अगणित यात्रियों के लाभ के लिये; आत्म-दान देने में ही मनुज का गौरव है समाज का भला है। और मानवता का वक्ष पुष्ट, सर ऊंचा और सबों का भविष्य उज्ज्वल है।

(प्रजापति) : मनस्वी मनुज की कीर्ति अमर हो!

(मनुष्यजन) : जग कर्त्ता, अघ हर्त्ता की जय हो! जय हो!! प्रजापति की जय हो!!!

–'जय हो' . . . . .'जय हो' ध्वनि की चतुर्मुखी गूंज होती है––

(प्रजापति) : विश्व का कल्याण हो!

(प्रवाचक) : सहृदय श्रद्धालु जिज्ञासुजन! अभिलाषियों को अभीष्ट वस्तु प्रदान की जा चुकी है; अतएव यह संयोजना अब विसर्जित की जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—स्वर-झंकार सुनाई देती है।
फिर आकाशवाणी होती है—
देव-जीवन का दिव्य अस्तित्व—
इन्द्रिय-दमन पर अवलंबित है।
दानवों का भला—
क्रूरता के स्थान पर, जीवन में दया को धारण कर लेने में है।
मानव-जीवन का गौरव—
अन्य प्राणियों के हित के लिये आत्मदान कर देने में है।
—प्रवेश-ध्वनि-समूह की पुनरावृत्ति होकर रह जाती है—

श्री मुंशी का दीक्षांत अभिभाषण : : श्री क. मा. मुंशी

(जब श्रीअरविन्द बड़ोदा में प्रोफेसर थे तब माननीय श्री क. मा. मुंशी उनसे पढ़ते रहे थे। उसके बाद श्रीअरविन्द के राजनैतिक कार्य के दिनों में भी श्री मुंशी उनसे १९०९ में बम्बई में मिले थे। परंतु उसके बाद अब १९५० में गत ९ जुलाई को उन्होंने श्रीअरविन्द आश्रम में श्री-अरविन्द के दर्शन किये।

श्री मुंशी तीव्र बुद्धिवाले तथा गंभीर सांस्कृतिक पुरुष हैं। उन्होंने श्रीअरविन्द को कैसे अनुभव किया इसका उन्होंने अपने एक हाल के दीक्षांत भाषण में उल्लेख किया है। दीक्षांत भाषण यहां की भेंट के बाद २० जुलाई को बम्बई के मुंबादेवी संस्कृत महाविद्यालय और गीता विद्यालय में दिया गया था। भाषण सारा ही सुन्दर सांस्कृतिक प्रेरणा से परिपूर्ण है, परंतु श्रीअरविन्द-संबंधी अनुभूति विशेष मौलिक है। इसका मुख्यांश हम यहां देते हैं। —सं०)

"मिश्र, यूनान और रोम की संस्कृतियां मिट चुकी हैं; वे अब केवल संग्रहालय की वस्तुएं हैं। भारत की संस्कृति जो इन सबसे पुरानी है आज भी जीवित है, क्योंकि इसे युग युग में पुनः पुनः सर्वांगसंपन्न किया गया है; इसने प्रत्येक युग की अवस्थाओं का निर्माण किया है और स्वयं उनसे निर्मित हुई है। इसी के बल पर भारत ने काल के प्रहारों को सहन किया है। व्यास, मनु और याज्ञवल्क्य, बुद्ध, पाणिनि, वाल्मीकि और कालिदास जीवित प्रभाव हैं जो आज हमारे जीवन में क्रियाशील हैं। श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया गया उपदेश—गीता—हमारी जाति के श्रेष्ठ मनुष्यों को कब से शक्ति प्रदान करता हुआ उन्हें आत्म-परिपूर्णता का मार्ग दिखाता आ रहा है।

जब कुछ सुनिश्चित विचार किसी जाति के इतिहास में प्रवाहित होते हैं और प्रत्येक युग में उसकी सामाजिक अवस्थाओं तथा उसकी बौद्धिक एवं सौंदर्यात्मक दृष्टि को निर्धारित करते हैं तब संस्कृति एक प्रवाहशील सरिता की भांति अविच्छिन्न जीवंत वस्तु बन जाती है। कालप्रवाह के साथ साथ यह शक्ति, समृद्धि और सबसे बढ़कर अपनी निजी विलक्षणता प्राप्त करती जाती है। हम अपनी संस्कृति को आर्य संस्कृति कहते हैं। अपने प्रधान दृष्टिकोण में यह विश्व-संस्कृति है और किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं से बंधी हुई नहीं है। बल्कि इसमें नीग्रायड (Negroids), प्रोटो-आस्ट्रायड या आस्ट्रिक (Proto-Austroids or Austrics), द्राविड़ आर्य और भारत-मंगोल (Indo-Mongoloid) जैसी अति विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। परंतु इसकी मूल चिंतना को समझने और इसकी चरम अनुप्रेरणा में पैठने के लिये हमें उन भारत-आर्य लोगों के विचारों और उपलब्धियों पर दृष्टिपात करना होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्होंने किसी जाति को नहीं बल्कि उसकी त्रिकालव्यापी आत्मा को जीता था।

★

जब कोई जाति युग युग में एक संस्कृति को अपनाती चली आती है तो वह जीवन की समस्याओं के कुछ महत्त्वपूर्ण समाधान ढूंढ़ निकालती है। वे सभी समाधान उसकी समकालीन सभ्यता से उत्पन्न मौलिक उलझनों को कुछ एक आधारभूत मूल्यों के प्रकाश में सुलझाने के लिये ही निकाले जाते हैं। ये मूल्य कतिपय विचारों की धुरी पर घूमते रहते हैं। वे विचार भी एक प्रधान विचार से निःसृत होते हैं। उस जाति के श्रेष्ठ मनुष्य इस केंद्रीय विचार को अपने जीवन में उतारकर ही आत्म-परिपूर्णता लाभ करते हैं। यह प्रधान विचार संस्कृति की धारा को काल-प्रवाह में आगे आगे बढ़ाये चलता है, इसके पथ को परिवर्तित करता, नई रचनाओं को उद्भासित करता, झाड़-झंखाड़ को पीछे छोड़ देता है, प्रत्येक काल-विभाग के प्रभाव और भौतिक साधन-संपदा से निर्धारित अवस्थाओं के अनुसार घूम-फिरकर प्रवाहित होता या दहाड़ता हुआ आगे बढ़ता है। जब अवस्थाएं बदलती हैं तब नई फेनिल तरंगें उठती हैं। परंतु इसकी सारभूत एकता, इसके विशिष्ट तत्त्व, इसकी दिशा वही रहती है। जब वह केंद्रीय विचार जीवनप्रणाली को और परिचालित एवं अनुप्राणित नहीं करता तब संस्कृति मिट जाती है और साथ ही वह जाति भी।

★

यह सत्य मैंने भारत के प्राचीन और अर्वाचीन महापुरुषों के जीवनों का अध्ययन करके सीखा है। दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, तिलक, गांधीजी और श्रीअरविन्द के जीवनों एवं शिक्षाओं से घनिष्ठ परिचय प्राप्त करके मैंने इसे हृदयंगम किया है। युग युग में हमारी जाति के श्रेष्ठ जनों ने हमारी संस्कृति के प्रधान विचार को जीवनों में कार्यान्वित करके ही आत्म-परिपूर्णता प्राप्त की और इसी कारण हमारी जाति आज तक जीवित है। आपको मालूम ही है कि मैंने वर्षों गांधीजी के चरणों में बैठकर ज्ञान-साधना की है। उनके प्रतिदिन वर्धमान व्यक्तित्व में मैंने देखा कि वे इसी विचार को हृदयंगम करने में संलग्न हैं। अभी उस दिन मुझे श्रीअरविन्द के दर्शनों का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके पूर्व सबसे पिछली बार १९०९ में बम्बई में उन से भेंट हुई थी। परंतु, अब की बार मैंने कुछ और ही देखा : प्रशांत, प्रेरणाप्रद वातावरण में सुन्दर से सुन्दर कल्पनीय वृद्धावस्था। वे एक सुसज्जित आसंदी पर सौम्य गभीर मुद्रा में आसीन थे। उनका मुखमंडल छितरी छितरी सुफ़ेद दाढ़ी और प्रसाधित दीर्घ पलित केशों से देदीप्यमान था। और मैंने अभूतपूर्व भक्तिभाव से नतमस्तक होकर उनके चरणों में प्रणाम किया। ज्ञान और विद्या की गभीर ज्योति उनकी आंखों में चमक रही थी। ऐसा लगता था जैसे आत्मा की विशाल शांति ने सारे के सारे व्यक्तित्व को ज्योतिर्मयी सत्ता में परिणत कर दिया हो, गरजने वाले इन्द्रदेव की सत्ता में नहीं वरन् अंतश्चेतना की ज्योति से ज्योतिष्मान् देव की सत्ता में।

ये वे मेरे पुराने प्रोफ़ेसर नहीं थे जिन्हें मैंने दूर दूर से ही सराहा था, न ही ये वे ऋषि थे जिनके उपदेशों से मैंने अपने जीवन के अनेक अवसरों पर कई एक बातें सीखी थीं। ये तो थे स्वतः-संपूर्ण मानव। मैंने अपने ग्रंथों में पूर्णीकृत व्यक्तित्व के विषय में लिखा है। मैं इसे अपनी कल्पना की आंखों से देख चुका था। मैं इसे अपनी कथाओं में चित्रित कर चुका हूं। गांधीजी के सत्य और अहिंसा को चरितार्थ करने के घोर पुरुषार्थ में मैंने इसका ऐन्द्रिय संवेदन भी प्राप्त किया था। यह तो था व्यक्तित्व का चरम-परम सर्वांगपूर्ण स्वरूप; मोह, क्रोध, भय एक ऐसी शक्ति में रूपांतरित थे जो साथ ही साथ सुन्दर एवं सौम्य भी थी; आर्य संस्कृति का प्रधान विचार मानव के आकार में मूर्त्तिमंत विराजमान था। जब मैंने अपने उद्देश्यों में श्रीअरविन्द को सर्जनशील जीवन के एक अन्यतम महान् शिल्पी के रूप में समाविष्ट किया था तब वह अनुमानमात्र था : उस क्षण पांडिचेरी में, मैंने साक्षात् देखा, मैंने अनुभव किया कि वे सचमुच ही वैसे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा की शक्ति : : श्री किशोर गांधी

यहां यह बात भले प्रकार स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि यदि योगियों को अपने प्रयत्न में सफल होना है तो उन्हें पाप के प्रणेताओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार की शक्ति प्रयोग में लानी होगी, भिन्न प्रकार के साधन तथा तरीके प्रयुक्त करने होंगे ताकि वे अपना उद्देश्य पूरा कर सकें। जेराल्ड हर्ड कहते हैं कि "साधनों से परिणामों का निश्चय होता है"; अतः यदि योगी लोग भी वैसे ही साधनों का प्रयोग करते हैं जैसों का असुरों ने किया है अर्थात् कल्पनातीत परिमाण में पाशविक बल, बलात्कार, धूर्तता तथा विश्वासघातकता का तब यदि वे सफल होते भी हैं तो वह विजय आसुरी सिद्धांतों की विजय होगी। इसी लिये तानाशाही जिस शक्ति का प्रयोग करते हैं योगियों से उससे मूलतः भिन्न प्रकार की शक्ति की मांग की जाती है। क्या योगी ऐसी शक्ति प्रस्तुत कर सकते हैं? क्या आत्मा में ऐसी शक्ति विद्यमान है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर पाने के लिये हमें अध्यात्म-मनोविज्ञान या योग के विषय की ओर प्रवृत्त होना पड़ेगा और अपनी सत्ता के सक्रिय आध्यात्मिक विकास की संभावनाओं की परीक्षा करनी पड़ेगी। योग के विषय में मोटा सा ज्ञान होने पर भी जो बात सबसे पहले समझ में आती है वह यह है कि अपने पर तथा दूसरों पर क्रिया तथा ज्ञान का प्रयोग करने की सामर्थ्य जो साधारणतः हमारे अंदर है उसे हम असाधारण सीमाओं तक बढ़ा सकते हैं यदि हम अपनी आंतरिक सत्ता की छिपी हुई गंभीरताओं को जा टटोलें और उसके साधनों को काम में लायं जो कि साधारण अवस्था में हमें उपलब्ध नहीं होते हैं, क्योंकि बाह्य चेतना का उस आंतरिक सत्ता के साथ कोई सीधा संपर्क नहीं है। इस हमारी आंतरिक सत्ता के अंदर जो इस समय हमसे छिपी हुई है, अत्यधिक बृहत् परिमाण तथा विस्तार में शक्ति तथा ज्ञान के ऐसे अव्यवहृत भण्डार हैं जैसे कि बाह्य चेतना को उपलब्ध नहीं हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने बाह्य मन के नीचे चेतना के एक और स्तर का अस्तित्व स्वीकार किया है किंतु उन्होंने उसे "अवचेतन मन" का नाम दिया है क्योंकि उन्होंने इसे बाह्य मन की अपेक्षा अपने तथा संसार के विषय में बहुत कम अभिज्ञ पाया है और यद्यपि एक प्रकार से यह बाह्य मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है किंतु इसकी शक्ति अत्यंत मूढ़ तथा स्थूल प्रकार की है। वास्तव में उनका विचार यह है कि अवचेतन मन हमारी अंतर्हित सत्ता का एक अत्यंत अंधकारमय तथा अस्वास्थ्यकर भाग है जिसका हमारी सचेतन प्रकृति पर न केवल अवांछनीय अपितु प्रायः भयावह प्रभाव होता है। हमारी अंतर्हित सत्ता के उपर्युक्त अन्वेषण के पश्चात् आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जो यह बात निकाली है उसके कारण बहुत अधिक लोगों के (शिक्षित तथा सुसंस्कृत लोगों के भी) मन में इस प्रकार का प्रबल संस्कार उत्पन्न हो गया है कि अपने आंतरिक अस्तित्व में अधिक रुचि होने या इसके साथ अधिक क्रियात्मक संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न करने से केवल हानिकारक अवचेतन मानसिक शक्तियां जागृत होकर उभरती हैं और सचेतन मन का प्रकाश तथा विवेक इन निम्न शक्तियों द्वारा ढक लिया जाता है। यही कारण है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक यथासंभव "बहिर्मुख" तथा विषयगत (Objective) बनने का तथा अपनी अंतःसत्ता में विषयिगत (Subjective) निमग्नता की प्रवृत्ति से बचने का उपदेश देते हैं क्योंकि ऐसी अंतर्मुखता (Introversion) केवल रोग तथा स्नायविक दुर्बलता की ओर ही ले जा सकती है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की इस प्रवृत्ति के कारण हमारी अंतःसत्ता में और आगे के अन्वेषण-कार्य में बड़ी रुकावट उत्पन्न हुई है। क्योंकि यद्यपि उन्होंने एक ओर यह मौलिक सत्य स्वीकार किया है कि हमारी बाह्य चेतना हमारी समग्र अंतःसत्ता का केवल एक छोटा तथा खण्डात्मक भाग है, तथापि दूसरी ओर उन्होंने उस समस्त विस्तृत तिरोहित चेतना को धुंधले अवचेतन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम देकर तथा बाह्य जगत् की मानसिकता की अपेक्षा उसे निकृष्ट स्थान देकर उस अंतःसत्ता में आत्मान्वेषण कर सकने के मार्ग में बाधा खड़ी कर दी है। किंतु जहां तक वास्तविक अनुभूति का संबंध है यह उपर्युक्त वर्णन हमारी समस्त अंतःसत्ता के केवल एक भाग के विषय में ही ठीक है। क्योंकि यदि अपने आंतर आत्म-अन्वेषण में हम इस अवचेतना पर न रुकें तथा और अधिक अंदर गहराई तथा ऊंचाई की ओर बढ़ें तो हमें अपनी अंतःसत्ता में ऐसे क्षेत्र मिलते हैं जो हमारी बाह्य मानस चेतना की अपेक्षा अधिक प्रकाशमय, अधिक स्व-स्थित, अधिक सूक्ष्म तथा अधिक शक्तिशाली हैं। इस अंतःसत्ता में ही न केवल हमारी सामान्य क्षमताएं ही अधिक स्वतंत्रता, नमनीयता, बृहत्ता तथा प्रभुता के साथ कार्य करती हैं अपितु ज्ञान तथा शक्ति की सर्वथा नवीन क्षमताएं भी अपने आप प्रकट होती हैं। हमारी तिरोहित सत्ता का यह भाग केवल इस रूप में ही अवचेतन कहा जा सकता है कि यह सबका सब उपरितल पर नहीं है, न कि बाह्य चेतना की अपेक्षा किसी प्रकार निकृष्टता के भाव से। वास्तव में चूंकि यह परदे के पीछे से कार्य करता है इसलिये इसको हमारी प्रच्छन्न (Subliminal) सत्ता कहना चाहिये और वास्तविक अवचेतना से जो वस्तुतः हमारी प्रकृति का धुंधला तथा निम्नतर क्षेत्र है, इसका विवेक करना चाहिये।

यदि हम इस प्रच्छन्न सत्ता में निश्चित प्रवेश पा लें तो हम न केवल एक बृहत्तर तथा अधिक प्रत्यक्ष आत्मज्ञान तथा आत्मप्रभुत्व अधिकृत कर लेते हैं अपितु अधिक विशद तथा प्रामाणिक विश्वज्ञान तथा अधिक प्रत्यक्ष एवं प्रभावशाली विश्वकर्म की क्षमता भी प्राप्त कर लेते हैं। यह प्रच्छन्न अस्तित्व दूसरे व्यक्तियों, पदार्थों तथा घटनाओं के साथ प्रत्यक्ष सचेतन संपर्क स्थापित कर सकता है तथा उनपर अपनी शक्तियों के निश्चित संघटनों के साथ सीधा ही कार्य कर सकता है। यद्यपि ज्ञान तथा कर्म के उपरितलीय यंत्रों का उपयोग करके वह उनके द्वारा कार्य कर सकता है किंतु उनके प्रयोग के लिये वह बाध्य नहीं है क्योंकि उपरितलीय यंत्रों से वह सर्वथा स्वतंत्र रूप में भी यह कार्य कर सकता है तथा अपनी चित्-शक्ति के द्वारा व्यक्तियों, पदार्थों तथा घटनाओं पर घनिष्ठ तथा साक्षात् क्रिया करके परिणाम उत्पन्न कर सकता है।

किंतु जब हम अपनी प्रच्छन्न सत्ता में पर्याप्त गहरा जाते हैं तब जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हम करते हैं वह यह है कि जिस प्रकार जाग्रत् बाह्य सत्ता हमारी अधिक गहरी तथा अधिक विस्तीर्ण आंतरिक सत्ता की छोटी तथा खण्डात्मक कृति है इसी प्रकार यह प्रच्छन्न सत्ता भी स्वयं एक ऐसी सचेतन सत्ता की आंशिक तथा खण्डात्मक रचना है, जो और भी बृहत्तर है और अपने अधिकतम विस्तार में पहुंचकर दर्शन में तथा शक्ति में विराट् (जगद्व्यापी) बन जाती है। और आगे जाकर हम अनुभव करते हैं कि जैसे हमारी बाह्य चेतना अपना विस्तार कर सकती तथा गूढ़ प्रच्छन्न सत्ता के साथ तादात्म्य बना सकती है इसी प्रकार यह भी अपने विस्तार तथा परिमाण में इतना बढ़ सकती है कि वे आवरण, जो इसे विश्वचेतना से पृथक् किये हुए हैं, नष्ट हो जाते हैं और फिर विश्वचेतना के साथ यह एकत्वयुक्त हो सकती है। जब यह एकत्व सिद्ध हो जाता है तब हम अपनी क्षुद्र तथा संकुचित वैयक्तिक सत्ता की समस्त सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं तथा अपनी आंतर प्रच्छन्न सत्ता की सूक्ष्मतर सीमाओं से भी मुक्त हो जाते हैं और असीम वृद्धि प्राप्त करके हम विराट् सत्ता तथा विश्वात्मा बन जाते हैं। इस प्रकार मुक्त होकर हम 'सर्व' को अपने अंदर देखने लगते हैं और इसी प्रकार विश्व में जो कुछ है उसे अपनी आत्मा द्वारा रचित तथा व्याप्त अनुभव करते हैं। अपनी आत्मा को घनिष्ठतापूर्वक हम सबकी आत्मा अनुभव करते हैं; सबको अपनी आत्मा के रूप में देखते हैं, समस्त वस्तुओं तथा प्रकृति को अपनी सत्ता तथा प्रकृति का सचमुच एक भाग अनुभव करते हैं। हम इस समावेश, व्याप्ति तथा तादात्म्य को एक विचारात्मक प्रतीति के रूप में ही नहीं अपितु ठोस निश्चितता तथा सचेतन अनुभूति के रूप में जानते, समझते तथा अनुभव करते हैं। इसके आगे, हम न केवल विराट्-आत्मा तथा चेतना को ही प्रत्यक्ष करते हैं अपितु विराट् की प्रकृति को भी धारण कर लेते हैं। समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वकर्म स्वयं हमारी विस्तीर्ण सत्ता में ही क्रियमाण प्रतीत होता है और हम (अपनी चेतना के विस्तार के अनुसार न्यूनाधिक) विश्वशक्तियों तथा गतियों को प्रत्यक्ष अवगत करने, सफलतापूर्वक प्रभावित तथा संचालित करने में समर्थ हो जाते हैं। उन अनेक प्रकार की विश्वशक्तियों तथा सत्ताओं का, जो गुप्त रूप से संसार की घटनाओं पर प्रभाव डालती हैं, हमें स्पष्ट तथा सीधा अव्यवहित ज्ञान प्राप्त होता है और हम निर्णायक रूप में उनमें हस्तक्षेप, उनपर अधिष्ठान तथा उनका नियंत्रण तथा उच्चतम उद्देश्य के लिये उनका प्रवर्तन कर सकते हैं। यह हम इसलिये कर सकते हैं क्योंकि हम एक ऐसी इच्छा तथा शक्ति अधिकृत कर लेते हैं जिसमें व्यक्तित्व की मर्यादाएं नहीं हैं, बल्कि जो अपने विस्तार तथा सामर्थ्य में विराट् है। जगत् की घटनाओं पर हमारा प्रभाव हमारी व्यक्तिगत क्षमताओं से मर्यादित नहीं रहता; व्यक्तित्व की रचना अपनी सीमाएं खो देती है और एक केंद्र अथवा एक स्वतंत्र तथा उद्घाटित प्रणालिका बन जाती है जिसके द्वारा विराट्-भागवत-इच्छा अबाधित कार्य करती है।

(अनु०—डा० संतोषानन्द)

मैं महात्मा बनूंगा : : डा० इन्द्रसेन

(एक कहानी)

"महात्मा बनना कुछ मुश्किल नहीं", रामनारायण को प्रातःकाल अपने दुमंजिले में जागने पर यह अत्यंत ओजस्वी और विशाल विचार अपने मन में उपस्थित मिला। उसने आंख खोली और सामने की खिड़की में से वह बाहर का दृश्य देखने लगा। बिस्तर का सुख, प्रातःकाल का सुहावना समय और वह विशाल विचार, वह आह्लादित हो उठा। बिस्तर में जरा ऊपर को सरककर वह तकिये का सहारा ले आधा बैठा-सा हो गया। उसने अपने अंदर विशाल आकांक्षा का उदय अनुभव किया। विचारों का एक अदम्य प्रवाह चल पड़ा।

प्रबल इच्छा हुई, मैं महात्मा बनूंगा, आज ही से, इसी क्षण से। इसमें बड़ा वेग था, सोच-विचार की वहां गुंजाइश न थी। केवल अनुकूल सहायक विचार ही, जो सहवेग होकर चलने को तैयार थे वहां प्रवेश पा सकते थे। और वे तब खूब ही उदारता से आये और बलवती इच्छा के साथ बलपूर्वक सहयोग देने लगे। रामनारायण की आकांक्षा ने निर्बाध आकाश की सैर की।

"महात्मा बनना कुछ भी तो मुश्किल नहीं", उसने पुनः विश्वासपूर्वक अनुभव किया। युक्तियों और अनुकूल विचारों की कुछ कमी न थी। उसने महसूस किया कि इसके लिये मुझे केवल विषय-विकार छोड़ देने होंगे और यह बहुत सरल है। किसी स्त्री से तो मैं अब प्रेम करूंगा ही नहीं। भोजन भी उतना ही करूंगा जितना शरीर के लिये आवश्यक होगा। किसी से द्वेष करने से मतलब ही क्या, सबका भला ही करना चाहिये। धनादि से मोह रखना भी फिजूल है। मनुष्य को आखिर खाना-पीना, थोड़ा कपड़ा और एक छोटा-मोटा घर ही तो चाहिये।

ऐसा करने से तो मनुष्य को हर तरह से सुख ही मिलेगा। विषय-विकारों के त्यागने से कितनी शांति मिलती है। स्त्रियों के साथ उलझकर हमेशा दुःख ही होता है। मनुष्य सौंदर्य के नाम पर स्त्रियों में आसक्त हो जाता है। परंतु मुझे इसमें कुछ धोखा नहीं, मैं स्त्री के मुख को देखकर प्रत्यक्ष यह अनुभव करूंगा कि यही जो आज गोल और सुडौल है कल सूखा-सा और झुर्रियोंवाला हो जायगा। यही काले केश कल सफेद होकर झड़ जायंगे। और शरीर में कौन नहीं जानता मल-मूत्र भरा पड़ा है। सो 'काम के जीतने' का प्रश्न ही मुझे व्यर्थ दिखाई देता है। महात्मा बनने के लिये जो सबसे बड़ी बात कही जाती है उसमें मुझे कुछ भी कठिनाई नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महात्मा के जीवन में खाना-पीना भी बहुत युक्त होना चाहिये। नशा तो किसी प्रकार का भी नहीं करना चाहिये और स्वाद के अधीन होकर कुछ खाना भी नहीं चाहिये। इसमें भी हर तरह से आराम ही है। पैसा कम खर्च हो और स्वास्थ्य अच्छा रहे। मैं नहीं समझता इसमें मुझे विशेष कठिनाई आ सकती है। और जब मैं न किसी स्त्री से उलझूंगा और न अनावश्यक रूप में खाऊं-पीऊंगा तो मेरे पास समय भी खूब होगा। आवश्यकताएं कम होने से धन की भी जरूरत ज्यादा नहीं हो सकती। निर्वाह-लायक धन आसानी से उपार्जित कर लूंगा। अवकाश का सारा समय परोपकार में लगाऊंगा।

रामनारायण अत्यंत उल्लास में उठकर बैठ गया। महात्मा बनने की उसकी सारी आयोजना पूर्ण हो चुकी थी। वास्तव में उसने अनुभव किया कि मानों वह चरितार्थ भी हो चुकी है।

उसने अपने अंदर मानवजाति के लिये अपूर्व कृपा-भाव अनुभव किया और वह अपनी खिड़की की चौखट पर दाहिनी कोहनी टेककर और हथेली पर ठोड़ी रखकर, अत्यंत सहानुभूति और प्रेम में, आते-जाते दु:खित मानवों को देखने लगा। वह दूसरों के चिन्त्य तथा अचिंत्य दु:खों को अनुभव करने लगा और उपकार के लिये व्यग्र हो उठा।

तभी उसने दो स्त्रियों को देखा। एक वृद्धा थी और दूसरी युवती। वृद्धा गंभीर और मौन थी और युवती आवेश में कुछ कह रही थी और बीच बीच में कभी रो पड़ती थी, कभी हंसने लगती थी। उसका मुख प्रत्यक्षत: किन्हीं आंतरिक सुख-दु:खों को प्रतिबिंबित कर रहा था। हमारे महात्मा के हृदय में सहानुभूति और प्रेम का समुद्र उमड़ आया। वे, निश्चय ही, उस स्त्री के चांचल्यमय यौवन से किसी तरह भी प्रभावित नहीं हुए थे। इसका तो उन्हें पूर्ण विश्वास था। वह अपनी आयोजना द्वारा पहले ही इस मानवीय मूर्खता को निकाल चुके थे। शुद्ध सहानुभूति और प्रेम के वेग को अब वे रोक नहीं सके और शांत-सुखद चिंतन को छोड़कर उन्हें सहज ही परोपकार में प्रवृत्त होना पड़ा। वे अपने दुमंजिले से उतरकर नीचे आ गये और वेगपूर्वक चल उन दोनों स्त्रियों के सम्मुख आ उपस्थित हुए। युवती को संबोधित कर वे बोले–

–देवी, तुम्हें क्या कष्ट है?

वह युवती पहले तो भौंचक्की-सी रह गई। मन में रोष उठा। परंतु तुरंत ही, मानों किसी आशय से, उसने अपना भाव बदला और अत्यंत विनम्र होकर बोली–

–एक कष्ट हो तो कहूं, मेरे कष्ट तो बहुत हैं और उन्हें सुनने का धीरज किसको है?

रामनारायण–(परोपकार के लिये अधिकतर उत्साह अनुभव करते हुए) ना, आप अपने कष्ट कहिये, मैं हर तरह से उन्हें दूर करने का यत्न करूंगा।

युवती–आपकी कृपा है। मैं क्या अब आपके सामने अपने रोने रोऊं और आपको भी दु:खित करूं।

रामनारायण–ना, मैंने आपसे गंभीर सहानुभूति अनुभव की है। आप नि:संकोच अपने दु:ख मुझसे कहिये, मैं उन्हें जरूर दूर करूंगा।

युवती–यदि आप इतने कृपालु हैं तो मैं जरूर अपनी कथा आपसे कहूंगी। लेकिन यहां सड़क पर.....।

रामनारायण–नहीं, मैं आपके साथ चलने को तैयार हूं।

युवती–ठीक। तो आइये मैं तो परदेसिन हूं। यहां धर्मशाला में ही एक कमरे में रह रही हूं। वहीं आपसे अपने जीवन का दु:ख कहूंगी।

हमारे महात्मा उस युवती के साथ हो लिये। परोपकार के उल्लास में वे उछलते-कूदते धर्मशाला में पहुंच गये। युवती ने उन्हें अपना दु:ख सुनाया, वे उसमें तल्लीन हो गये। उन्हें मानों अपनी सुध-बुध ही न रही। उसी क्षण वहां कोई और व्यक्ति आ धमका। जिसने न आव देखा न ताव, उनपर मुक्के-घुसों की बौछार जमा दी और धक्के देकर धर्मशाला से बाहर किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे महात्मा वही रास्ता, जो उन्होंने कुछ देर पहले उछलते-कूदते तै किया था, अब इंच इंच करके नापने लगे। जब वे जरा चले तो उन्हें अपने जेब अत्यंत हल्के मालूम दिये। उन्होंने देखा कि उनका धन सब जाता रहा है। अचानक उस दिन उनके अगले महीने का खर्चा उनकी जेब में ही था। सब जाता रहा। चित्त में दुःख था, शरीर में मार-पीट की पीड़ा हो रही थी, अब धन के जाते रहने से भुखमरी की विभीषिका और सताने लगी। वे वापस अपने मकान पर पहुंचे तो सही, पर दुमंजिले पर चढ़ना असंभव पाकर सीढ़ियों में ही पड़ रहे। मस्तिष्क की स्थिति विचित्र थी। थोड़ी देर में ही वह थककर चूर हो गया और अनायास ही रामनारायण की आंखें मिच गईं और वह सो गया। जब उठा तो उसने कुछ ताजा अनुभव किया और वह पुनः अपना साहस जुटाने लगा। धर्मशाला की दुर्घटना को भूलने का यत्न करने लगा। इतने में उसे सीढ़ियों पर ही एक चिट्ठी दिखाई दी। उसने देखा उसके एक मित्र ने उसे उसी दोपहर भोजन के लिये निमंत्रित किया है। उसने सोचा घर पर बैठे रहने से चित्त और खराब होगा, दो मित्रों की संगति में दिल बहल जायगा। भोजन के संबंध में उसने पुनः संकल्प कर लिया कि वह केवल उचित वस्तुएं ही और वे भी उचित मात्रा में ही खायगा। इसमें सफल उतरने में उसे शंका कुछ थी ही नहीं। वह सीढ़ियों से उठा, ऊपर दुमंजिले पर गया, कपड़े बदले और समय देखकर निमंत्रक मित्र के घर की ओर रवाना हो गया।

वहां उसे कुछ लोगों का जमघट बहुत अच्छा लगा। जोशीली बातचीत में वह अपने आपको नया और उत्साहपूर्ण अनुभव करने लगा। भोजन के उपरांत थोड़ी शराब उसे प्रसन्नतावर्धक प्रतीत हुई। अंत में थोड़ा जुआ खेलने का प्रस्ताव हुआ, जिसे उसने मित्रों के लिये प्रेमवर्धक माना। कुछ देर तक जुआ खूब मजे मजे में चलता रहा, परंतु फिर कुछ पत्तों और लेन-देन पर रामनारायण की एक साथी से तकरार हो गई। मामला बढ़ गया, मारा-पीटी होने लगी। इसी में दुर्भाग्य से रामनारायण की किसी प्रकार दाहिनी आंख जाती रही। जुए की पार्टी बरखास्त हुई और रामनारायण ने आंख पर पट्टी बांधे हुए, दर्द से कराहते हुए, पुनः घर की राह ली। उसे घर पहुंचने में कुछ समय लगा। उससे पहले उसका जुए का साथी जिसे उससे हारे हुए रुपये चाहिये थे और जिससे यह लड़ाई-झगड़ा हो गया था, पोलीस लेकर पहुंचा हुआ था और उसके घर का फर्नीचर उठवा रहा था। रामनारायण को दुमंजिले पर चढ़ना फिर असंभव प्रतीत हुआ। वह सीढ़ियों पर ही पड़ रहा और उसका क्लांत मस्तिष्क थोड़ी देर में सुन्न-सा हो गया। जब वह पुनः चेता तो अंधेरा हो चुका था। वह उठा और ऊपर जाकर खाली कमरे में फर्श पर पड़ गया। उसने जरा आंख दौड़ाकर चारों ओर देखा। कमरा वही था, उसकी खिड़की भी ज्यों की त्यों थी, पर वहां न उसका प्यारा बिस्तर था और न ही कुछ और सामान। भयंकर निराशा छा रही थी। अपने कमरे में मुंह छिपाने के लिये उसने आंख बंद कर ली। परंतु दिन भर की घटनाएं घूम घूमकर उसके मन में आने लगीं। वह सोचने लगा एक ही दिन में इतनी विपत्ति! कैसा दुर्भाग्य! युवती का चंगुल, धन-हानि, मार-पीट, शराब, जुआ, लड़ाई-झगड़ा, आंख जाती रहना और सामान की कुड़की। सबके सब एक ही दिन में। जीवन भर के लिये भी यह अत्यधिक है। बार बार उसके मन में प्रश्न उठता, "आखिर यह सब हुआ क्यों?" तभी आकांक्षा, अहंमन्यता, आयोजना, परोपकार, ये शब्द उसके मन में अत्यंत तीव्रता से चक्कर काटने लगे। वह विचारों के अतिवेग से शीघ्र ही निर्विचार हो गया और सो गया।

जब उसकी जाग खुली तो उसने अपने आपको अद्भुत अवस्था में पाया। वह अपूर्व रूप में शांत और प्रसन्न था, विचारों का अभाव-सा ही था, परंतु वह था अत्यंत सजग और सज्ञान। लेकिन इस सजगता और सज्ञानता में अद्भुत विनम्रता थी। क्षण भर में उसे पिछले दिन की प्रातःकालीन स्थिति का भान हो उठा। उसने उसकी उग्रता और अहंमन्यता को देख लिया और फिर शांत और विनम्र हो गया। उसे वह स्थिति बहुत ही प्रिय लग रही थी, आंख खोल बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झांकने को मन नहीं करता था। पता नहीं कितनी देर तक वह उसी अवस्था का रस लेता रहा। जब उसने आंख खोली तब उसके मुख से केवल ये शब्द निकले—"मैं संतुष्ट हूं।"

(वाल्टेर की एक कहानी से प्रेरित)

कुछ विद्यार्थियों की श्रीअरविंद से भेंट :

: श्री अगाराम रंगैया, पत्रकार, मैसूर

(सन् १९२१ की बात है, मद्रास के कुछ विद्यार्थी पांडिचेरी आकर श्रीअरविंद से मिले। तब श्रीअरविंद आगंतुकों से मिल-जुल लेते थे, सर्वथा एकांत में तो वे १९२६ में गये। यह भेंट अवश्य ही, अपने ढंग की हुई होगी। क्योंकि उपस्थिति विद्यार्थियों की थी, कुछ प्रश्न श्रीअरविंद ने उनसे किये और कुछ उन्होंने श्रीअरविंद से और उत्तर लगभग हर बार ही श्रीअरविंद ने विद्यार्थियों से अपने मुख से दिलवाया। —सं०)

सन् १९२१ की ग्रीष्म ऋतु थी। भिन्न भिन्न कालेजों के कोई ३० लड़के आश्रम भवन की छत पर के मंडप में प्रविष्ट हुए। श्रीअरविंद सोफे पर विराजमान थे, लड़के उनके सामने पालथी मारकर बैठ गये।

श्रीअरविंद ने लड़कों की ओर दृष्टि घुमाकर उनसे पूछा कि तुम क्या क्या विषय पढ़ रहे हो। एक एक करके उत्तर आये—विज्ञान, गणित, इतिहास आदि।

श्रीअरविंद—परीक्षाओं के बाद तुम अपने विज्ञान से क्या करोगे?

छात्र एक दूसरे को ताकने लगे और कुछ देर बाद एक छोटे से बालक ने स्वयं श्रीअरविंद से पूछा—आप ही बताइये कि हमसे आप किस काम की आशा करते हैं? परंतु जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, श्रीअरविंद एकदम किसी प्रश्न का उत्तर नहीं देते थे, बल्कि बच्चों को प्रेरित करते कि हर एक अपने प्रश्नों का उत्तर आप ही दे। उन्होंने कहा, "यह बात तो तुम्हारे बताने की है मेरे बताने की नहीं। अध्ययन के विशेष विषय चुनते हुए तुम्हारे सामने विशेष लक्ष्य होना चाहिये और तुम्हें यह बता सकना चाहिये कि वह लक्ष्य क्या है?"

थोड़ी देर फिर चुप्पी रही और मंडली में से एक ने साहस करके कहा, "भगवन्, हम अनुसंधान करेंगे।"

श्रीअरविंद—"अहो! तुम सबके सब अनुसंधान करोगे: तुम्हारे अनुसंधानों से देश सचमुच समृद्ध हो जायगा।"

तब लड़कों ने अगला प्रश्न किया। कांग्रेस ने तब हाल ही में अपने ध्येय में जरा हेर-फेर किया था। उसने घोषित किया कि हमारा लक्ष्य है स्वराज्य, "ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत" ये जो शब्द तब तक उसके लक्ष्य में सम्मिलित थे वे उसने उसमें से निकाल दिये।

प्रश्न—अच्छा, भगवन्, कांग्रेस के लक्ष्य में जो परिवर्तन हुआ हैं उसपर आपकी क्या सम्मति है?

उत्तर—नहीं, तुम्हीं मुझे बताओ। तुम भाषण सुनते, अखबार पढ़ते और आपस में चर्चा करते रहे हो। यदि तुमने अभी तक अपनी सम्मति नहीं बनाई है, तो मैं भी क्यों व्यर्थ में अपनी सम्मति तुम पर लादूं? तुम मुझे अपनी सम्मति बताओ।

एक छात्र—परिवर्तन पुराने लक्ष्य में सुधार है। यह अधिक रुचिकर है।

श्रीअरविंद—कैसे?

उत्तर—जहां पुराने ध्येय ने हमें ब्रिटिश राज्य से बांध रखा था, भले ही हम इसे पसंद करें या न करें, वहां वर्तमान ध्येय इस बात को हमारी इच्छा पर छोड़ता है कि हम चाहें तो साम्राज्य के अंदर रहें और चाहें तो इससे पृथक् हो जायं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद–अच्छा। वह कौनसी चीज है जो इस परिवर्तन का कारण बनी?

उत्तर–पंजाब का हत्याकांड और खिलाफत के संबंध में विश्वासघात। (उन दिनों हर एक के ओठों पर यही बात थी। गांधीजी से लेकर नीचे तक प्रत्येक नेता यही कहता था। प्रत्येक समाचार-पत्र इन्हीं युक्तियों से भरा होता था)। अंग्रेजों ने जलियांवाला बाग में हमारे भाइयों को अवर्णनीय यंत्रणाएं पहुंचाई हैं और हमारे मुस्लिम देशभाइयों के साथ विश्वासघात किया है।

श्रीअरविंद–मान लो कि अंग्रेज ये दो बुराइयां न करते–खिलाफत के बारे में अपना वचन न तोड़ते और न ही पंजाब में अत्याचार करते–तब क्या तुम कांग्रेस के पुराने ध्येय को ज्यों का त्यों रखने में सहमत हो जाते?

उत्तर—नहीं जी। तब भी नहीं।

श्रीअरविंद–क्यों नहीं?

उत्तर–हम ब्रिटिश साम्राज्य से कोई सरोकार नहीं रखना चाहते। वे हमारा भला करें या बुरा हम उनसे किसी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहते।

श्रीअरविंद–तो तुम ऐसा क्यों कहते हो कि पंजाब का हत्याकांड और खिलाफतसंबंधी विश्वासघात कांग्रेस के ध्येय के परिवर्त्तन का कारण है?

लड़के अपने अशुद्ध तर्क पर बगलें झांकने लगे, पर इस प्रकार स्थिति को यथावत् समझने में सहायता पाकर वे आश्चर्यमुग्ध रह गये।

उसके बाद उन्होंने तीसरा प्रश्न पूछा—भगवन्! चर्खे के विषय में आपकी क्या सम्मति है?

श्रीअरविन्द–नहीं, तुम्हीं मुझे अपनी राय बताओ।

छात्र–(पुनः घिसी-पिटी युक्तियां देते हुए) ब्रिटेन से खरीदे हुए कपड़े के बदले में हमारे निर्धन देश का ६० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष ब्रिटेन को चला जाता है। चर्खे से हमारे बेकार लोगों को धंधा तथा निर्धनों को आजीविका मिलती है।

श्रीअरविन्द–हां, बहुत ठीक।

तदनंतर सबसे अधिक जिज्ञासापूर्ण प्रश्न की बारी आई।

प्रश्न–आप एकांत में आकर बैठ गये हैं। भगवन्, आप कब बाहर आयेंगे?

श्रीअरविन्द–अब मुझे चाहता ही कौन है? मैं १९०८ का अरविन्द घोष नहीं हूं। १९०८ का अरविन्द घोष तो मर चुका। यह तो कोई और ही अरविन्द घोष है। (रुककर) मैं तब बाहर आऊंगा जब मां का आदेश होगा (फिर कुछ रुककर) मैं स्वराज्य स्थापित होने के बाद बाहर निकलूंगा।

इसपर विद्यार्थियों का कुतूहल बढ़ गया और उन्होंने आग्रहपूर्वक पूछा–अच्छा भगवन्, स्वराज्य की प्राप्ति के लिये ही हमारे सभी नेता एवं देशभक्त जूझ रहे हैं। एक समय आप भी आंदोलन के अग्रणी थे। देश की स्वाधीनता अधिगत करने के लिये आपकी सेवा और मार्गदर्शन की अत्यंत आवश्यकता है: पर आप कहते हैं कि आप स्वराज्य के बाद आयेंगे।

श्रीअरविन्द–नहीं। मेरे प्यारे बच्चो, स्वराज्य ही सब चीजों की इतिश्री नहीं है। यह तो प्रारंभमात्र है। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी बहुत कुछ करने को रह जाता है। मैं स्वराज्य स्थापित होने के बाद आऊंगा।

–भगवन्, ब्राह्मणेतर-आंदोलन के बारे में आपका क्या मत है?

श्रीअरविन्द–मैं स्वयं ब्राह्मणेतर हूं। मैं कितने ही वर्षों से यहां रह रहा हूं। मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि इस आंदोलन का आशय क्या है।

छात्रों ने अनुभव किया कि इस रोचक बातचीत से उन्हें बहुत अधिक प्रकाश मिला है और उन्होंने आदरपूर्वक सिर नवाकर महर्षि से विदा ली।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैं भगवान् का सेवक हूं, मनुष्यजाति का नहीं" (श्रीअरविन्द से एक और भेंट)

पिछली बार सन् १९२१ में मैं विद्यार्थिगण के साथ पांडिचेरी गया था। उसके बाद सन् १९२२ में मेरे अंदर फिर आकर्षण पैदा हुआ कि वहां जाकर श्रीअरविन्द के दर्शन करूं। अतएव मैंने आश्रम के मंत्री के नाम चिट्ठी लिखकर उनसे प्रार्थना की कि मेरे लिये भेंट की अनुमति प्राप्त कर दीजिये। इस समय श्रीअरविन्द अपने एकांतवास की अधिक उच्चतर अवस्थाओं में पदार्पण करना शुरू कर चुके थे। उनसे बातचीत करने की मनाही हो चली थी और उनके पास जाने की अनुमति भी बहुत ही कम मिलती थी। परंतु अपने एक सहपाठी हलेप्पा के सौजन्य से, जिनका आश्रम से घनिष्ठ संबंध था, मुझे श्रीअरविंद से मिलने का एक और सुअवसर प्राप्त हो गया। मुझे सूचना दी गई कि तब से एक महीना बाद अमुक दिन मुझे पहुंच जाना चाहिये।

मैं नियत दिन पांडिचेरी पहुंच गया और ठीक समय पर आश्रम भवन में जा उपस्थित हुआ। मैं अत्यंत भक्तिपूर्ण और गंभीर भाव के साथ वहां गया जैसे कोई मंदिर में जा रहा हो। मुझे मकान की खुली छत पर बुला भेजा गया जहां श्रीअरविंद पहले से विराजमान थे। ज्यों ही मैं वहां पहुंचा उन्होंने मुझे पास रखी हुई कुर्सी पर बैठ जाने को कहा। गत वर्ष के विपरीत मैंने देखा कि श्रीअरविन्द की आकृति में परिमाण और स्फूर्त्ति की दृष्टि से प्रत्यक्ष वृद्धि हुई है। जब उन्होंने मुझे कुर्सी पर बैठने की संकेतपूर्वक आज्ञा दी तब उनकी भुजा में भी स्प्रिंग की सी लचक स्पष्ट दिखायी दी थी। बात फिर इस प्रकार चली :–

श्रीअरविन्द–आप क्या चाहते हैं?

उत्तर–भगवन्, मैं आपका आशीर्वाद और आदेश-निर्देश प्राप्त करने की अभिलाषा से आया हूं।

श्रीअरविन्द–आपके जीवन का ध्येय क्या है?

उत्तर–मनुष्य-जीवन का ध्येय है मनुष्यजाति की सेवा।

श्रीअरविन्द–मनुष्यजाति की सेवा? मैं मनुष्यजाति का सेवक नहीं हूं, मैं ईश्वर का सेवक हूं।

उत्तर–अच्छा भगवन्, सभी धर्मग्रंथ, सभी गुरु और सब कोई हमें यह बताते आये हैं कि मनुष्यजाति की सेवा जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, कि मनुष्यजाति की सेवा ईश्वर की सेवा है।

श्रीअरविन्द–हां। निःसंदेह, मनुष्यजाति की सेवा सराहनीय लक्ष्य है; पर मनुष्यजाति ईश्वर नहीं है। मनुष्यजाति परिवर्तनशील है। जो मनुष्यजाति हम आज देखते हैं, कुछ वर्ष बाद वह नहीं रहेगी। परंतु ईश्वर नित्य है। मैं मनुष्यजाति का सेवक नहीं : मैं ईश्वर का सेवक हूं।

ईश्वर और मनुष्यजाति में उन्होंने इतनी स्पष्टता तथा सरलता से जो यह भेद किया उससे मैंने एक चमत्कारक प्रकाश अनुभव किया और तब से उस अनुभव को मैंने सदा ही प्रेम से पोषित किया है।

श्रीअरविन्द ने पूछा : अच्छा, अपने लक्ष्य के अनुसरण के लिये आप क्या कर रहे हैं?

उत्तर–ध्यान, प्रार्थना, जप, रामनाम, गीता-स्वाध्याय इत्यादि।

श्रीअरविन्द–यह बहुत अच्छा है। आप अपने तरीके से साधना करते जाइये।

उन्होंने आगे कहा–मेरी पद्धति कुछ और ही है। वह बहुत कठिन है। उसके अनुसरण में बहुतों ने अपने जीवन को नष्ट कर डाला है। परंतु मुझे तो फिर भी उसीमें लगे रहना है।*

बातचीत एकाएक यहीं आकर समाप्त हो गई और मैं रुद्ध श्वास के साथ वहां से विदा हुआ। लगभग २८ वर्ष के व्यवधान के बाद अभी इसी वर्ष (१९५० में) मुझे महर्षि के दर्शनों का फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ। पर इस बार क्षणभर की झांकी में उन्हें प्रणाम करके ही संतोष माना।

*यहां संभव है संकेत मन और प्राण और शरीर के अवचेतन और निश्चेतन भाग के रूपांतर की ओर हो। योगशैलियों में प्रायः अवचेतन की भयंकरता के कारण उसमें प्रवेश करने की मनाई कर दी जाती है। परंतु पूर्णयोग ऐसा नहीं कर सकता। उसे सारे व्यक्तित्व का आमूलचूल रूपांतर अभीष्ट है। इसलिये अवचेतन में उतरना ही होगा और वहां उच्चतर प्रकाश को पहुंचाना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद के प्रति : : संकलन

(१)

भगवान् कृष्ण, श्रीअरविंद, असुर और कम्यूनिज्म : : श्री चौधरी कृष्णगोपाल दत्त, भूतपूर्व मंत्री, पंजाब

गीता पर कई भाष्य हैं जिनमें अलग अलग तशरीह मौजूद है। पुराने तसव्वरों (भाष्यों) में सबसे अहम (महत्त्वपूर्ण) शंकर का भाष्य है जो वेदांती नजरिया (दृष्टिकोण) पर जोर देता है। जदीद (आधुनिक) भाष्यों में बाल गंगाधर तिलक और श्रीअरविन्द के तसव्वरे (भाष्य) ज्यादा अहम हैं। तिलक ने कर्मयोग का दृष्टिकोण पेश किया है। श्रीअरविन्द भगवान् की शिक्षा से एजत्माई (सामूहिक) पहलू निकालते हैं, वह ईश्वर में बुनियादी एतकाद (विश्वास) रखते हैं और इसपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं। उनके ख्याल में ईश्वर उत्पत्ति के उसूल का नाम ही नहीं बल्कि पूर्ण सत्य, सच्चाइयों की सचाई और सचेत दिव्य शक्ति पुरुषोत्तम है। जहां तिलक महाराज की व्याख्या बुद्धि के आधार पर की गई है वहां अरविन्द के भाष्य का आधार रहस्यवाद है। श्रीअरविन्द ने गीता पर लेख नाम की जो पुस्तक दो जिल्दों में शाया की है वह गीता पर अहमतरीम (सर्वोत्तम) भाष्य है। दूसरे जितने भाष्य अब तक शाया हुए हैं यह उन सबमेंसे निराला भाष्य है। श्रीअरविन्द ने एक बार अपने एक भक्त को एक चिट्ठी के दौरान में लिखा, "जब मैं अलीपुर जेल में कैद था तो खुद भगवान् कृष्ण ने मुझे दर्शन दिये थे और गीता की तशरीह (व्याख्या) मुनकशिफ (प्रकट) की थी जिसे मैंने अपनी पुस्तक गीता पर लेख में दर्ज कर दिया है।" श्रीअरविन्द सबसे बड़े योगी हैं। उन्होंने संसार को एक नया संदेश दिया है, वह संसार को माया नहीं समझते, वह इसे सत्य मानते हैं और उसके पीछे एक खास भागवत उद्देश्य समझते हैं। वह विकासवाद में विश्वास रखते हैं, लेकिन उनका दावा है कि विकास का अमल इन्सान की पैदायश के बाद खतम नहीं होता बल्कि बदस्तूर जारी रहता है। ईश्वर का मकसद यह नहीं था कि विकास के अमल को गैर मुकम्मल और महदूद मन में खतम कर दिया जाय। सत्य पूर्ण है और इसलिये उसका अमल गैर मुकम्मल चीज पर खतम नहीं हो सकता। "मन" ईश्वरीय प्रकाश का अंत नहीं। ईश्वरीय प्रकाश के लिये मन से परे भी कोई चीज है, ऐसे ही इसे हम परम मन कहते हैं। श्रीअरविंद दुनिया की तवारीख में पहले योगी हैं जिन्होंने परम मन के असूल दरियाफ्त किये हैं। यह उनकी थिउरी नहीं बल्कि अंतर्दृष्टि है। इस अंतर्दृष्टि से विकास का अगला मरहला परम मन के जहूर का होगा, जब कि मादा रूहानियत में रंग जायगा और पृथवी पर मुस्तकिल भागवत जीवन होगा, दूसरे अलफाज में विकास का दूसरा मरहला। इस देव आत्मा पर प्रकृति के नियमों का कोई प्रभाव नहीं होगा और वह बीमारी, नाश और मौत से आजाद होगी। संसार में कोई बुराई न रहेगी और पृथ्वी पर मुस्तकिल दिव्य जीवन होगा। अब तक हर एक योगी, ऋषि और पैगंबर यह समझते रहे हैं कि मौत यकीनी और नागुरेज (जिससे बचाव न हो) है।

इलावाअजीं अब तक हर एक पैगंबर यह तसलीम करता रहा है कि पाप प्रकृति का जरूरी नियम है। श्रीअरविन्द पहले योगी हैं जिन्होंने दुखी बनीनौइन्सान (मनुष्यजाति) के लिये नई आशा दिखाई है। न मौत होगी न पाप। पाप की शक्ति का नाश हो जायगा और दिव्य शक्तियां हावी हो जायंगी। श्रीअरविन्द की अंतर्दृष्टि के मुताबिक पाप एक सचेत शक्ति है जो दुनिया में छाई हुई है। यह एक मुनाफिक (विरोधी) आलमगीर हस्ती है, इसकी शक्ससियत है, अगरचे उसकी रूपरेखा शरीर जैसी नहीं है। यह एक जेहनी हस्ती है जिसमें उत्पत्ति और विनाश की

होगा। परंतु बाद के अनुभव और परीक्षण ने पूर्णयोग की इस भयंकरता को बहुत सुरक्षित तथा अपेक्षाकृत सरल बना दिया है। –सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेपनाह ताकत है। हिन्दू शास्त्रों में उसे असुर और इस्लाम व ईसायत में उसे शैतान कहा जाता है। मौजूदा तालीम इसे तवह्हमपरस्ती (अतिविश्वास, superstition) का नाम देती है। लेकिन श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह सत्य है। मैं इस हस्ती को अपनी मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से देखता हूं। जिस तरह हम अपनी जिस्मानी आंखों से अशिया (वस्तुओं) को देखते हैं। यह असुर देव-आत्मा का सबसे बड़ा दुश्मन है और इन्सानों वा दूसरे जराए से पृथिवी पर दिव्य शक्ति के दौर को रोकने के लिये अपनी तमाम गैर मामूली ताकतें अख्त्यार करता है। क्योंकि वह जानता है कि अनंत भागवत जीवन से उसकी हमेशा के लिये मौत हो जायगी। यही वजह है कि श्रीअरविन्द अपनी योगशक्ति और इन्सानी समाजों के साथ असुर के खिलाफ सख्त जंग में मुबतला हैं। एच० जी० वेल्ज और अलडस हेक्सले जैसे रौशन दिमाग मुदब्बरों ने तसलीम किया है कि दुनियां में पाप जैसी सचेत शक्ति है। गीता में आसुरी शक्ति का जिक्र है और ऐसे लोगों की खासियत बयान की गई है, जिनमें ये आसुरी गुण होते हैं। गीता का सोलहवां अध्याय इसके बारे में है। प्राचीन हिन्दू शास्त्रों के अनुसार देवों और असुरों की दुनियां अलग अलग हैं। ये दोनों इस दुनियां की हस्तियों और इन्सानों पर मुतवातिर असर अंदाज होते हैं।

उसकी वजाहत (व्याख्या) करने के लिये हम सोलहवें अध्याय का छठा, सातवां, आठवां, नवां और अठारहवां श्लोक नीचे दर्ज करते हैं।

६. इस मादी दुनियां में दो प्रकृतियां हैं दैवी और आसुरी। दैवी शक्ति की काफी व्याख्या की जा चुकी है।

अब ऐ पार्थ ! मुझसे आसुरी दुनियां की व्याख्या सुनो।

७. आसुरी मनुष्यों को कर्म या विकर्म मार्ग का सच्चा ज्ञान नहीं होता, उनमें सत्य नहीं होता न उनमें किसी प्रकार की श्रद्धा होती है।

८. वह कहते हैं कि संसार में कोई ईश्वर नहीं। संसार मिथ्या है, सत्य पर कायम नहीं, यह परस्पर नियोग से पैदा हुआ है। आसक्ति इसका एकमात्र कारण है।

९. जीवन के बारे में इस प्रकार का दृष्टिकोण बनाकर और उसके झूठे रूप से अपनी आत्मा को नष्ट करके आसुरी-जीव शैतानी कार्रवाइयों का साधन बन जाते हैं जिनसे पाप, तबाही और बुराई फैलती हैं।

१८. अपनी शक्ति और अधिकार के अहंकार में अपने प्रबल क्रोध में ईश्वर से घृणा करते हैं। विकास अपने आखिरी मरहले (मंजिल) यानी दिव्य जीवन के मुस्तकिल जहूर की तरफ अमल पैरा है। आसुरी शक्ति दिव्य जीवन की सबसे बड़ी दुश्मन है। इसलिये वह दिव्य जीवन और दिव्य आत्मा के वजूद में आने की राह में रुकावट है। इन्सानियत के आगाज से आसुरी शक्ति दिव्य शक्ति को शिकस्त देने के लिये इन्सानों को इस्तेमाल करती आई है। असुरों में गैर मामूली और गैर कुदरती ताकत है। वह अच्छा बनकर भी नमूदार हो सकता है। उसका इन्तहाई मंशा यह है कि ईश्वर के विचार को दुनियां से निकाल दिया जाय। कई खुफिया समाजों में उसकी पूजा की जाती है। इसके नाम पर उसके भगतलोगों को गुमनाम चिट्ठियां भेज देते हैं जिसमें हिदायत की जाती है कि इन चिट्ठियों को नकल करके उन्हें दूसरों के पास भी भेजा जाय। इस तरह उन्हें दौलत और सेहत मिलेगी। इस हिदायत की खिलाफवर्जी करनेवालों को खतरनाक नतायज की धमकी भी दी जाती है।

दूसरी जंगअजीम में श्रीअरविन्द ने अपनी योगदृष्टि से देखा कि आसुरीशक्ति हिटलर के रूप में नमूदार हुई है। इसलिये श्रीअरविन्द ने अपना जीवन और आत्मा नाजियों के खिलाफ लड़ने और हिटलर को शिकस्त देने में लगा दी। श्रीअरविन्द ने अपना शारीरिक और आध्यात्मिक वजन इत्तिहादियों के हक में डाल दिया। बयान किया जाता है कि जब बर्तानवी फौजें डंकर्क व फ्रांस में लड़ रही थीं और उनका सर्वनाश होनेवाला था और हर एक समझता था कि इंगलैंड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शिकस्त सिर्फ दिनों की बात है उस समय श्रीअरविन्द ने अपनी तमाम योगशक्तियों का इस्तेमाल किया। याद रहे कि उस वक्त हिटलर के लिये हिन्दुस्तान में बहुत हमदर्दी थी क्योंकि अंग्रेजों ने हमें गुलाम बना रखा था। श्रीअरविन्द के किसी भक्त ने उनसे पूछा कि आप जंग में अंग्रेजों की इमदाद क्यों कर रहे हैं। उस वक्त श्रीअरविन्द ने अपने भक्तों को जो चिट्ठियां लिखीं उनमेंसे चंद इक्तसाबात (उद्धरण) नीचे दर्ज करते हैं:—

यह जंग महज कौमों और हुकूमतों के दरमियान लड़ाई नहीं बल्कि भागवत और आसुरी नाम की दो शक्तियों के दरमियान है। हमें यह देखना है कि कौमें और अफराद (व्यक्ति) अपने आपको किस तरफ डालते हैं। अगर वह अपने आपको सही राह पर डाल दें तो वह तमाम बुराइयों के बावजूद दिव्य कार्य के साधन बन जायंगे। एक पक्ष—अमरीका, बर्तानियां और फ्रांस की फतह से विकासी ताकतों का रास्ता खुला रहेगा जब कि दूसरे पक्ष की फतह इन्सानियत को पीछे ले जायगी। —दैनिक "प्रताप", कृष्णनम्बर १९५०, देहली।

(२)

श्रीअरविंद : गुह्यवित्, दार्शनिक तथा कवि : : सर राबर्ट ब्रिस्टो

श्रीअरविन्द घोष प्राच्य जगत् के एक ज्ञानी पुरुष हैं जिन्होंने विश्व तथा नित्यता को एक अतिबृहत् मंडलाकार विचार में समा लेने का यत्न किया है। .....

उन्होंने वेदों, उपनिषदों और भगवद्गीता में गहरी डुबकी लगाई है; निःसंदेह उन्होंने इंग्लैंड में पश्चिमी जीवन और चिंतन के १४ वर्षों के अनुभव से बहुत कुछ प्राप्त किया है; इसमें भी संशय नहीं कि भारतीय राजनीति के क्षेत्र में उनके विचरण तथा फिर भारतीय जेल के अवकाश ने उन्हें मनन करने और आत्मसात् करने के लिये बहुत सामग्री दी। यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि स्वयं गीता भी प्रागैतिहासिक काल की कृति है। हो सकता है कि प्रारंभिक खीष्टीय युग की हो, चाहे दावा तो यह किया जाता है कि इसका रचनाकाल अधिक प्राचीन है और इस कथन में कुछ न कुछ औचित्य भी प्रतीत होता है।

जैसा कि प्रसिद्ध ही है, इस विषय में पण्डितों और पादरियों में वादविवाद उठ खड़ा हुआ है, क्योंकि समानताएं, शाब्दिक रूप में भी, घनिष्ठ हैं; जो हो, यह सच है कि गीता को आत्मसात् करते हुए श्रीअरविन्द ने साथ ही साथ ईसाइयत की शिक्षा भी बहुत कुछ आत्मसात् की है। हमारे इस लेख का विषय है—उनका महान् ग्रंथ 'दि लाइफ डिवाइन'। इसके अध्ययन से पहले पहल कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता दीखता है जैसे कोई मनुष्य एक बड़े मंडल को सब तरफ घुमा-फिराकर उसका आदि-अंत ढूंढ़ने की चेष्टा कर रहा हो; चाहे इसका एक ढांचा और क्रम अवश्य है, पर जैसा कि अन्य पर्यालोचनों में होता है उसके विपरीत, इसमें कोई ज्ञात-तत्त्वों की सूचक रेखा या कोई नपा हुआ आधार नहीं है जिसे ज्यौतिषिक त्रिभुजों में विभक्त करके त्रिकोणमितिक पर्यालोचन आरंभ किया जा सके। परंतु जिस प्रकार हम भूमध्यरेखा को अक्षांश के और ग्रीनविच को रेखांश के शून्य के रूप में प्रयुक्त करते हैं उसी प्रकार लाइफ डिवाइन के परम वृत्त (super-sphere) की भी कुछ निर्देशक रेखाएं अवश्य हैं, यद्यपि वास्तव में इसकी भूमध्यरेखा मंडल के किन्हीं भी दूरतम बिंदुओं पर हो सकती है और इसका ग्रीनविच अनंत अखंड का कोई एक सांत बिंदु।

इस प्रकार लाइफ डिवाइन का अध्ययन मंडल के चतुर्दिक् निरीक्षण के समान है जिसमें, यथावत् देखने पर, ज्ञातव्य सभी कुछ विद्यमान है और कोई भी भाग दूसरे से बड़ा या छोटा नहीं है, और सब कुछ एक ही है। परंतु इस रूपक में एक घुण्डी है जो इसे उलझा देती है। वह यह कि निरीक्षक भी मंडल के साथ साथ घूम रहा है; कारण, यदि उसके मन को भौतिक जगत का ज्ञान है तो उसे अपनी अभिज्ञता नई भाषा में उपमा द्वारा व्यक्त करनी होगी, अथवा, यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे धर्मतत्त्व का ज्ञान है तो उसे अपने मंतव्यों को फिर से नए रूपों एवं सांचों में ढालना होगा। मैं निःशंक होकर कह सकता हूं कि यह कार्य अनेक धर्माचार्यों को अप्रिय लगेगा, जब कि प्रकृति और जीवन का आशावान् विद्यार्थी सद्वस्तु के सारतत्त्व को सहजबुद्धि से अंगीकार करता और उसका सहर्ष आलिंगन करता है।

श्रीअरविन्द और ईसामसीह

(१) श्रीअरविन्द और ईसामसीह दोनों ने गुह्य अंतर्मिलन से ईश्वर-सचेतनता वा ईश्वर-ज्ञान प्राप्त किया; दोनों ने अनुभव किया कि ईश्वर का अस्तित्व है, कि वह अनंत भागवत व्यक्तित्व है; कि मनुष्य दैवी दाय को लेकर जन्मा था और कि वह ईश्वर-सचेतन होकर या न होकर इस दाय को स्वीकार करता या त्याग देता है; कि ईश्वर-सचेतनता का मूल स्रोत है साक्षात् अंतर्मिलन, और जीवन का अनुभव; पहला अधिकतर एकांत एवं नीरवता में, दूसरा अधिकतर कर्ममय जगत् में। ईश्वर-सचेतनता से मनुष्य स्वयं अमर चैतन्य बन जाता है। प्रत्येक मनुष्य इस सत्य की घोषणा करता है कि 'मेरे पिता के घर में अनेक प्रकोष्ठ हैं', चाहे घोषणा के शब्द एक ही नहीं होते।

(२) गुह्य ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष अंतर्मिलन एक ऐसी देन है जिसे, अन्य सभी देनों की तरह, अर्जित करने की जरूरत पड़ती है। कइयों को यह उपलब्ध हो जाती है; बहुतेरों को नहीं होती, भले ही उन्हें 'सहज चैतन्य' प्राप्त हो जाय और हो ही जाता है। जो लोग साक्षात् ज्ञान उपलब्ध नहीं कर पाते उनके लिये भी एक जीवनप्रणाली अवश्य है जो श्रीअरविन्द में निगूढ़ है और ईसा में प्रत्यक्ष; पर ईसा में इस प्रणाली का आधार है—श्रद्धा का आचरण-अनुष्ठान और ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास। इस सत्य का साक्षात्कार तब ईश्वरीय आदेश से परिचालित एवं नियंत्रित जीवन के अनुभव के संग संग होता है। मेरे विचार में, श्रीअरविन्द के अनुसार, वह ईश्वरीय आदेश मुख्यतः भगवद्गीता के श्लोकों पर आधारित है और ईसाइयत के मत से ईसा की मूल शिक्षाओं पर। दोनों दशाओं में विचारणीय प्रश्न है—जीवनसंग्राम में आत्मा का अपने को उत्सर्ग करना। कृष्ण और अर्जुन में यह युद्ध-संबंधी चर्चा के बीच उत्पन्न हुआ; ईसामसीह और मनुष्य के मध्य यह स्वतः जीवन-संघर्ष के समय उदित होता है।

(३) श्रीअरविन्द के मत से, अज्ञान, भ्रम और पाप अनुभव के अनिवार्य अंग हैं जब तक कि मनुष्य सत्यदृष्टि, श्रद्धा या अनुभूति के द्वारा प्रकाश की ओर अभिमुख नहीं हो जाते। ईसा के मतानुसार, 'तेरे पाप माफ हों' ये शब्द उसकी आंतरिक श्रद्धा का प्रत्युत्तर थे। यह श्रद्धा स्वयमेव मन और शरीर को स्वस्थ करने की प्रक्रिया आरंभ कर देती है।

(४) श्रीअरविन्द का माहात्म्य आज तीन प्रकार का है:—

(क) वे उज्ज्वल मेधाशाली, अनुभव, संस्कृति और चारित्र्य से विभूषित पुरुष हैं, वे चालीस वर्ष तक ध्यान एवं मिलन में निमग्न रहे हैं, और साथ ही वे कुछ अंश में कर्मशील भी रहे हैं जहां तक कि उन्होंने अपनी उपलब्धियां प्रकाशित की हैं;

(ख) वे उपलब्धियां, उनके अपने देश के पवित्र वाङ्मय के स्वाध्याय से उद्भूत हुई हैं। उनमें जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म के रहस्यों का सार-संग्रह (सूक्ष्म तर्क से युक्त १,६२७ पृष्ठों में) न्यायाधीश के निर्णय-सार की भांति संगृहीत है;

(ग) अंत में, यदि स्पष्ट रूप में नहीं तो गुप्त रूप में, वे हमें ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह का ही संदेश सुनाती हैं। वह संदेश है—भूतल पर ईश्वरी-वाणी का प्रकाश, आत्म-बलिदान (निम्न स्व का त्याग), पुनर्जन्म (उच्च आत्मा में जन्म), और साक्षात् 'भागवत जीवन' (या भूतल पर स्वर्ग का राज्य)।

श्रीअरविन्द में हमें जिस चीज की कमी अखरती है वह है ईसा की करुणा।* यदि कोई तैरता

*लेखक महोदय ने श्रीअरविन्द के ग्रंथों के अनुशीलनमात्र से उनका व्यक्तित्व जिस हद तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न जाननेवाला जहाज से गिर पड़े तो ईसा पुल पर खड़े खड़े उससे यह नहीं कहते कि तू मेंढक की तरह उछल-कूद; वे उसे बचाने के लिये उतर पड़ते हैं। कृपा और सत्य से परिपूर्ण, ईश्वरीय दूत ईसामसीह दयालु सखा भी थे जो घूम घूमकर सबका भला करते फिरते थे और श्रीअरविन्द एक दर्शनग्रंथ में जितना कुछ संगृहीत कर सकते हैं उससे अधिक वे एक दृष्टांत में भर सकते थे। ईसा का यह नित्य-ध्रुव आश्वासन ही कि मैं कठिनाई में तुम्हारा सखा हूं, आशा और बल हूं, रक्षक प्रेम हूं, यह प्रकट करता है कि वे ईश्वर के पुत्र हैं और देवमानव हैं। यह उनकी समाधि पर खुदे इस सर्वथा सत्य अभिलेख का समर्थन करता है कि: 'यदि मुझे ईश्वर ऊपर उठा लेते हैं तो मैं सब मनुष्यों को अपनी ओर खींच लूंगा।' तो भी, गुह्यवित्, वस्तुवादी और आधुनिकता-प्रेमी हिंदू, श्रीअरविन्द ने, उस मोहिनी मूर्त्ति को व्यक्त करने में सहायता की है और इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में आध्यात्मिक समन्वय फिर से संभव कर दिया है। जल्दी या देर में, इस समन्वय का अपरिमेय प्रभाव उत्पन्न हो सकता है और होगा ही।

"The Modern Churchman", March 15, 1950.

ऋषि

उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान से संपन्न व्यक्ति ही ऋषि कहलाता था। वह चाहे किसी भी वर्ण में क्यों न पैदा हुआ हो, पर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व से सभी पर प्रभुत्व रखता था। राजा भी उसका संमान करता और उससे परामर्श लेता था। कभी कभी वह राजा का धार्मिक पुरोहित होता था। सामाजिक विकास की तत्कालीन तरल अवस्था में केवल वही नए मूलभूत विचारों की अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण भाग लेने के योग्य था और लोगों के सामाजिक-धार्मिक विचारों तथा रीति-रिवाजों में सीधे तौर पर तुरंत परिवर्तन कर सकता था। भारतीय मन की यह विलक्षण विशेषता थी कि वह अपने जीवन की सभी परिस्थितियों के साथ, यहां तक कि अत्यंत बाह्य और सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के साथ भी आध्यात्मिक अर्थ और धार्मिक विधि-निषेध की भावना को गूंथने की चेष्टा करता था, वह सभी वर्णों और व्यवहारों पर एक आदर्श को लागू करता था जो मुख्यतः कर्तव्यों का ही आदर्श होता था और केवल गौण रूप से ही अधिकारों एवं सामर्थ्यों का। इसी प्रकार वह उनके कर्म के नियम, आदर्श आचरण, स्वभाव और चरित्र को तथा कर्म की मूल भावना और अध्यात्मभावयुक्त धर्म को भी स्थापित करता था। ऋषि का यह कर्त्तव्य था कि वह जाति के मन पर इस संस्कार को दृढ़तया अंकित करे, इसे प्रचलित और जीवित रखे, आदर्श धर्म तथा उसके व्यावहारिक आशय की खोज और व्याख्या करे और जनता के जीवन को आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावना पर आधारित सभ्यता के सुगठित आदर्शों एवं मार्मिक रूपों में ढाल दे।

—श्रीअरविंद

अनुभव किया है वह, निश्चय ही, उनकी आध्यात्मिक भावना और जिज्ञासा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि वे श्रीअरविन्द की करुणा को अनुभव नहीं कर पाये हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। इसके लिये वास्तव में साधक-भाव की आवश्यकता है। जिन्होंने, देश-विदेश में दूर रहते हुए भी, श्रीअरविन्द को साधक-भाव में प्राप्त करने के लिये यत्न किया है उनका अनुभव हमारे लेखक के लिये जरूर आनंददायक होगा। परंतु इसकी खोज करना तथा जानना हम उन्हीं पर छोड़ देते हैं। वैसे श्रीअरविन्द का मानव के दुःखों का नितांत निराकरण चाहना और जातीय चेतना के रूपांतर के लिये जीवन भर यौगिक रूप में यत्नशील रहना क्या करुणारहित कर्म है? —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धाञ्जलिः

एकान्तमौनतपसा हृतसर्वपापं
शान्तेन शुद्धमनसा हृतलोकतापम्।
हस्ते गृहीतनिगमागमसारचापं
पादारविन्दमरविन्दमुनेर्नमामि ॥
आराध्य शक्तिमयमद्भुतदेवमेकं
ज्योतिर्मयं सकललोकविधायकं तम्।
प्राप्तास्ति येन विमला किल दिव्यशक्तिः
पादारविन्दमरविन्दमुनेर्नमामि ॥
विज्ञानलोकमतिमानसमाप्य दिव्यं
यो देवराज्यमिह कर्तुमना मनीषी।
आनन्दशान्तिमहसां स्पृहणीयपुञ्जं
पादारविन्दमरविन्दमुनेर्नमामि ॥
शान्तिं ध्रुवामविरतं खलु लब्धुकामः
आनन्दमेव विमलं च सदाप्तुकामः।
भानोरवाप्य किरणान् प्रमुदा स्फुटन्तं
पादारविन्दमरविन्दमुनेर्नमामि ॥
ज्योतिर्दधातु विततं मयि सोऽनुरक्ते
भक्ते ददातु च निजाशिष एव पुण्याः।
एतामहर्निशमहं विनतिं दधानः
पादारविन्दमरविन्दमुनेर्नमामि ॥

—विनयावनतो धर्मदेवः

पंछी उड़ता रहा अकेला

सुभग सनेही मिले अनेकों
जीवन में मधु रस भरने को
पर अंबर से उतर पड़ी क्यों
वही विदा की बेला

प्राणों में मधु आश संजोए
पंखों में गति, नयन भिगोए
किसी अपरिचित के पूजन को
चुप उड़ चला अकेला

जीवन संगी कौन तुम्हारा
मधु ऋतु के उत्सव सा प्यारा
जिसे प्राप्त करने को तोड़ी
जीवन नद की बेला

—सुरेश्वर कृष्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्रोतस्वी

नभ में घिरते बादल-दल की
परदे-की झिलमिल में-से, ज्यों,
ज्योति-झलक हम पा जाते हैं,–
उसी भांति हम बोधिसत्त्व[1]-मय
क्षणिक, चपल-से बोध-तत्त्व का
क्षण क्षण अभिदर्शन पाते हैं!

किंतु हृदय को शांति तभी-ही
मिलती है, जब पूर्ण सत्य ही
नभ को, मन को व्यापृत कर दे . . .
अंतस, बाह्य एक रस कर दे,
–पूरित, पूर्ण . . .'थल[2] 'जल'[3]-मय करदे!!

* *

साधक आंख मूंद लेता है,
अंदर-ही वह रस लेता है:
ज्योति-राग को–अति-इंद्रिय वह
आंतर श्रुति-दर्शन की 'आवह'
ज्ञान, बल, क्रिया की स्वाभाविक
गति से–संकुल भर लेता है।

दर्शक, भक्त–भक्ति-नत, उन्मुख,
"नयन-निमेषी[4]" को प्रति–उत्सुक–
देख-देख ही हैं रस पाते . . .
निर्भर, निज मन को बहलाते,
स्वप्न (विकासी) को सहलाते–

'देखें–कब वह मुंदी आंख, अब,
खुलकर 'जल'-प्लावन ला देगी,
कोण-कोण, हां भर-भर देगी!
तम-तम ज्योतिर्मय कर देगी,
आकुलता व्यूहित कर देगी;
स्वरस-रास का रंग रच देगी!!'

* *

किंतु, हृदय के उस आकाश,
–जहां सहस[5] रवि करें प्रकाश!–
(बेसुध जग, जन-गण के मन से,)
योगी 'सोता'–सा जगता है
अतिनिद्रा-'मय[6]', 'विकच कमल'-मय . . .
सब की इंद्रिय[7] मुद्रित करता–
गंध-दृष्टि से मुक्त, प्रसुप्त . . .
स्रोतस्वी[8] मन, स्वयं गुप्त!!!

* *

जन-गण मन तो मुग्ध भ्रमर-से
निर्गंध कमलों पर मंडराते,
मूढ़ पतंगों–से इतराते–
'श्रीअरविन्द'-राग-रस राते,
जाकर वहां, वहीं रम जाते
'मेरा' स्रोत बनाते 'आश्रम'॥

–प्रेमलता

---

[1]बोधिसत्त्व–बोध अर्थात् तथागत-अवस्था की पूर्व स्थिति।
[2]मरुथल (हृदय)। [3]रस। [4]अंतर-रसी, मुदित-नयन, मस्ताना। [5]सहस्र। [6]सम। [7]बहुवचन।
[8]प्रेरणा-स्रोत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनीषा कुक्कुट

आज स्वप्न की सुषमा ले मैं बैठा भूतल,
स्वर्ण व्योम के रजत फूल गिरते मम अंचल,
स्वर्गंगा की लहर छू रहीं मम मानस तट,
—को निगूढ़ बल फैल रहें मेरे जीवनपट।

कौन विभा निज गोद मुझे ले लेती विस्मित,
शोभा-स्पर्श प्रगाढ़ मुझे कर रहा विकंपित,
मैं गिरिओं के शृंग पदों से करता विगलित,
झेल रहा हूं बोझ अमित भावी का अचलित।

स्तब्ध स्तब्ध इस पल जीवन की सरिता निश्चल,
सप्त सप्त पाताल खौल अब रहे अनर्गल,
दो कर में यह धरा अखिल मैं लूंगा उन्नत,
मिट जायेंगे मानवता के क्षत सहस्र शत।

मैं समेटता इस जगती का तामस दुर्घट,
जगाऊंगा जनमन बन दिव्य मनीषा कुक्कुट।

—'सुन्दरम्'

एक गीत

दूर देश से आयी वैरागिन
पी की करे तलाश।
हरि दर्शन का चाव है दिल में,
गुरू मिलन की आस।
ज्ञान, ध्यान न जानूं स्वामी,
रूप रंग न पास।
कौन यत्न से पिया रिझाऊं,
मन में भई निरास।
औगुन मेरे देखो न स्वामी,
परखो प्रेम प्यास
भली बुरी सो तेरी हूं
राखो चरनन पास।
धन दौलत संग सखा न चाहूं
सुख की करूं न आस।
तुमसे माधो तुमको पाऊं
निसिदिन यही अरदास।

३—४—५०. —जनककुमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन खींच रहा ये तार?

वीणा पड़ी हुई बेकार
मैंने जिसे समझ निःसार
कोने में रख दिया विसार
उससे ही अब सुन पड़ती है
सरस मधुर नूतन झंकार।

जितना इनको करता ढीला
उतना खींचे सखा रसीला
दीख पड़ी है उसकी लीला
थिरक रहे अजब विद्युत गति से
तारों में उठती टंकार।

हृद् वीणा के इन तारों में
मन के इन भव्य विचारों में
नस-नस में बहती धारों में
कौन ला रहा 'प्रास' महान?
उस दिव्य जगत की गुंजार।

ऊपर का आकर्षण गुरुतर–
करके, क्या छिप गये, वरुण वर
आओ सत्वर हे विश्वम्भर
जिससे कर न सकें विचलित
प्रबल विरोधों की हुंकार।

मौन परम स्मृति आती तेरी
स्वर्गिक नाद बजाती भेरी
अब उस चेतना से मेरी
मन्द मनोहारिणी गति में
बह निकले अनुपम रसधार।

–विद्याव्रत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार और अभीप्सा

श्रीअरविंद का महाप्रयाण

साधक के लिये गुरुदेव उसके सर्वस्व होते हैं, भगवान् के साक्षात् प्रतिनिधि तथा स्थानापन्न होते हैं। उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा और सहायता-कृपा से वह अपने बंधनों से मुक्त होता है तथा आत्मलाभ करता है। उनसे वह ऐसा प्रेम अनुभव करता है जो वह संसार भर में किसी अन्य से नहीं करता। स्वभावतः साधक के लिये साधकावस्था में गुरु का विछोड़ा दूभर हो जायगा।

श्रीअरविन्द के शरीर छोड़ देने का प्रथम समाचार साधकवर्ग तथा सामान्य जनता के लिये समान रूप में भारी धक्का था। यह बात किसी की कल्पना में भी न थी, अतः इसे सुनकर प्रथम तो विश्वास ही नहीं हुआ। जब तक भावों का क्षोभ जरा शांत नहीं हो गया तब तक इसे तथ्य रूप में स्वीकार करने में भी समर्थ नहीं हो पाये। जब लाचार होकर तथ्य मानना पड़ा तब हृदय और बुद्धि व्यग्रतापूर्वक पूछने लगे कि आखिर यह हुआ क्यों और कैसे?

जनता ने सामान्य रूप में देश और जाति के एक महान् नेता तथा ऋषि और योगी के देहावसान पर दुःख अनुभव किया तथा उनके जीवन तथा कार्य का स्मरण करके अपना और देश का गौरव माना। और प्रत्यक्ष ही श्रीअरविन्द की देन अत्यंत महान् है। उनका जीवन संसार के इतिहास में महान् आदर्श, सेवा, त्याग, तपस्या, विद्वत्ता तथा आध्यात्मिक सिद्धि और प्रभाव के कारण विशेष उच्च स्थान रखता है। उनके ग्रंथ भी सामान्य बौद्धिक रचना नहीं हैं। वे सब आध्यात्मिक अनुभव की उपज हैं और उन्होंने अपूर्व रूप में भारतीय संस्कृति को हमारे लिये पुनरुज्जीवित कर दिया है। आज के समय में उनके व्यक्तित्व तथा ग्रंथों से देश तथा संसार में जो आध्यात्मिक जिज्ञासा प्रसारित हुई है वह भारत तथा संसार के लिये विशेष महत्त्व की वस्तु है। जनता ने श्रीअरविन्द के इस सब विस्तृत कार्य तथा प्रभाव का चिंतन कर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और दिवंगत आत्मा के लिये मंगलकामना की है।

परंतु साधकवर्ग तथा वे जो श्रीअरविन्द के विशेष आध्यात्मिक ध्येय तथा कार्य से परिचित हैं श्रीअरविन्द के देहावसान में एक विकट समस्या अनुभव करते हैं। वे महसूस करते हैं कि श्रीअरविन्द अपनी मुक्तिमात्र के लिये साधना नहीं कर रहे थे। अपने साधकों की मुक्ति भी उनका लक्ष्य नहीं था। उन्होंने तो स्पष्ट रूप में अनुभव किया था कि मन से उच्चतर एक अतिमानस तत्त्व है जो पृथ्वी-स्तर पर अनिवार्य रूप में प्रकट होना है। वे बतलाते हैं कि जड़, प्राण और मन के विकास-क्रम की स्वाभाविक परिपूर्त्ति अतिमानस में होगी। मन अत्यंत अपूर्ण वस्तु है। यह मानव की सामान्य चेतना का अंतिम रूप नहीं हो सकता। पशु की चेतना से वर्तमान मानव-चेतना विशालतर है। परंतु यह भी वस्तुओं के बाह्य रूपों को ही ग्रहण करने में समर्थ होती है। सत्य को साक्षात् रूप में अनुभव करनेवाली पूर्णतर चेतना मानव का स्वाभाविक ध्येय और लक्ष्य है और यह पृथ्वी-स्तर पर मानव चेतना में एक दिन चरितार्थ होनी चाहिये। श्रीअरविन्द यह भी बतलाते थे कि यह चेतना योग की प्रगाढ़ एकाग्रता द्वारा शीघ्रतर भी सिद्ध की जा सकती है। यही वास्तव में उनका ध्येय था। इस ध्येय को वे अपने जीवन-काल में ही पूर्ण करने की आशा रखते थे। इस संबंध में उन्होंने दो एक अपने पत्रों में काफी स्पष्ट रूप में कहा है कि यह कार्य अभी पूरा होना है।

इस प्रकार के कुछ एक प्रकरणों के आधार पर श्रीअरविंद के आध्यात्मिक अनुयायियों ने यह आशा बना ली थी कि जब तक उनका काम पूरा नहीं होता तब तक श्रीअरविन्द निश्चित रूप से उनके बीच उपस्थित रहेंगे। इसके अतिरिक्त अतिमानस की शक्ति से वैसे भी व्यक्ति को "यथा-इच्छा [illegible]" प्राप्त हो सकता है। अतः इन अनुयायियों ने श्रीअरविन्द के देहा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसान पर विशेष धक्का अनुभव किया। वे गंभीर रूप में सोचने लगे, यह क्यों हुआ और कैसे हुआ?

श्रीअरविन्द ने अतिमानस, इसके अवतरण, तथा अवतरण के मार्ग की कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओं की निष्पक्षभाव में वैज्ञानिक शैली से व्याख्या की है। अतिमानस की सत्ता तथा इसके अवतरण की अवश्यंभाविता के बारे में उन्होंने पूर्ण निश्चय से लिखा है। परंतु अवतरण के लिये कभी तारीख नहीं बांधी थी क्योंकि उसके लिये अनेक अवस्थाओं की अनुकूलता चाहिये।

अतिमानस के संबंध में वे कहते हैं कि "मैं इसे (अतिमानस को) ऊपर से अपनी चेतना पर प्रकाशित होते लगातार अनुभव करता हूं और मैं यही यत्न कर रहा हूं कि उपयुक्त अवस्थाएं पैदा की जायं जिससे यह पूर्ण व्यक्तित्व को अपनी स्वाभाविक शक्ति के प्रभाव में ले ले" (Letters of Sri Aurobindo, Part II, p. 73)। यही उनका परम करणीय कर्म बन गया था। अतिमानस को मानव के मन, प्राण और शरीर में अवतरित करना और इस अवतरण द्वारा उसे रूपांतरित करना ही उनके आध्यात्मिक कार्य का लक्ष्य था। आरोहण द्वारा भगवान् तथा आत्मा की प्राप्ति खूब ऊंचे आध्यात्मिक लक्ष्य हैं, परंतु उनका कहना था कि इससे मानव को अपने संपूर्ण जीवन में भगवान् का स्पर्श प्राप्त नहीं होता। जब तक व्यक्तित्व के सभी अंगों का दिव्यीकरण न किया जाय, निम्न प्रकृति उच्च प्रकृति में परिवर्तित न हो जाय तब तक मानव का भगवान् के साथ पूर्ण मिलन, जैसा समाधि तथा चिंतन में वैसा ही कर्म तथा व्यवहार में, सिद्ध नहीं होता। यह सिद्धि तभी हो सकती है जब कि अतिमानस तत्त्व की शक्ति को हम अपने शरीर के भौतिक तत्त्व तक में उतार लायं और फिर उसी से अपने विचार-विचार में तथा क्रिया-क्रिया में अनुप्राणित हों।

इस अवतरण की प्रक्रिया के बारे में श्रीअरविन्द ने खूब विस्तार से लिखा है। एक जगह वे बतलाते हैं कि "यह अवतरण अपने आप में कुछ उच्छृंखल तथा मोजजे की चीज नहीं। यह एक गतिशील, कुछ एक वर्षों में सीमित, विकास-प्रक्रिया है जो वर्तमान प्रकृति को अपने प्रकाश में ग्रहण करके इसके निम्न स्तरों में अपने सत्य को उंडेल देती है। यह कार्य सारे जगत् पर एकदम नहीं किया जा सकता, बल्कि अन्य ऐसे क्रमों की तरह यह पहले कुछ चुने हुए आधारों में करना होता है और फिर उसे विस्तृत किया जाता है। हमें (श्रीअरविन्द और माताजी को) पहले यह अपने ऊपर करना है और फिर पार्थिव चेतना के प्रतिनिधिरूप उन साधकों पर जो हमारे पास एकत्र हैं।" (Ibid, p. 83)

श्रीअरविन्द इस कार्य की कठिनाइयों तथा अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं को बार बार जतला देते रहे हैं। शरीर के भौतिक भाग में प्रकाश पहुंचाना वे हमेशा विशेष कठिन बतलाते थे। एक जगह उन्होंने कहा है कि "अचेतन में प्रकाश पहुंचाना महा कठिन काम है।" परंतु यह काम किये बिना प्रकृति का रूपांतर संभव नहीं। वास्तव में मन और प्राण के क्षेत्र के पार होकर उनकी साधना अर्से से जड़ भौतिक तत्त्व से संघर्ष ले रही थी। यह एक अत्यंत मार्मिक स्थिति थी और इसे अधिकृत करने में ही श्रीअरविन्द ने अपने जीवन की बलि दी है।

श्रीअरविन्द के जीवन की मार्मिक गति उनका अध्यात्मवाद अथवा गुह्य-वाद था। वे घटनाओं के-स्थूल घटनाओं अथवा उनके तथाकथित स्थूल कारणों के धोखे में नहीं आते थे। वे जानते थे कि जगत् की सब घटनाओं के कारण सूक्ष्म चेतन जगत् की गतियां-प्रगतियां होते हैं। वे फिर सीधे उन्हीं पर क्रिया किया करते थे। अपने जीवनकाल में उनका प्रधान कार्य, विशेषकर जब से उन्होंने अपना आध्यात्मिक कार्य शुरू किया, ऐसा गुप्त और गुह्य ही रहा है। वास्तव में जैसे उनके जीवन का मर्म गुप्त और गुह्य था वैसे ही उनके महाप्रयाण का मर्म भी गुप्त और गुह्य है। बीमारी तो स्वयं गुह्य आध्यात्मिक संघर्ष का एक परिणाम है, वह उनके महाप्रयाण का कारण नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका महाप्रयाण अवश्य ही अचेतन में अतिमानसिक प्रकाश के अवतरणसंबंधी एक अनिवार्य घटना थी, वह मानव-रूपांतर के महान् आदर्श के लिये बलि थी तथा अतिमानस के दिव्य तत्त्व के लिये बलिदान था। इसके अतिरिक्त उनके महाप्रयाण का दूसरा अर्थ हो नहीं सकता। उनका सारा जीवन ही गंभीर आध्यात्मिक यज्ञ तथा आत्मनिवेदन था, महा-प्रयाण का महा कर्म केवल परम आत्मनिवेदन ही हो सकता है।

परंतु क्या इस आत्म-निवेदन से अतिमानस के अवतरण का कार्य रुक जायगा या धीमा पड़ जायगा? यदि मृत्यु सामान्यतया भी जीवन का अंत नहीं होती बल्कि नए और अधिक विकसित जीवन का साधन होती है, तो श्रीअरविन्द जैसे आत्मवेत्ता के लिये तो यह किसी तरह भी बाधा या रुकावट नहीं बन सकती। बल्कि शरीर पर अतिमानस के एक प्रयोग से जो अनुभव प्राप्त हुआ वह भावी कार्य के लिये जरूर ही सहायक होगा। और क्या पता यह अनुभव भावी कार्य के लिये शायद अनिवार्य हो गया था!

यह हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यदि श्रीअरविन्द अब भी वही श्रीअरविन्द हैं जो वे जीवन भर रहे हैं और यह आत्मा के अमरत्व से होना अनिवार्य है तो वे अपने ध्येय की चरितार्थता के लिये अब भी जरूर यत्नशील हैं। और उनके यत्न के लिये उपयुक्त क्षेत्र भी उनका अपना आश्रम ही हो सकता है जहां उन्होंने इतने लंबे अर्से तक आधारों पर परिश्रम किया है। ऐसा होना इस कारण और भी जरूरी है क्योंकि श्री माताजी, जिन्होंने जीवन भर उनके साथ उसी ध्येय के लिये काम किया है, उसका अब भी पथ-प्रदर्शन कर रही हैं तथा श्रीअरविन्द के अतिरिक्त वे दूसरा आधार हैं जिसमें अतिमानस का अवतरण प्रथम रूप में संभव माना गया था। अवश्य ही श्रीअरविन्द आत्मा-रूप में अपने आश्रम में अब भी विराजमान हैं। माताजी ने स्पष्ट ही कहा है "श्रीअरविन्द (अब भी) यहां हमारे साथ हैं—सचेतन और सजीव।"

अब यह हमपर निर्भर करता है कि हम उनके साथ सजग आत्मिक संबंध जोड़ें, उनसे पथ-प्रदर्शन प्राप्त करें और उस पथ-प्रदर्शन का दृढ़ता और सच्चाई के साथ अनुसरण करें जब तक कि वह महान् दिव्य तत्त्व, वह अतिमानस, मानव-चेतना में प्रतिष्ठित न हो जाय।

भक्तियोग

अभीप्सा, विवर्जन और आत्मोद्घाटन, निश्चय ही, श्रीअरविन्दयोग की प्रधान क्रियाएं हैं। व्यक्ति उच्चतर जीवन के लिये, परा प्रकृति के दैवी ऐश्वर्य के लिये, अभीप्सा करता है तथा सामान्य जीवन की अहंकारमयी गतियों का, अपरा प्रकृति की क्षुद्र प्रवृत्तियों का विवर्जन करता है और अपने आपको भागवत शक्ति के प्रति खोलता है, उसका आवाहन करता है कि वह उसके अंदर प्रत्यक्ष रूप में क्रियावान् होकर उसे रूपांतरित कर दे, निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति में बदल दे। ये तीनों आंतरिक मनोवैज्ञानिक क्रियाएं हैं और इन्हें सच्चे दिल से निरंतर व्यवहार में लाने से ही मनुष्य श्रीअरविन्द-योग का जादू अनुभव करने लगता है।

परंतु उपर्युक्त दृष्टिकोण के साथ एक और दृष्टिकोण का समावेश आवश्यक है। मानव के सामान्य अनुभव के तीन अंग हैं, ज्ञान-लिप्सा, सुख-दुःख-भाव और इच्छा-शक्ति। हम कोई वस्तु देखते हैं, यह है ज्ञान, हम उसे प्रिय अथवा अप्रिय अनुभव करते हैं, यह है सुख-दुःख-भाव, फलस्वरूप हम उस वस्तु की प्राप्ति अथवा त्याग का प्रयत्न करते हैं, यह है इच्छा-शक्ति। वास्तव में अनुभवमात्र के ये तीन पक्ष हैं और अनिवार्य रूप से सदा इकट्ठे ही रहते हैं। चित्त की विभिन्न अवस्थाओं में ये प्रधान-गौण तो हो सकते हैं परंतु किसी भी अवस्था में इनमेंसे किसी का नितांत अभाव संभव नहीं। पशु-जीवन में भी अनुभव के ये तीनों पक्ष देखने में आते हैं और फिर सच्चिदानंद में भी 'सत्' ज्ञान-तत्त्व, 'चित्' इच्छा-शक्ति, और 'आनंद' भाव-पक्ष उपस्थित हैं।

यह मानव प्रकृति का एक मौलिक तथ्य है जिसे हम भूल नहीं सकते। श्रीअरविन्द के सर्वा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीण योग का भी यह विशेष आग्रह है कि मानव प्रकृति को रूपांतरित करने में तीनों ही पक्ष बदलने होंगे और इन्हें बदलने के लिये तीनों ही का प्रयोग करना उचित होगा। अर्थात् ज्ञान-लिप्सा से हम भगवान् का अस्तित्व और स्वभाव जानें, अपने भाव-पक्ष से उससे प्रेम करें और इच्छा-शक्ति से उसकी प्रेरणा के अनुसार व्यवहार करें। जब अनुभव के तीनों अंग भगवान्-अभिमुख हो जाते हैं तब विकास और रूपांतर में विशेष बल आ जाता है। यह वास्तव में, योग का अहं-कार के प्रति समग्र युद्ध (total war) है और, निश्चय ही, विजय चाहनेवालों के लिये अध-कचरे युद्ध अथवा निरी छेड़खानी की अपेक्षा यह अच्छा है। इसमें व्यक्ति अपने पूरे बल से लड़ता है और वह शत्रु पर भी पूर्ण विजय चाहता है। वह शत्रु से अंत में धोखा देनेवाले समझौते नहीं करता। श्रीअरविन्द के पूर्णयोग की यही व्यापक तथा ओजस्वी भावना है।

अनुभव के इन्हीं तीन पक्षों के आधार पर ही योग के तीन प्रकार ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग भारत की अध्यात्मविद्या में परंपरा से प्रसिद्ध हैं। श्रीअरविन्द का 'योग-समन्वय' इन तीनों तथा अध्यात्मविद्या की अन्य अनेक प्रवृत्तियों का एक निजी अतिमानसिक अनुभव के दृष्टिकोण से अपूर्व समन्वय उपस्थित करता है। इसके अध्ययन से आध्यात्मिक जीवन का जिज्ञासु अत्यंत आनंद-दायक स्पष्टीकरण प्राप्त करता है। वह विभिन्न शैलियों के विरोधों में यथार्थ संबंध देखने लगता है और किसी हद तक अपने सामान्य अनुभव से भी उन्हें संगत और युक्तियुक्त अनुभव करने लगता है।

'योग-समन्वय' के निरूपण में पहले पहल श्रीअरविन्द 'कर्मयोग' की व्याख्या करते हैं। कारण, व्यक्ति सामान्यतया कर्म-प्रवृत्त होता है। कर्म ही उसकी विशेष प्रवृत्ति होती है, उसी से ही उच्च-तर जीवन के लिये कदम उठाना उसके लिये अधिक स्वाभाविक होता है। वह कर्मों को दूसरों के लिये, समष्टि के लिये तथा भगवान् के लिये करना सीखता है तथा सामान्य स्वार्थरत मानव-पशुशैली का त्याग करता है। परंतु यह निःस्वार्थता कर्मों में प्रतिष्ठित होती तभी है जब उसे यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है कि उसका 'अहं' एक कृत्रिम तत्त्व है, जो अपने आपको पूर्ण मानता है और जगत् के साथ व्यर्थ का संघर्ष चलाता रहता है, तथा जब वह यह जान लेता है कि वस्तु-तः वह विश्व-सत्ता का एक अभिन्न अंग है और एक ही व्यापक विश्व-सत्ता उस द्वारा तथा अन्यों द्वारा अपूर्व एकता-विविधता की मर्यादा से काम कर रही है। इस प्रकार 'कर्मयोग' की व्याख्या स्वभावतः 'ज्ञानयोग' में परिणत हो जाती है। परंतु क्या यह अनिवार्य नहीं कि ऐसा कर्म, जो कि सत्य पर स्थित है, आनंददायक भी हो? अवश्य ही, इस विकास की परिसमाप्ति आनंद में होगी, प्रेम तथा भक्ति में होगी। जो विश्व-सत्ता व्यापक रूप में हम सबको तथा संसार को अनंत विविधता में संचालित करती है, हमारा और संसार का आधार है, हमारी पालक-पोषक और संहारक है, वह कोई शुष्क निरपेक्ष सत्ता नहीं हो सकती है। प्रेम जरूर उसके अस्तित्व का सार होगा। अतः वह हमारी भक्ति का विषय है। जब तक भगवान् के साथ ऐसा प्रेम और भक्ति का संबंध स्थापित नहीं हो जाता तब तक, वास्तव में, हमारी योगसाधना में रस पैदा नहीं होता और न ही उसमें वास्तविक स्थायित्व आता है।

प्रत्यक्ष ही, श्रीअरविन्द-योग में भक्ति, प्रेम और आनंद-भाव का विशेष मार्मिक स्थान है। ये साधना की परिसमाप्ति-सूचक तो हैं ही। परंतु सर्वांगीण योग का आग्रह है कि प्रारंभ से ही साधक कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को जाग्रत तथा संचालित करने का यत्न करे। अपने अनु-भव की किसी भी शक्ति को अनुपयोगी न माने। भाव और भक्ति के महत्त्व के संबंध में श्री-अरविन्द अपने एक पत्र में कहते हैं "भाव जितना गहरा होता है भक्ति उतनी ही तीव्र होती है और उतनी ही उपलब्धि और रूपांतर के लिये शक्ति अधिक होती है। चैत्य पुरुष प्रायः भाव की तीव्रता से जाग्रत् होता है और उसी से फिर भगवान् के प्रति अंदर के किवाड़ खुलते हैं।"[1] एक

[1] Letters, II, पृष्ठ २०३, २०४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वाक्य बड़ा सुन्दर है। श्रीअरविन्द कहते हैं: "अगर किसी में भक्ति है और वह हृदय की नीरवता में अभीप्सा करता है तथा अगर उसके अंदर भगवान् के लिये सच्चा प्रेम है, तो प्रकृति अपने आप उद्घाटित हो जायगी और उसे वास्तविक अनुभव प्राप्त होगा, उसमें माता की शक्ति कार्य करने लगेगी और आवश्यक ज्ञान अपने आप आ जायगा।"[२]

परंतु ये प्रेम और भक्ति साधारण मानवीय राग से भिन्न तत्त्व हैं। राग की बाह्य रूप के साथ लिप्तता होती है। उसमें अपनी मांग और तुष्टि पर आग्रह होता है, उनकी अपूर्ति की आशंका से भय और चिंता भी, इस संबंध में जो त्याग दिखाई देता है वह साधारणतया स्वार्थमूलक होता है तथा सामाजिक मान-मर्यादा के भाव से प्रेरित होता है। वैसे मानवीय प्राणिक संबंधों में त्याग संभव है, निःस्वार्थता हो सकती है और वास्तव में उसी अंश में तब मानवीय संबंध में प्रेम की झलक आ जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य मानवीय संबंध सारा रागात्मक तथा सामाजिक है।

इसके विपरीत प्रेम गंभीर अंतरात्मा की प्रधान गति है। समर्पण तथा तादात्म्य इसकी मूल प्रेरणा है। प्रेम रोष नहीं करता, मांगें नहीं लादता, यह तो प्रेम-पात्र में अपने आपको खो देने में ही कृतकार्य मानता है। इसमें अपूर्व गांभीर्य होता है। प्रेम-पात्र के आंतरिक अस्तित्व से ही इसका विशेष संपर्क होता है। इसमें व्याकुलता हो सकती है, परंतु वह 'अहंकार' की रागात्मक प्रवृत्ति की चिंता से बहुत भिन्न होती है। वास्तव में प्रेम का संबंध मूलतः आत्मा का परमात्मा से है। परमात्मा के माध्यम से तथा अन्यथा जब यही रसपूर्ण संबंध अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं से बनता है तो वह भी गौण रूप से प्रेम ही कहलाता है।

प्रेम और राग का भेद अत्यंत सूक्ष्म है परंतु बेहद महत्त्वपूर्ण भी। क्योंकि जब तक प्रकृति में रागात्मक आवेश रहता है तब तक मधुर शीतल प्रेम को स्थान नहीं मिलता। प्रेम का आनंद लूटने के लिये आधार को शुद्ध, पवित्र और विशाल करना अनिवार्य होता है।

'भक्तियोग' इसी प्रेम की साधना है और हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि इस अंक से हम श्रीअरविन्द के भक्तियोग को धारावाहिक रूप में दे सकेंगे। श्रीअरविन्द के सम्पूर्ण 'योगसमन्वय' में से इस खण्ड का रस अत्यंत विशेष है और हमें विश्वास है कि साधक-पाठकों को इससे अपार आनंद प्राप्त होगा।

पादरी हिल आदि

धर्म मूल में भगवान् तथा आत्मा की जिज्ञासा का नाम है। अवश्य ही, इस जिज्ञासा की अनेक अवस्थाएं होती हैं तथा अनेक रूप होते हैं। ये अवस्थाएं और रूप व्यक्ति तथा समाज के विकास-स्तर और सांस्कृतिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। हम भगवान् को राजा के रूप में तथा पिता, माता और सखा के रूप में चरितार्थ करना चाहते हैं। अथवा आत्मा को प्रतिबिंब के रूप में या सूक्ष्म प्राण के रूप में या प्रकाशमान चेतन सत्ता के रूप में चरितार्थ करने की प्रेरणा अनुभव करते हैं। हिंदू धर्म अपने समग्र रूप में इन सभी प्रेरणाओं को अधिकार-भेद से सार्थक मानता है, परंतु वैसे भिन्न भिन्न धर्मों में मौलिक प्रेरणा का प्रायः हम एक ही विशेष रूप पाते हैं।

यह प्रेरणा धर्म का आध्यात्मिक अंश होती है। परंतु यह हमारे व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवन में, परिस्थिति, इतिहास और संस्कृति के भेद से, कर्मकांड की अलग अलग मर्यादा में अभिव्यक्त होती है, जो प्रायः प्राणमय-मनोमय बहिर्मुखी मानव के लिये धार्मिक जीवन का सर्वस्व बन जाती है। विशेषकर जब आध्यात्मिक प्रेरणा का अंश किसी धर्म में जीवंत रूप में नहीं रहता तब तो कर्मकांड ही सब कुछ हो जाता है और तभी धर्मों के विभेद विशेष दिखाई देने लगते हैं। धर्मों के आंतरिक तत्त्वों में समता है, परस्पर-पूरकता है, बाह्य कर्म-काण्ड में मुख्यतया भेद होता है। धर्म बड़ी आसानी से रूढ़ बनकर भी बाह्य कर्मकाण्ड की भेद-पूर्ण दशा को पहुंच जाते हैं।

[२] वही, पृष्ठ २९५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान समय में धर्म प्रायः रूढ़ि-भाव को ही पहुंचे हुए हैं। इसलिये श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक पुकार का प्रत्युत्तर हम विशेष रूप से उन लोगों में पाते हैं जिन्होंने कोई धर्म या मत कट्टर भाव में अंगीकार नहीं किया हुआ, जो अपनी भावना और जिज्ञासा में काफी स्वतंत्र होते हैं। धर्मावलंबियों में प्रायः एक नए महापुरुष के प्रति आशंका पैदा हो जाती है, मानों ये उनके पूर्व-स्वीकृत गुरु तथा धर्म-पुस्तक के साथ संघर्ष में आ जायंगे। वास्तव में, यह अनिवार्य नहीं। यदि हमारा सामान्य भाव सजीव विकसनशील हो तो हम भूत को सुरक्षित रखने के लिये वर्तमान तथा भविष्य से भय नहीं खायंगे। वास्तव में वर्तमान और भविष्य का लक्ष्य ही भूत की चरितार्थता को उत्तरोत्तर विकसित तथा परिवर्द्धित करना है।

श्रीअरविन्द का आध्यात्मिक संदेश तो वैसे भी किसी धर्म के साथ संघर्ष नहीं करता। वह हर धर्म के आध्यात्मिक अंश को संपुष्ट करता है तथा उसे परिवर्द्धित करने के लिये प्रेरणा देता है। कर्म-काण्डमात्र को वह एक व्यापक सार्थकता देता है। जो व्यवहार की मर्य्यादा किसी व्यक्ति को जब तक उसके आंतरिक भाव में सहायता देती है तब तक वह उसके लिये योग्य है। पादरी ई० एफ० एफ० हिल ने श्रीअरविन्द की शिक्षा ठीक ही ग्रहण की है। इसमें उन्होंने अपनी दो हजार साल पहले की ईसामसीह की शिक्षा की ही प्रतिमूर्ति तथा परिपूर्ति अनुभव की है। आप कहते हैं "मानव के आध्यात्मिक इतिहास में यह एक महान् परिवर्तन का समय है और श्रीअरविन्द मानव जीवन की उस क्रांति के सव्यक्तिक रूप हैं जो इस घड़ी नए ज्ञान, नई शक्तियों तथा नई क्षमताओं द्वारा रची जा रही है।" यह उद्धरण उनके एक लेख का है जो कि वर्ल्ड रिव्यू, अक्तूबर १९४९ (World Review, Oct., 1949) में प्रकाशित हुआ और जो हम इस अंक में पूरा का पूरा दे रहे हैं। उसी लेख में आप आगे श्रीअरविन्द के कार्य का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि आज हमें प्रश्न यह उठाने की जरूरत है कि "श्रीअरविन्द के जीवित होने से संसार में क्या घटित हो रहा है।" आप कहते हैं कि यह प्रश्न कइयों को विचित्र मालूम देगा। परंतु हमारे लेखक उत्तर देते हैं कि ठीक यही प्रश्न उनका सर्वांगीण योग उपस्थित करता है। उनका साहित्य नहीं, उनकी क्रियात्मक योग-साधना। प्रत्यक्ष ही लेखक का दृष्टिकोण अत्यंत गंभीर है तथा विशद भी। जिस जातीय आध्यात्मिक रूपांतर के लिये श्रीअरविन्द यत्नशील हैं उसके लिये उनमें भावना है और इसमें उनके ईसाई विश्वास तथा परंपरा बाधा नहीं डाल रहे।

इसी शैली का एक और लेख हाल ही में एक प्रतिष्ठित ईसाई-पत्रिका "दि माडर्न चर्चमैन" (The Modern Churchman) में देखने में आया। लेखक हैं सर रावर्ट ब्रिस्टो। उसकी उदारता और सत्य-जिज्ञासा भी सराहनीय है। लेखक ने खुले भाव में स्वीकार किया है कि श्रीअरविन्द ने आज के युग में ईसामसीह की शिक्षा बुद्धिसंगत रूप में सजीव करके हमारे सामने रख दी है। तथा आप उल्लासपूर्वक कहते हैं कि श्रीअरविन्द की यह आध्यात्मिक शिक्षा पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय स्थापित करने का अत्यंत उपयुक्त साधन सिद्ध होगी। इस लेख का भी एकांश हम इस अंक में दे रहे हैं।

जगत् के एक प्रभावशाली धार्मिक क्षेत्र में से ये ध्वनियां सुन निश्चय ही हमें हर्ष होता है। प्रत्यक्ष ही, इससे उस क्षेत्र में श्रीअरविन्द की प्रेरणा अधिक सुभीते से पहुंच पायगी और सामान्य जन लाभ उठा सकेंगे।

अदिति का नया वर्ष

आगामी अंक से 'अदिति' अपने नवें वर्ष में प्रवेश करेगी और इसकी हम उत्साह से प्रतीक्षा करते हैं। आज श्रीअरविन्द का संदेश सुनानेवाली अनेक भाषाओं की अनेक पत्रिकाएं कार्य कर रही हैं और आगामीवर्षों में सामान्य पत्र-पत्रिकाएं भी इस यज्ञ में अपनी अपनी आहुतियां डालेंगी। उसी यज्ञ का विचार करके हम आनंदित हो रहे हैं और उसमें हम अपनी आहुति डालने के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्सुक हैं। इसमें, प्रत्यक्ष ही, सारे अदिति-कुल के सहयोग की ही आवश्यकता होगी। देश के जिस जिस कोने में अदिति पहुंचती है तथा जिस जिस पाठक को इससे जीवन-निर्माण में कुछ प्रेरणा मिली है उसे श्रीअरविन्द-संदेश उचित रूप में अन्यों तक पहुंचाने का यत्न करना होगा। हमारा अगला वर्ष विशेष रूप से इस सेवा-कार्य के निमित्त रहेगा और हम आशा करते हैं कि इस समय में श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक दृष्टि हमारे सामान्य जीवन में व्यापक रूप में प्रवेश पा सकेगी और हम इसका लाभ और आनंद किसी हद तक प्रत्यक्ष रूप में अनुभव कर सकेंगे।

आज के जड़वादी युग में आध्यात्मिकता की आवाज उठाना अनेकों को दुःसाहस का काम दिखाई देता है। परंतु विषय की सत्यता के बल पर ही नहीं बल्कि व्यावहारिक अनुभव के बल पर भी हम कह सकते हैं कि शायद यह जड़वाद की पराकाष्ठा ही वह उपयुक्त स्थिति है जिसमें आध्यात्मिक भूख कुछ पैदा हो रही है। भारत में ही नहीं बल्कि विदेश में भी आध्यात्मिक रुचि लगभग एक प्रगति का रूप धारण करती जा रही है। इस रुचि तथा प्रगति का भविष्य निश्चय ही अत्यंत उज्ज्वल है, क्योंकि सत्ता तथा विकास की अपनी मर्यादा से ही मानव में एकदिन ज्ञान और प्रेम प्रतिष्ठित होंगे; यह अज्ञान, यह अंधता, यह स्वार्थ, यह कलह और विरोध अंतिम अवस्था नहीं हो सकते।

एक समय था जब कि विज्ञान धर्म और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विरोधी था। जड़सत्तामात्र उसके लिये सत्य पदार्थ थी। आज विज्ञान १९वीं सदी के कठोर निश्चेतन जड़ पदार्थ को नहीं मानता। एक रेत का दाना अथवा हवा में उड़नेवाला धूल का कण भी अनेक विद्युत्कणों का समूह है तथा कुछ वैज्ञानिकों के विचार में वह विद्युत्-शक्ति अंत में चेतन चित्-शक्ति है। इस प्रकार यह जड़प्रकृति वस्तुतः एक व्यापक चेतन शक्ति बन जाती है। धर्म और अध्यात्मविद्या का भी तो यही आधारभूत तथ्य है।

व्यवहार में विज्ञान अभी भी जड़वादी है, अर्थात् यह अहंकार से प्रेरित होता है और अहंकार और इंद्रियों की सेवा करना ही इसका लक्ष्य है। परंतु इसके बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आ चुका है। यह परिवर्तन अभी है आरंभिक ही, परंतु जैसे यह सुदृढ़ और परिपक्व होगा यह विज्ञान की व्यावहारिक मर्यादा भी बदल देगा।

आध्यात्मिकता का गंभीर दृष्टिकोण निश्चित रूप में उदय हो रहा है और यह उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता जायगा। इसमें सत्यता का बल तो है ही, मानव जड़वाद के लंबे अनुभव से इसकी सत्यता को अधिकाधिक महसूस भी करता जा रहा है। विज्ञान की प्रबल शक्ति भी इसकी सहायक हो रही है। अतः जिन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण का रस किंचित् मात्रा में भी अनुभव किया है वे उत्साहपूर्वक तथा विश्वास से उसे अन्यों तक पहुंचा सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यह वर्तमान समय की मांग है।

*

नए वर्ष के प्रथम अंक के संबंध में हमेशा की तरह हमें अपने ग्राहकों से यही निवेदन करना है कि वे कृपया अपना चंदा शीघ्र भेज दें। सुभीते के लिये मनीआर्डर फार्म साथ में रखा है। और यदि किसी कारण कोई आगे को ग्राहक न रहना चाहें तो वे कृपया एक कार्ड डाल दें, जिससे उनके पास अनावश्यक रूप में फरवरी अंक वी. पी. पी. से न भेजा जाय, जैसा कि चंदा न आने की दशा में सामान्यतया किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीअरविंद-साहित्य

The Ideal of Human Unity. By Sri Aurobindo. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. Pp. 400, Price Rs. 7/-

"मानव एकता का आदर्श" नामक श्रीअरविन्द की यह कृति भी पहले "आर्य" में धारावाही लेखों के रूप में निकली थी। १९१९ में यह फिर पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई तथा गत अप्रैल में अब यह दूसरी बार संशोधित तथा परिवर्द्धित रूप में प्रकट हुई है। यह प्रथम महायुद्ध के समय, १९१५ से १९१८ में, लिखी गई थी। उसके बाद की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख आवश्यक स्थलों पर पाद-टिप्पणी के रूप में कर दिया गया है तथा अंत में एक नया विस्तृत अध्याय बढ़ा दिया गया है, जिसमें संयुक्त राष्ट्र-संघ तथा वर्तमान जागतिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

श्रीअरविन्द की यह पुस्तक उनके "मानवीय चक्र" (The Human Cycle) की सहगामिनी कही जा सकती है। दोनों का विषय मानव का जातीय विकास है। परंतु जहां "मानवीय चक्र" प्रधानतया सामाजिक विकास के नियमों तथा अवस्थाओं का विवेचन है वहां "मानव एकता का आदर्श" शुद्ध ऐतिहासिक और राजनैतिक अध्ययन है। यह पुस्तक राष्ट्रों और जातियों के ऐतिहासिक उत्थान और पतन के दृष्टांतों, तथा उनकी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों आदि के बल पर मानव एकता के विकास को दर्शाती है। इसको पढ़ते हुए जगत् भर के तथा इतिहास-मात्र के देश, जातियां, राष्ट्र तथा साम्राज्य सामने नाचने लगते हैं और पाठक ऐसा अनुभव करता है मानों वह उन्हें उनके वास्तविक रूप में देख रहा है तथा जातियों के विकास और पतन की अनेक गुत्थियां खुलती जा रही हैं। संसार-चक्र के ऐतिहासिक उतार-चढ़ावों को समझने के लिये तथा इन उतार-चढ़ावों में वास्तविक विकास की गति को देख सकने के लिये यह पुस्तक अपूर्व रूप में सहायक हो सकती है।

इस और अगले अंक में, दो बार में, हम इसके कुछ एक प्रधान विचार देने की आशा करते हैं।

मानव प्रगति के इतिहास को गंभीरता से देखने से पता लगेगा कि मानव इतिहास के पीछे काम करनेवाली गुप्त इच्छा-शक्ति अथवा प्रकृति मानव समाज में उत्तरोत्तर बड़े समुदाय चरितार्थ करने के लिये यत्नशील है। प्रारंभिक काल में सामाजिक संगठन अथवा राज्य छोटे होते थे। फिर बड़े बड़े राज्य आये, तथा साम्राज्य आये और आज स्थिति यह है कि जगत्मात्र का एक राज्य हमें अनिवार्य-सा दिखाई देता है। जगत्-राज्य शायद शीघ्र ही चरितार्थ नहीं हो जायगा, लेकिन उसकी आवश्यकता आज खूब अनुभव की जा रही है और सारी जागतिक स्थिति का तनाव और दबाव इसी चरितार्थता की सिद्धि के लिये पड़ता दिखाई देता है। श्रीअरविंद का कहना है कि "मानवजाति की एकता प्रत्यक्ष ही प्रकृति की अंतिम व्यवस्था है और यह जरूर ही चरितार्थ होगी।"[1]

परंतु यह एकत्वपूर्ण व्यवस्था कैसी होगी अथवा होनी चाहिये? उसमें विभिन्न राष्ट्रों, बड़ों तथा छोटों, का क्या स्थान होगा तथा मानव व्यक्ति की स्थिति क्या होगी? कुछ लोग कहते हैं कि जगत् में कोई एक राज्य भी शक्ति में सर्वोपरि हो जाय, आज की अवस्था में, मानों अमरीका या रूस, तो जगत्-राज्य स्वतः स्थापित हो जाय। श्रीअरविंद का कहना है कि इस प्रकार बल-प्रयोग द्वारा स्थापित जगत्-राज्य चिरस्थायी नहीं हो सकता। जगत्-राज्य वही चिरस्थायी हो सकेगा जिसमें राष्ट्र स्वेच्छा से सम्मिलित होंगे अर्थात् जगत्-राज्य स्वतंत्र राष्ट्रों का एक ऐच्छिक संगठन होगा। फिर उसमें व्यक्ति के लिये पर्याप्त स्वतंत्रता होनी अनिवार्य है। शासन-तंत्रों

[1] The Ideal of Human Unity, पृ. ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मौलिक चिंतन और रचना का सामर्थ्य नहीं होता। यह सामर्थ्य व्यक्तियों में होता है। इसलिये यदि शासन में बल और अधिकार अत्यधिक मात्रा में एकत्र हो जायं तो व्यक्ति मौलिक रचना में अत्यंत सीमित हो जायगा। यह अवस्था मानव विकास के लिये अहितकर होगी। श्रीअरविंद के बलपूर्ण शब्द हैं: "पूर्ण समाज वह होगा जो व्यक्ति की पूर्णता के लिये अधिकतम मात्रा में अनुकूल परिस्थिति प्रदान करेगा। व्यक्ति भी अपनी पूर्णता में अधूरा रहेगा यदि वह अपने सामाजिक समुदाय को तथा अंततः बृहत्तम संभव मानव समुदाय अर्थात् संपूर्ण एकीभूत मानव-जाति की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिये सहायता नहीं करता।"[2]

मानवजाति के विकास में अब 'राष्ट्र' एक चरितार्थ मनोवैज्ञानिक तथ्य बन चुका है। आज जातियों के लिये अपना राष्ट्रीय भाव प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल हो चुका है। इसे प्राप्त करने के लिये, निश्चय ही, जातियों को एक विकास-क्रम में से गुजरना पड़ा है। भारतवर्ष के ही इतिहास में चक्रवर्ती 'राजा' तथा 'अश्वमेध और राजसूय यज्ञ' राष्ट्रीय आदर्श के पुरातन प्रतीक हैं। परंतु भेदात्मक प्रवृत्तियां बार बार देश को खंडित कर देती रही हैं। लेकिन विदेशी शासन ने सदा ही इसके राष्ट्रभाव को उत्तेजित तथा परिवर्द्धित किया है और अब अंग्रेजी राज्य ने, जो कि अत्यधिक विदेशी था, देश को विशेष रूप में संगठित कर दिया है।

अब आगे का हमारा मार्ग राष्ट्रों को बृहत्तर समुदायों में संगठित करने का है। यह लक्ष्य कैसे सिद्ध होगा? साम्राज्य, अवश्य ही, राष्ट्रों से अधिक बड़ी इकाइयां थे और यह प्राचीन काल में भी हुए हैं। पश्चिम का रोमन राज्य इसका एक विशेष सफल नमूना है। उसने कई जातियों को इकट्ठा कर दिया था और उन्हें सुरक्षा तथा विधि-विधान प्रदान किये थे। रोमन-शासन बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण था। इसने विभिन्न जातियों के व्यक्तित्व को कठोर बल-प्रयोग द्वारा नहीं तोड़ा था बल्कि नीतिपूर्ण समझौते की शैली से उन्हें एक नई संस्कृति में ढालने की कोशिश की थी। परंतु जातियों के अपने अपने व्यक्तित्व को इसने नष्ट जरूर किया था और उनपर एक यूनानी सभ्यता थोपी थी। इसका फल यह हुआ था कि उन जातियों की मौलिकता नष्ट हो गई थी और उनसे इसे प्रतिभावान् व्यक्ति मिलने बंद हो गये थे। श्रीअरविंद के अपने शब्दों में, रोमन लोगों का "साम्राज्य केवल केंद्र में ही जीवित था और जब वहां थकावट तथा अवसन्नता के लक्षण पैदा हो गये तब सारे साम्राज्य में कहीं सक्रिय और प्रचुर जीवन न था जो उसकी कमी को पूरा कर सकता।"[3]

इस प्रकार के साम्राज्य को हम 'समजातीय' (homogeneous empire) कह सकते हैं। परंतु ऐसे साम्राज्यों के दिन अब लद चुके हैं। मानव विकास के लिये विषमजातीय साम्राज्य (heterogeneous empire) अथवा अतिराष्ट्रीय (supranational) शासन ही अगला कदम हो सकता है। परंतु ऐसे संगठन की पहली आवश्यकता यह होगी कि साम्राज्य और शासन की विभिन्न जातियों को अपने व्यक्तिगत जीवन में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि विषयों में पूरी स्वतंत्रता हो तथा केंद्रीय शासन में उचित हिस्सा प्राप्त हो। वह शासन उन जातियों का एक कुल समूह हो। तभी वह अपेक्षाकृत स्थायी होगा और उससे व्यक्तियों तथा समष्टियों के विकास में उचित सहायता मिलेगी। श्रीअरविंद का कहना है कि ब्रिटिश साम्राज्य का जो अब राष्ट्रमंडल बना है वह इस दिशा में उत्तम विकास है तथा भावी मानव संगठन का सुन्दर दृष्टांत है। श्रीअरविंद भूखंडों का अलग-अलग संगठन भी अहितकर मानते हैं। यूरोप यदि एक संगठन हो जाय—आज यूरोप के संयुक्त राज्य की चर्चा चल भी रही है—और एशिया एक दूसरा, तो उनकी आपसी प्रतिस्पर्धा आदि अति भयंकर संघर्ष का सूत्रपात कर सकती है। वे कहते हैं कि "भूखंडों के आधार पर विभाजन अत्यंत गंभीर प्रतिक्रियात्मक हो सकते हैं।"[4] अतः कदम हो सकता है जिसके परिणाम मानव प्रगति के लिये अत्यंत हानिकारक हो सकते हैं।

---

[2]वही पुस्तक, पृ० ८। [3]वही, पृ० ५५। [4]वही, पृ० ९१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अति-राष्ट्रीय जीवन-विधान के लिये एशिया, अफ्रीका, अमरीका तथा यूरोप का एक ही संगठन होना चाहिये।

संपूर्ण मानव इतिहास को गंभीरतापूर्वक विचारते हुए यह, अवश्य ही, कहा जा सकता है कि मानवजाति अपनी एकता को चरितार्थ करने में यत्नशील है तथा जगत् में एकीभूत राज्य निश्चित रूप में चरितार्थ होगा। परंतु, प्रत्यक्ष ही, यह आसानी से अधिगत नहीं होगा। आज इसके लिये राष्ट्रीय अहंता (national ego) सबसे बड़ी बाधा बन रही है। आज राष्ट्र, विशेषकर जो बलशाली हैं, अपने प्रभुत्व को विश्वव्यापी बनाना चाहते हैं, संपूर्ण मानवजाति का समविकास नहीं चाहते। यदि हम इस राष्ट्रीय अहंता की कठोर वास्तविकता को अनुभव कर सकें तो हम देख पायंगे कि युद्ध के साधनों पर प्रतिबंध लगाने से युद्ध भी नहीं रोके जा सकते। संघर्ष छिड़ने पर राष्ट्र शीघ्र ही सेनाएं और अस्त्र-शस्त्र जुटा लेते हैं। जब तक एक स्थिर अंतर्राष्ट्रीय शासन जगत् में स्थापित नहीं हो जाता, कम से कम तब तक युद्ध की संभावना बराबर बनी रहेगी और उसके बाद भी जातियों की अहंकारात्मक चेष्टाएं बराबर बनी रहेंगी परंतु वे फिर अपराध का रूप धारण कर लेंगी जिन्हें न्याय के माध्यम द्वारा निपटाया जा सकेगा।

अंतर्राष्ट्रीय शासन अथवा जागतिक राज्य की चरितार्थता का सबसे बड़ा प्रश्न है एकरूपता (uniformity) तथा स्वतंत्रता (liberty) का समन्वय। एक राज्य होगा तो निश्चय ही, मानवमात्र में विधि-विधान, नियम-व्यवहार आदि की सामान्य रूप में काफी एकरूपता होगी। यह एकरूपता किसी समुदाय की एकत्व-भावना के लिये एक अवस्था में आवश्यक भी होती है। परंतु वही अति कठोर अथवा चिरस्थायी हो जाने से व्यक्ति में नवरचना के लिये बाधक हो जाती है। व्यक्ति तथा उपसमुदायों की स्वतंत्रता की आवश्यकता में तथा केंद्र की एकरूपता की मांग में विरोध उपस्थित हो जाना स्वाभाविक है। किसी भी बड़े राष्ट्र तथा साम्राज्य के लिये यह प्रश्न उठा करता है। जगत्-राज्य की तो यह विशेष समस्या होगी और इसके उचित समाधान पर ही उसका स्थायित्व निर्भर करेगा।

—इन्द्रसेन

नई पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं

जाति-भेद—लेखक : श्री पं० गंगाप्रसाद एम. ए. (भूतपूर्व चीफ जस्टिस टेहरी गढ़वाल), नारायण स्वामी भवन, लखनऊ, मूल्य १॥)

श्री पं० गंगाप्रसाद ने अंग्रेजी में 'कास्ट सिस्टम' (Caste System) नाम की पुस्तक लिखी थी, जो पहले पहल १९०० में प्रकाशित हुई थी। उसका दूसरा संस्करण १९१० में निकला था। उसके बाद उसके अनुवाद गुजराती, मराठी, कन्नड़ तथा तेलुगू में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिन्दी अनुवाद है। परंतु यह १९४९ में निकली है और देश-विभाजन तथा नए संविधान की परिवर्तित राजनैतिक स्थिति को विचार में लेकर विषय को वर्तमान समय तक पूर्ण बना दिया गया है।

विचारवान् लेखक जातिभेद को हिन्दूजाति के ह्रास का मुख्य कारण मानते हैं और इसी लिये अनुरोध करते हैं कि यद्यपि अब अछूतों को संविधान द्वारा समान अधिकार दे दिये गये हैं फिर भी सामाजिक रूप में दोष को दूर करने के लिये जाति-भेद के संबंध में जन-शिक्षण जारी रखने की आवश्यकता है। आपने पुस्तक के शुरू में सुन्दर युक्तियों और दृष्टांतों द्वारा दिखलाया है कि आर्यजाति के पूर्व ओजस्वी काल में उपजातियां तो थीं ही नहीं और चार वर्ण भी जन्म से नहीं माने जाते थे। ये उपजातियुां और इनके अनेक खाने-पीने और विवाहसंबंधी प्रतिबंध सब पौरा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णिक काल अथवा हमारे इतिहास के मध्यकाल की सांस्कृतिक उपज हैं। परंतु एक बार प्रकट हो-कर ये बुरी कहे जाने पर भी दूर होने में नहीं आतीं। लेखकमहोदय स्वीकार करते हैं कि जाति-भेद ने मुसलमानों, ईसाइयों तथा सिक्खों पर भी अपना प्रभाव जमा रखा है।

ठीक यही तथ्य प्रश्न पैदा करेगा कि इस निन्दित सामाजिक प्रथा में क्या बल तथा प्रेरणा रही है कि यह किसी प्रकार दूर नहीं हो सकी। और हमारे विचार में इसके उत्तर से ही हमें इसके निराकरण के उपाय मिलेंगे। यह तो हमें अपना इतिहास ही बतलाता है कि यह प्रथा उस समय पैदा हुई जब कि जाति में रचना की प्रवृत्ति नष्ट हो चुकी थी तथा जब वह मुख्यतया अपनी रक्षा के लिये चिन्तित थी। हमारे लेखक इसे संपुष्ट करते हैं तथा इसे उत्तरोत्तर ह्रास का कारण बतलाते हैं। वास्तव में बहुतों का यही विचार है। परंतु कुछ का यह भी विचार है कि इस प्रथा ने पतन-काल में जाति का खूब संरक्षण किया है तथा ह्रास की गति को यथासंभव मंद रखा है।

जो भी हो, उपाय के रूप में, प्रत्यक्ष ही, जाति के अंदर रचना और साहस का उदय ही इस-का यथार्थ निराकरण कर सकता है और हम देखते हैं कि स्वाधीनता के बाद जाति में जिस भावना का उदय हुआ है वह विभाजन की अपेक्षा एकीकरण पर बल दे रही है। उसमें साहस है, आत्मविश्वास है और वह जीवन का भरपूर रस चाहती है। इसके साथ साथ देश-विदेश का संपर्क, औद्योगीकरण तथा व्यक्तिवाद की भावना जाति-उपजाति के रहे-सहे संकीर्ण संगठनों को सर्वथा नष्ट कर देंगे। ये वंश नामों के रूप में भले ही बने रहें, अधिक अस्तित्व इनका नहीं रहेगा। वास्तव में चार वर्ण भी उलट-फेर में आ जाने अनिवार्य हैं, जैसा कि हम देख भी रहे हैं।

इसके साथ साथ ही हिन्दू धर्म के सार्वभौम आध्यात्मिक और नैतिक अंश शायद अधिक स्पष्ट रूप में सामने आवें, जो यदि हो तो अच्छा ही होगा। धर्म के गौण बहिरंग के स्थान पर वास्त-विक अंतरंग प्रधानता पा जायंगे।

परंतु यह सब परिवर्तन आने में समय लगेगा और तब तक प्रस्तुत पुस्तक, अवश्य ही, पठनीय तथा विचारणीय सामग्री देगी। पुस्तक के मूल अंग्रेजी संस्करणों ने तथा अनेक अन्य अनुवादों ने भूरि सामाजिक सेवा की है और यह हिंदी अनुवाद अपने क्षेत्र में बहुत सेवा कर सकता है।

स्वामी श्रद्धानंद—लेखक : श्री पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति। प्रकाशक : राजपाल एन्ड सन्ज, नई सड़क देहली, मूल्य १)।

प्रस्तुत पुस्तक स्वामीजी का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत है और विशेषकर युवकों के लिये लिखा गया है। भाषा सरल है और निरूपण सरस। लेखकमहोदय का स्वामीजी से घनिष्ठ संपर्क रहा है और उन्होंने स्वामीजी के अनेक वृत्तांत निज स्मृति के रूप में वर्णित किये हैं। समग्र विषय का विकास बड़ा स्वाभाविक बन पड़ा है, एक बार पुस्तक शुरू करने के बाद पाठक उसे अंत तक ही पढ़ जाना चाहता है।

स्वामीजी आधुनिक भारत के एक अत्यंत ओजस्वी व्यक्तित्व हुए हैं। उनके अपने जीवन का चमत्कार और आकर्षण अपूर्व था। उनकी निर्भयता तथा सत्यनिष्ठा अलौकिक थी। वे प्रवाह के विपरीत चलने का साहस रखते थे और उसे अपने पीछे लगा लेने का बल भी। गुरुकुल खोलना ऐसा ही कार्य था, अनेक-समाज सुधार, जो उन्होंने किये, वे भी वैसे ही कार्य थे।

परंतु गुरुकुल संस्था की स्थापना आधुनिक भारत के इतिहास में एक विशेष महान् कर्म गिने जाने योग्य है। इससे जो सांस्कृतिक नवरचना हुई, इसने ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, वैयक्तिक जीवन-निर्माण के जो आदर्श मूर्त्तिमान् रूप में उपस्थित किये वे एक कठिन समय की आनंदमय स्मृति हैं।

लेखकमहोदय ने स्वामी श्रद्धानंदजी महाराज की यह संक्षिप्त जीवनी लिखकर युवकों तथा सर्वसाधारण के लिये सुन्दर प्रेरणा प्रदान की है। हमें विश्वास है कि पुस्तक खूब सफल सिद्ध होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगेश्वर कृष्ण—लेखक : स्वर्गीय चमूपति एम. ए.। प्रकाशक : प्रकाशन मंदिर, गुरुकुल कांगड़ी, पृष्ठसंख्या ३६४, मूल्य ४)।

श्रीकृष्ण भारतीय जीवन तथा संस्कृति के एक अत्यंत महान् व्यक्तित्व हैं और उनका प्रस्तुत अध्ययन जो कि उनके जीवन-वृत्तांत को महाभारत के आधार पर उपस्थित करता है सर्वथा अभिनंदनीय है। पुस्तक अनुसंधान की वस्तु है और प्रत्यक्ष ही लेखक ने इसे बड़े परिश्रम से तैयार किया है। महाभारत पूरा महासागर है, उसमेंसे श्रीकृष्णसंबंधी घटना-रूपी मोतियों को खोज निकालना और एक लड़ी में पिरो देना कुछ सरल काम नहीं है। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व अनेक प्रकार के मतों-विमतों के कारण वर्तमान समय में विशेष जटिल भी बना हुआ है। स्व० पं० चमूपति, अवश्य ही, कृष्णसंबंधी घटनाओं में बहुत हद तक एकवाक्यता लाने में सफल हुए हैं और प्रस्तुत वृत्तांत क्रमबद्ध है, बुद्धिसंगत है तथा अत्यंत रोचक है।

लेखक का दृष्टिकोण, वास्तव में, बुद्धिवाद तथा व्यावहारिकता का है। मानों वर्तमान युग की सामान्य सांस्कृतिक मांग ने उन्हें गुप्त रूप में प्रेरित किया और उन्होंने कृष्ण को विशेषतया उनके राजनीतिक-सामाजिक कार्य के रूप में ही अनुभव किया और इसे फिर अत्यंत उत्साह और प्रेम से वर्णित कर दिया।

हमारे लेखक के अनुसार कृष्ण के जीवन का उद्देश्य था कि "संपूर्ण भारत को एक ऐसे साम्राज्य-सूत्र में गूंथा जाय, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी आंतरिक राजनीति में स्वतंत्र हो। .....उनके साम्राज्य का लक्ष्य था तदन्तर्गत राष्ट्रों का उनकी अपनी आंतरिक परंपरागत प्रवृत्तियों तथा शक्तियों के अनुसार विकास करना, न कि एकरूपता के लोहे के सांचे में बंद करके उनकी नैसर्गिक शक्तियों को निगृहीत तथा स्तब्ध कर देना" (पृ० ३२४-२५)। इसी लिये कृष्ण युधिष्ठिर तथा पांडवों का धर्मराज्य स्थापित करवाना चाहते थे। प्रत्यक्ष ही महाभारत उनके जीवन की मुख्य घटना थी। इस उद्देश्य की पूर्ति तथा महाभारत के ठीक निर्वाह में ही कृष्ण-जीवन की सफलता निहित थी। हमारे लेखक युक्ति तथा प्रमाण से दर्शा देते हैं कि युद्ध के निर्वाह में तथा युद्ध से पहले के शांतिप्रयास में तथा लक्ष्यपूर्त्ति में वे असाधारण रीति से सफल हुए।

यह दृष्टिकोण सर्वथा सार्थक है और हम लेखक की विचारशैली से तथा परिणामों से सहमत हैं कृष्ण के प्रति कूटनीति का जो कई बार आक्षेप किया जाता है, उसके संबंध में भी हम आपका समाधान संतोषजनक मानते हैं। विशेष रूप से "अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा" के संबंध में आपका कहना है "कृष्ण को तो कार्य की चिंता थी, धर्म-भीरुओं के लचकीले, कोमल अंतरात्मा की नहीं" (पृ. २३९)। इससे अधिक उपयुक्त उत्तर आप कुछ पीछे देते हैं। आप कहते हैं कि "आपत्काल के कर्त्तव्य का निश्चय आप्त पुरुष दो-चार ही शब्दों के एक संक्षिप्त आदेश के रूप में कर देता है। उसके हेतुओं की व्याख्या नहीं करता। ऐसे विषयों में तर्क तथा हेतु अनर्थ के प्रचार के सिवा और कुछ काम नहीं देते। यह आदेश आगे के लिये उदाहरण का काम भी नहीं दे सकता। साधारण अवसरों पर साधारण नय से ही चलना चाहिये। असाधारण अवसरों के लिये असाधारण नय के निश्चायक असाधारण पुरुष ही हो सकते हैं" (पृ.२४७–२४८)।

भारतीय संस्कृति की आप्त पुरुष की भावना अत्यंत मौलिक है और सामाजिक जीवन के उचित पथप्रदर्शन के लिये सर्वथा अनिवार्य भी। उच्छृंखल मानव वृत्तियों को हम धर्म की मर्यादाओं से नियम में लाने का यत्न करते हैं, परंतु विकसनशील जीवन नित्य नई नई स्थितियां पैदा करता रहता है और पूर्वप्रस्थापित मर्यादाएं जीवन का पूर्ण पथप्रदर्शन करने के लिये कभी पर्याप्त नहीं हो सकतीं। जहां पहली मर्यादाओं को अतिक्रांत करना होता है अथवा नई प्रस्थापित करनी होती हैं अथवा कोई विशेष कर्म एक विशिष्ट अवस्था में एक बार ही करना होता है तब आप्त पुरुष ही निर्णय करने में सफल होता है। और ऐसा निर्णय केवल आप्त पुरुष का आदेश होने से ही यथार्थ माना जा सकता है और किसी मानदंड से नहीं। वास्तव में आप्त पुरुष स्वयं ही मानदंड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है और बाह्य मर्यादाएं उससे संपुष्ट होने पर ही व्यवहार के मानदंड बनती हैं।

परंतु आप्त पुरुष के लक्षण क्या हैं? बड़ा कठिन प्रश्न है। पर इतना तो स्पष्ट है कि आप्त पुरुष वही हो सकता है जो उस तत्त्व और तथ्य का ज्ञाता हो जिससे मर्यादाएं और धर्म अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं और यह है, वास्तव में, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान। प्रत्यक्ष ही आप्त पुरुष महान् आध्यात्मिक व्यक्ति होगा। आत्मवेत्ता ही व्यक्ति तथा जाति की आत्मा और मर्म को जानता हुआ, पूर्व मर्यादाओं से स्वतंत्र, साक्षात् रूप में हिताहित देखकर कर्माकर्म का निर्णय कर सकता है।

प्रत्यक्ष ही आप्त पुरुष के जीवन का यह केंद्रीय तथ्य है जिसके रूप-स्वरूप की कुछ भावना हुए बिना हम उसके बाह्य कर्मों को नहीं समझ सकते। हमारे लेखक ने श्रीकृष्ण के जीवन का यह पक्ष स्वीकार तो किया है परंतु उसका निरूपण तथा विवेचन नहीं किया है। उसे उन्होंने अपनी एक अन्य विचाराधीन पुस्तक के लिये छोड़ दिया है। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इस पक्ष का पूरा महत्त्व भी उन्हें स्पष्ट न था। उनका 'विश्व-दर्शन' शीर्षक अध्याय इसका प्रमाण है। इस संबंध में आप कहते हैं कि "कृष्ण ने पहले तो युक्ति से अर्जुन को समझाया कि यह अपने-पराये के विचार से कर्त्तव्य का पालन न करना अनुचित है। परंतु जब इसका यथार्थ फल न हुआ तब श्रीकृष्ण ने उसपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहा" (१८३)। उसपर 'मोहिनी' क्रिया की। आश्चर्यजनक और भयंकर रूप दिखलाकर उसकी बुद्धि स्तब्ध कर दी। प्रत्यक्ष ही हमारे बुद्धिवादी लेखक 'विश्वदर्शन' का आध्यात्मिक रूप और अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ रहे।

यदि स्वामी दयानंद की किसी जीवनी में उनके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्यों का तो खूब विवरण हो परंतु उनकी योग-जिज्ञासा, योग-साधना, १८-१८ घंटे की समाधि तथा प्रचार-कार्य में कठिनाई अनुभव करने से पुनः एकांत में चले जाना और योगाभ्यास करना, उनकी योग-शक्तियां, उनकी प्रभुभक्ति तथा आत्मानंद का भाव इत्यादि इत्यादि का उचित केंद्रीय मूल्यांकन न हो तो हम उस जीवनी को अपूर्ण मानेंगे।

वास्तव में उसी रूप में प्रस्तुत पुस्तक एकांगी है। इसमें श्रीकृष्ण की महान् कार्यकुशल राज-नीतिज्ञ के रूप में कल्पना की है और उस रूप में उन्हें अत्यंत सफलतापूर्वक वर्णित किया है। परंतु इसका एक पूरक पक्ष भी है। वह है उनके व्यक्तित्व का आध्यात्मिक रूप। और यदि यह अधिक महत्त्वपूर्ण भी है, जैसा कि आध्यात्मिक पक्ष होता ही है, तब वास्तव में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का रूप ही बदल जायगा। तब शायद यह कहना उचित होगा कि उनके जीवन का उद्देश्य उस समय मानव में एक नए सांस्कृतिक आदर्श की मर्यादा स्थापित करना था। अथवा एक नई चेतना जाग्रत् करना था और उनका बाह्य सामाजिक, राजनीतिक कार्य इसके लिये साधन मात्र था। परंतु यह एक दूसरा दृष्टिकोण है।

अपने व्यावहारिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से 'योगेश्वर कृष्ण' पूर्णतया सफल पुस्तक है। यह मौलिक अनुसंधान की उपज है और इससे श्रीकृष्ण के महान् राजनीतिक कार्य तथा उनकी राज-नीति को समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

—इन्द्रसेन

• (१) **शतचंडी विधान**—लेखक : श्री श्यामानंद, (२) **मातृ उपासना**—लेखक : श्री रामाचरण (३) **भुवनेश्वरी नित्यार्चन**—लेखक : श्री योगीन्द्र कृष्ण। मूल्य तीनों का ५।)

ये तीनों पुस्तकें श्रीकल्याण मंदिर, कटरा, प्रयाग से प्रकाशित हुई हैं। जो लोग प्राचीन ढंग के कर्मकांड, पूजा, अर्चना, यंत्र-तंत्र आदि में रुचि रखते हैं उनके लिये ये उपयोगी सिद्ध होंगी। इनमें मंडप-रचना, कुंड-रचना, अधिवासन-क्रिया, पूजाविधि, कुशण्डिका-विधान, पशुबलि, भाव-त्रय, पंचमकार, तत्त्वशुद्धि, बहिर्याग, विजयाग्रहण, नीराजन आदि विषयों के बारे में काफी जान-कारी मिल सकती है। साथ ही भुवनेश्वरी कवच, भुवनेश्वरी शतनाम और सहस्रनाम भी दिये गये हैं। सहस्रनाम तो सचमुच बहुत बढ़िया चीज है।

—रवींद्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवधर्म– (विशेषांक, मार्च १९५०), सं० : पं. दीनानाथ दिनेश, मानवधर्म कार्यालय, पीपल महादेव, देहली, ४)।

पं. दीनानाथ दिनेश अनेक वर्षों से रेडियों पर गीता की कथा किया करते हैं। आपकी ये कथाएं अत्यंत ही सरल, सरस तथा प्रभावोत्पादक होती हैं। आप गीता की शिक्षा को सुंदर दृष्टांतों, युक्तियों तथा प्रमाणों से जीवनोपयोगी दर्शा देते हैं। ये कथाएं खूब लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। उन्हीं के आधार पर आप "गीताज्ञान" नामक ग्रंथ की रचना कर रहे हैं, जिसके तीन खंड, गीता के १ले, २रे तथा ३रे अध्यायसंबंधी, पहले निकल चुके हैं। प्रस्तुत विशेषांक में ४था ५वां और छठा अध्याय दिया है। मूल श्लोक के साथ साथ अन्वय है, शब्दार्थ है, पद्यानुवाद है, फिर अर्थ है और अंत में अत्यंत रोचक व्याख्या है। भाषा सरल और साहित्यिक है। भावना श्रद्धा और भक्तिपूर्ण। गीतासंबंधी दृष्टिकोण सौम्य, स्वस्थ और समन्वयात्मक। कर्म, ज्ञान और भक्ति का "संगम ही जीवन का तीर्थराज है।" कर्म में अकर्म का दर्शन कैसे होता है? 'दिनेश'जी व्याख्या में बतलाते हैं: कर्म करते करते मनुष्य को ऐसा लगना चाहिये जैसे उसने कुछ किया ही नहीं। ....कर्तापन का अभिमान न आवे, कर्म का बोझ मन और बुद्धि को न झुकाये, उमंग और उत्साह के हाथ-पैर न टूटें, प्रसन्नता न कुम्हलाये, आत्मा सदा हंसता-खेलता रहे और सर्वत्र आनंदमय ब्रह्म के दर्शन हों.....।

अवश्य ही 'गीता-ज्ञान' की व्याख्या व्यावहारिक है और हम विश्वास से कह सकते हैं यह ग्रंथ पूरा हो जाने पर सर्वसाधारण के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। —इन्द्रसेन

The Indian P. E. N.

एक सम्मति

अदिति :– डा. इंद्रसेनजी के सुयोग्य संपादन में यह त्रैमासिक पत्रिका ८ वर्ष से नियमपूर्वक प्रकाशित हो रही है। श्रीअरविंद ने जीवन के दर्शन को जिस रूप में देखा, अनुभव किया और प्रतिपादित किया है उसकी व्याख्या यह प्रति त्रिमास प्रस्तुत करती है। इसके कुछ स्थायी स्तंभ ये हैं—श्रीअरविंद के योगविषयक पत्र, लेख एवं निरूपण और माताजी की रचनाएं। साथ ही, श्रीअरविंद और माताजी के व्यक्तित्वों पर निबंध और कविताएं भी प्रकाशित होती हैं एवं आत्म-उपलब्धि के परम विज्ञान एवं कला से संबद्ध अनेक विषयों तथा पद्धतियों पर विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित किये जाते हैं। इस प्रकार, अदिति जनता की आध्यात्मिक चेतना के उत्थान का शक्तिशाली साधन है। स्वतंत्र जाति के रूप में अपने चारित्र्य के नवनिर्माण की प्रारंभिक अवस्थाओं में इस साधन की आज हमें नितांत आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नए प्रकाशन १९५०

Savitri Part I (Books I, II & III completed)	Sri Aurobindo	.. 8-0
The Ideal of Human Unity	" "	.. 7-0
Lights on Life Problems	Kishor Gandhi	.. 2-8
Sri Aurobindo	K. R. Srinivasa Iyengar	.. 10-0
Sri Aurobindo Mandir Annual 1950		.. 5-0
Sri Aurobindo Circle Annual 1950		.. 7-0

हिंदी

सुंदर कहानियां ... श्री माताजी ... १॥)
भविष्य की ओर ... " ... ॥)
अर्चना वार्षिक १९५० ... ४॥)

गुजराती

माताजीनी शब्द सुधा
भाग २ ... श्री माताजी ... ॥)

बंगाली

जोगेर पथे आलो श्रीअरविंद ...१॥।)
भारतेर चिंताशक्ति ... श्रीअरविंद
महाभारती कथा ... दिलीप कुमार ... ३)
भावी काले ... श्री माताजी ... ॥)
स्वप्नी (काव्य) ... रवि गुप्ता ...२॥)

तेलुगू

पूर्णयोग ... नलिनीकांत गुप्ता १।)
मानसिक सूर्य-नेत्र-चिकित्सा. . डा. अग्रवाल. ॥)
अर्क (त्रैमासिक), वार्षिक चंदा ३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मयोगी

श्रीअरविन्द की एक अत्यंत सरल तथा लोकप्रिय पुस्तक "The Ideal of the Karmayogin" का हिन्दी अनुवाद है। राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तथ्यों का विशद निरूपण है। आज इसका पथप्रदर्शन हमारे लिये विशेष उपयोगी है। मूल्य २।।)

योगविचार

श्रीअरविन्द-योग पर एक अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसके कुछ एक लेख ये हैं–जीवन और योग, योग का उद्देश्य, मनोविज्ञान और योग, श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग, श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातंजल योग। पहला लेख श्रीअरविन्द का, योग-समन्वय में से, है। अन्य लेख आश्रम के अनुभवी साधकों के हैं। मूल्य २।।)

योगदीक्षा

श्री अनिलवरण राय का श्रीअरविन्द के साथ योगजिज्ञासा-विषयक पत्र-व्यवहार है। एक ओर से जिज्ञासा, शंका और प्रश्न हैं, दूसरी ओर से आश्वासन, समाधान और उत्तर। सारा वातावरण अपूर्व है। मूल्य १)

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८, ४९ की पूरी चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ५), सजिल्द ६।।)। सन् ४७ के केवल अगस्त और नवम्बर अंक। दाम प्रति अंक १।।)

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

सुन्दर कहानियां	.	प्रकाश की ओर	।।)
कर्मयोगी	२।।)	वेद-रहस्य (सजिल्द), खंड १, २	९), ४)
योगदीक्षा	१)	वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,,	८), ३)
चार साधन	।।)	उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
योगविचार	२।।)	इस जगत् की पहेली	१।)
विचार और झांकियां	।।।)	जगन्नाथ का रथ	।।।)
दयानन्द	।।।)	श्रीअरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम)	।।)
नये वर्ष की प्रार्थनाएं	।)	धर्म और जातीयता	१।।)
दुर्गास्तोत्र	।)	गीता की भूमिका	१।।।)
अदिति माता	१)	मातृवाणी	२।)
गीताप्रबन्ध	६।।)	सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
माता	।।।)	वार्षिक प्रार्थनाएं	=)
योगप्रदीप	१)	श्रीअरविन्द और उनका योग	।।=)
योग के आधार	२।)	पूर्णयोग	१।।)

फोन: कार्यालय ८२८३

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली

(स्थान—एस. एन. संडर्सन एण्ड को.)

फोन: घर २५१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19 SEP 1964
१५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri